

शाव
सूत

डॉ. यदुवंशी

बिहार-राष्ट्र मासा-परिषद्
पटना



COLLECTION OF VARIOUS

- > HINDUISM SCRIPTURES
- > HINDU COMICS
- > AYURVEDA
- > MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with



By

Avinash/Shashi

I creator of
hinduism
server!



COLLECTION OF VARIOUS

- > HINDUISM SCRIPTURES
- > HINDU COMICS
- > AYURVEDA
- > MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with



By

Avinash/Shashi

I creator of
hinduism
server!

शैव मत

डाक्टर यदुवंशी



विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना

शैव मत

डॉ० यदुवंशी

केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय, दिल्ली

बिहार विद्या एवं संस्कृत
प्रोस्ट वाम्प नं. ६६, वाराणसी।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना

प्रकाशक
विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
सम्मेलन-भवन
पटना-३

प्रथम संस्करण, वि० सं० २०१२, सन् १९५५ ई०

सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य ७) : सजिल्ड ८)

मुद्रक
तपन प्रेस, महुआटोली
पटना-४

वक्तव्य

बिहार-राज्य के शिक्षा-विभाग के तत्त्वावधान में बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् को काम करते पाँच वर्ष बीत गये। इस अवधि में परिषद् की ओर से अँगरेजी-थीसिसों के तीन हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। पहला ग्रन्थ है—डाक्टर धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री का 'सन्त कवि दरिया : एक अनुशीलन' और दूसरा है—डाक्टर देवसहाय त्रिवेद का 'प्राङ्मौर्य बिहार'। ये दोनों ही पटना-विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत थीसिस थे। यह तीसरा ग्रन्थ (शैव मत) लन्दन-विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत थीसिस का अनुवाद है। इसके अनुवादक हैं—डाक्टर यदुवंशी, जो पहले आँल-इण्डिया-रेडियो की पटना-शाखा के डाइरेक्टर थे और अब केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रणालय में हैं।

उक्त तीनों थीसिसों के लेखक ही उनके अनुवादक भी हैं। अतः उनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है। इस ग्रन्थ के अनुवादक ने अपना मूल निबन्ध जिन प्रमाणों के आधार पर लिखा है, उनका संकलन उन्होंने ग्रन्थ के 'परिशिष्ट'-भाग में कर दिया है। आशा है कि आवश्यकता होने पर उद्धरणों से मिलाकर अनुवाद का अंश पढ़ने में अनुसन्धायक सज्जनों को सुविधा होगी। इसी सुविधा के लिए अनुवादक ने प्रत्येक परिशिष्ट के साथ उस अध्याय का भी उल्लेख कर दिया है, जिसमें उद्धृतांशों की सहायता आवश्यक है।

शैव मत भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है। उसकी ऐतिहासिक खोज करने में ग्रन्थकार ने प्राच्य और पाश्चात्य प्रमाणों का विश्लेषण एवं तुलनात्मक अध्ययन वडे परिश्रम से किया है। हिन्दी में अन्य मतों के इतिहास की भी खोज वैज्ञानिक ढंग से की जानी चाहिए। उसके लिए इस ग्रंथ से प्रेरणा मिलने की पूरी संभावना है।

शिव सार्वजनिक देवता माने जाते हैं; क्योंकि वे सदैव सर्वजनसुलभ हैं। जन-साधारण के लिए उनकी उपासना और पूजा भी सुगम है। जनता के देवता पर लिखते समय ग्रन्थकार ने यथासंभव जनता के दृष्टिकोण का ध्यान रखने की चेष्टा की है; पर ऐतिहासिक शोध से जो तथ्य निकला है, उसे भी निस्संकोच प्रकट कर दिया है। अतः मतभेद के स्थलों में विवेकी पाठकों को सहृदयता से काम लेना चाहिए।

विजयादशमी, संवत् २०१२]

शिवपूजन सहाय
परिषद् मंत्री

भूमिका

शैव मत हिन्दूधर्म का एक प्रमुख अंग है और यह अचरज की बात है कि अभी तक शैव मत का पूरा इतिहास नहीं लिखा गया। परन्तु थोड़ा-सा विचार करने पर पता चलता है कि शैव मत के इस इतिहास-सम्बन्धी अभाव के सम्भवतः दो कारण हो सकते हैं। पहला तो यह कि शैव मत का स्वरूप ऐसा पेचीदा है, इसमें इतनी विभिन्न प्रकार की धार्मिक मान्यताएँ और रीति-रिवाज सम्मिलित हैं कि जिन्होंने भी उनका अध्ययन किया, वे हतबुद्धि-से होकर रह गये। शैव मत के अन्तर्गत यदि एक ओर शैव सिद्धान्त की गूढ़ विचारशैली है तो दूसरी ओर कापालिकों के गर्हित कर्म भी हैं—इनके बीच क्या परस्पर सम्बन्ध हो सकता है, इसे बताना बहुत कठिन हो जाता है। दूसरा कारण यह है कि पर्याप्त सामग्री न मिलने के कारण विद्वानों के लिए यह सम्भव न हो सका कि शैव मत की उत्पत्ति और उसके इतिहास का एक ऐसा विवरण दे सकें, जिससे उसके विभिन्न रूपों का सन्तोषजनक समाधान हो जाय।

इन कठिनाइयों के बावजूद कई विद्वानों ने हिन्दू-धर्म पर अपने ग्रन्थ लिखते समय शैव मत की उत्पत्ति और विकास का ऐतिहासिक विवरण देने का प्रयत्न किया है। कुछ अन्य विद्वानों ने शैव धर्म के विशेष रूपों का स्वतन्त्र अध्ययन भी किया है। इसमें यद्यपि उन्हें पूर्ण सफलता नहीं मिली है, किर भी इन प्रयासों से एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि शैव मत का कोई विवरण तबतक संतोषजनक नहीं माना जा सकता, जबतक वह शैव मत के जो विभिन्न रूप आज दिखाई देते हैं, उन सबका ठीक-ठीक समाधान और उन सबकी ऐतिहासिक विवेचना इस प्रकार न करे, जिससे शैव मत में उनका उचित स्थान और परस्पर सम्बन्ध पूरी तरह समझ में आ जाय।

इस दिशा में अबतक जो प्रयत्न किये गये हैं, उनका सबसे बड़ा दोष यह है कि वे शैव मत के तमाम विभिन्न स्वरूपों की उत्पत्ति का ही स्रोत वैदिक धर्म में खोजते हैं। पर्याप्त सामग्री न होने के कारण ऐसा होना अवश्यंभावी था। उदाहरण के लिए, 'रिलिंजें आफ इंडिया' नामक अपनी पुस्तक में फ्रांसीसी विद्वान् 'वार्थ' ने भगवान् शिव के विभिन्न स्वरूपों का समाधान करने का इस प्रकार प्रयत्न किया है कि शिव एक वैदिककालीन देवता थे, जिनकी उपासना अधिकतर जनसाधारण में होती थी, और जिनका भारत के उस विचुट्ठ जीवन से घनिष्ठ संम्बन्ध था, जो अति प्राचीन काल से इस देश की एक विशेषता रहा है। 'नैचुरल रिलिंजें आफ इंडिया' नाम की अपनी पुस्तक में अंग्रेज विद्वान् 'लायल' ने भगवान् शिव के दो मुख्य स्वरूपों—एक सौम्य और शुभ, दूसरा भयावह और विध्वंसक—का समाधान इस प्रकार किया है कि प्रारम्भ में भगवान् शिव प्रकृति के सर्जनात्मक और संहारात्मक (द्विविध) रूप के प्रतीक थे। वे लिखते हैं—“भगवान् शिव में हम दो आदि-शक्तियों का मेल पाते हैं, एक जीवनदायिनी और दूसरी जीवनहारिणी। इस प्रकार, दार्शनिक दृष्टिकोण से,

इस महान् देवता की कल्पना में उस विचार का सर्वांगीण मूर्तिमान् रूप दृष्टिगोचर होता है जिसको मैं प्राकृतिक धर्म का मूल मानता हूँ” ।

श्री सी० बी० एन० अय्यर ने ‘ओरिजिन एंड अलॉंग हिस्ट्री आफ शैविज्ञ इन साउथ इंडिया’ नाम की पुस्तक में, जो शैव मत पर लिखे गये इनें-गिने स्वतंत्र ग्रन्थों में से एक है, इसी प्रकार का; परन्तु अधिक विस्तृत प्रयास किया है, और पौराणिक शैव मत के विभिन्न रूपों का विकास वैदिक रुद्र की उपासना से ही माना है। इस सम्बन्ध में उन्होंने शिव के लिंग-रूप का समाधान इस प्रकार किया है कि यह इस महान् देवता का प्रतीक है, जिसके अनन्त स्वरूप को कोई रूप या आकार देकर सीमित नहीं किया जा सकता। यह एक मनोरंजक, किन्तु अमान्य तर्क है। कुछ दूसरे विद्वानों ने भी ऐसे ही प्रयत्न किये हैं। परन्तु पौराणिक शैव मत के कुछ रूपों के अवैदिक होने का आभास भी कुछ विद्वानों को हुआ है, यद्यपि सामग्री उपलब्ध न होने के कारण वे उन रूपों की उत्पत्ति का ठीक-ठीक पता न लगा सके हैं।

‘अन्ध्रोपोलोजिकल रिलिजन’ नामक अपने ग्रन्थ में विद्वान् ‘मैक्समुलर’ लिखते हैं— “दुर्गा और शिव की कल्पना में एक अवैदिक भावना स्पष्ट रूप से पाई जाती है जिससे मेरी यह धारणा होती जा रही है कि इसके लिए कोई अन्य स्रोत छूँँडा जाय।”^१ अतः मेरा विश्वास है कि दुर्गा और शिव न तो वैदिक देवता हैं और न उनका विकास किसी वैदिक देवता की कल्पना से हुआ है।”

मैक्समुलर के बाद श्री आर० जी० भंडारक ने भी शैव मत के उत्थान का विवरण देते हुए, यह माना है कि पौराणिक काल में भगवान् शिव का जो स्वरूप है, उसमें आयंतर अंश सम्मिलित हैं। उन्होंने यह विचार भी प्रकट किया है कि बहुत संभव है, किसी मूल निवासी अन्य जाति के किसी देवता का शिव के साथ समावेश हो गया हो।

अंग्रेज विद्वान् ‘कीथ’ ने भी अपने ‘रिलिजन एंड माइथौलौजी आफ दि वेद’ नाम के ग्रन्थ में, और श्री कुमारखामी ने अपने ‘डांस आफ शिव’ नामक ग्रन्थ में, इसी प्रकार के समावेश की ओर संकेत किया है^२। और, इसमें कोई संदेह भी नहीं है कि शैव मत जिस रूप में आज हमारे सामने है, उसमें अनेकानेक ऐसे अंश समाविष्ट हैं, जिनकी उत्पत्ति विविध स्रोतों से हुई है। स्वयं भगवान् शिव की जिन विभिन्न रूपों में उपासना की जाती है, उनका एक ऐसी देवी के साथ संगम हुआ है, जिसके रूपों की विभिन्नता और भी अधिक है तथा जिसकी समस्त कल्पना अवैदिक और आयंतर है। और, इससे भी बढ़कर यह कि शैव मत में जो लिंग-पूजा का समावेश हुआ है, उसका कोई चिह्न या संकेत शिव के आदिरूप माने जानेवाले वैदिक रुद्र की उपासना में नहीं मिलता।

इन सबसे यह बात निश्चयात्मक ढंग से सिद्ध हो जाती है कि आधुनिक शैव मत केवल वैदिक रुद्र की उपासना का विकास मात्र नहीं है, अपितु उसमें

१. आर० जी० भंडारकर : वैष्णविज्ञ, शैविज्ञ एंड अदर माइनर रिलिजन आफ इंडिया।

२. कुमारखामी : डांस आफ इंडिया।

ऐसे अनेक मर्तों का संश्लेषण हुआ है, जो प्रारम्भ में स्वतंत्र मत थे, और जिनका प्रचार विविध जातियों में था। उन जातियों के और उनकी संस्कृति के सम्बन्ध में हमें ठीक-ठीक ज्ञान न होने के कारण ही अभी तक शैव मत के विभिन्न रूपों की उत्पत्ति और उनके विकास का संतोषजनक विवरण देना संभव नहीं हो सका है। परन्तु पिछले कुछ वर्षों में पुरातात्त्विक और अन्य खोजों से यह कठिनाई दूर हो गई है और अब हमें उन जातियों के और उनकी संस्कृति के सम्बन्ध में, जो हिन्दुस्तान में आयों के पहले वसती थीं, पहले से बहुत अच्छा ज्ञान है। और, प्राचीन जगत् में भारतीय तथा दूसरी सम्यताओं के बीच जो सम्बन्ध था, उसको भी हम पहले से अच्छी तरह जानते हैं। हो सकता है कि उन अन्य सम्यताओं का, भारत की अपर वैदिक सम्यता के विकास पर, काफी प्रभाव पड़ा हो। अतः अब यह सम्भव है कि शैव मत का नये सिरे से फिर निरीक्षण किया जाय और यह देखा जाय कि हमारे ज्ञान के इन नये स्रोतों की सहायता से, जो अब हमको उपलब्ध हैं, हम शैव मत और उसके विभिन्न रूपों की उत्पत्ति तथा उनके विकास का अधिक संतोषजनक विवरण दे सकते हैं या नहीं ?

इस श्रीसीस में यही प्रयत्न किया गया है। वैदिक रुद्र के अध्ययन से प्रारम्भ करके मैंने यह दर्शाने की चेष्टा की है कि अपर वैदिक शैवमत के कुछ प्रमुख अंगों की उत्पत्ति किस प्रकार वैदिक आयों से अन्य आर्यों तरंगे जातियों के सम्मिश्रण के कारण और इन जातियों की धार्मिक मान्यताओं का वैदिक रुद्र की उपासना में समावेश हो जाने के कारण हुई। इस सम्मिश्रण के बाद जिस नये धर्म का प्रादुर्भाव हुआ, उसका विकास उपलब्ध सामग्री की सहायता से, दिखाया गया है। यहाँ तक कि वह धर्म पौराणिक शैव मत के रूप में अपने पूर्ण विकास को पहुँच गया। इसके उपरान्त पौराणिक शैव मत में जो प्रौढ़ता आई और उसमें जो नये परिवर्तन हुए, उनका भी अध्ययन किया गया है और तेरहवीं शताब्दी के अंत तक उनका इतिहास लिखा गया है। तेरहवीं शताब्दी में शैव मत ने वह रूप धारण कर लिया था, जिस रूप में हम आज उसे पाते हैं।

अंत में इस निरीक्षण के परिशिष्ट के रूप में भारत से बाहर, विशेषकर हिन्द-चीन और पूर्वी द्वीप-मण्डल में, जिस प्रकार शैव मत फैला और फला-फूला, उसका भी एक संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

—यदुवंशी

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

पृष्ठ

वैदिक संहिताओं और ब्राह्मणग्रन्थों में रुद्र का स्वरूप और उसका विकास। रुद्र के स्वरूप के दो पहलू—सौम्य और उग्र। रुद्र का उर्वरता से संबंध। ब्राह्मणकाल में रुद्र का नैतिक उत्कर्ष। रुद्र की उपासना के प्रति विद्वेष का सूत्रपात।

१-२४

द्वितीय अध्याय

सिन्धु-घाटी-सभ्यता के मुख्य लक्षण। सिन्धु घाटी-निवासियों और वैदिक आर्यों का संपर्क और परस्पर संघर्ष। आर्य-संस्कृति और सिन्धु-घाटी-सभ्यता का सम्मिश्रण। इस सम्मिश्रण का परिणाम। सिन्धु-घाटी के देवताओं का आर्यों के देवताओं द्वारा आत्मसात् कर लिया जाना।

२५-३८

तृतीय अध्याय

ब्राह्मण-कर्मकाण्ड का हास और उपनिषदों का प्रादुर्भाव। भारतीय धार्मिक विचारों, सिद्धान्तों और आचार में क्रान्ति। भक्तिवाद का प्रादुर्भाव। नये भक्तिवाद के प्रधान देवता शिव और विष्णु। वैदिक रुद्र का स्वरूप-परिवर्तन। शिव की कल्पना का दार्शनिक आधार। सूत्रग्रन्थों में शिव का स्वरूप। दुर्गा और गणेश की उपासना का प्रादुर्भाव।

३६-५४

चतुर्थ अध्याय

वेदान्तर-कालीन प्राचीन साहित्य में शिव का स्वरूप और उनकी उपासना। रामायण और महाभारत काल में शैव धर्म का प्रादुर्भाव और उसका स्वरूप। शिव के स्वरूप के विभिन्न पहलू और उनकी उत्पत्ति। शिव द्वारा आर्येतर देवताओं का आत्मसात् किया जाना। इसके फलस्वरूप शिव के प्रति पुरातन पंथी आर्यों के विद्वेष का विकास। शैव देव-कथाओं का प्रादुर्भाव।

५५-८७

पंचम अध्याय

ईसवी संवत् की प्रारम्भिक शताब्दियों में शैव धर्म का स्वरूप। पुराणग्रन्थों में शैव धर्म का पूर्ण विकास। उसके दार्शनिक और लोकप्रिय पक्ष। शैव धर्म का समस्त भारत में प्रचार। शैव देवालय और शैव प्रतिमाएँ। पौराणिक उपासना-विधि। शिव के विभिन्न रूप। शिव और पार्वती का परस्पर सम्बन्ध। देवी की स्वतन्त्र उपासना का शाक्त मत के रूप में विकास। शाक्त मत के प्रमुख लक्षण। गणेश की उपासना का विकास।

८८-१३८

षष्ठ अध्याय

पुराणोत्तर काल में शैव धर्म का स्वरूप। शैव सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव। उत्तर और दक्षिण भारत में शैवधर्म के विशिष्ट लक्षण। शैवधर्म का अन्य मतों के प्रति रवैया। दक्षिण के धार्मिक संघर्ष में शैवों का स्थान। पुरातात्त्विक अभिलेखों से हमारा शैवधर्मसम्बन्धी ज्ञान। शैव सम्प्रदायों का विकास और इतिहास। देवी तथा गणेश की उपासना का प्रचार और प्रसार।

१३६-१६४

सप्तम अध्याय

शैव धर्म का दार्शनिक पक्ष। शैव सिद्धान्त का विकास। आगम ग्रन्थ। उनके मुख्य सिद्धान्त। सांख्य और शैव सिद्धान्त। शंकर और शैव सिद्धान्त। कश्मीर में प्रत्यभिज्ञादर्शन का प्रादुर्भाव और उसके मुख्य लक्षण। १६५-१७३

अष्टम अध्याय

भारत से बाहर शैव धर्म का प्रचार और उसका इतिहास। हिन्द-चीन, जावा, सुमात्रा, बलि और मलय देशों में शैव मन्दिर, प्रतिमाएँ और शिलालेख। भारत से बाहर शैव धर्म के विशिष्ट लक्षण। अन्य धर्मों से शैव धर्म का सम्बन्ध।

१७४-१८४

परिशिष्ट : प्रथम अध्याय

ऋग्वेद में ऋद्र-सम्बन्धी सूक्त और मंत्र। अथर्ववेद में ऋद्र-सम्बन्धी सूक्त और मंत्र। यजुर्वेद में ऋद्र-सम्बन्धी सूक्त और मंत्र। ब्राह्मण ग्रंथों में ऋद्र-सम्बन्धी संदर्भ।

१८७-२११

परिशिष्ट : तृतीय अध्याय

उपनिषदों में ऋद्र-सम्बन्धी संदर्भ। सूत्रग्रंथों में ऋद्र-सम्बन्धी संदर्भ।

२१२-२२०

परिशिष्ट : चतुर्थ अध्याय

रामायण-महाभारत

२२१-२४३

परिशिष्ट : पंचम अध्याय

साहित्य-ग्रन्थ, पुराणग्रन्थ, तंत्र-ग्रन्थ।

२४४-३१४

परिशिष्ट : षष्ठ अध्याय

३१५-३१७

परिशिष्ट : अष्टम अध्याय

३१८-३२०

अनुक्रमणिका

३२१-३३२

सहायक ग्रन्थ-सूची

३३३-३३८

शैव मत

प्रथम अध्याय

शैव मत के इस दिग्दर्शन का प्रारम्भ हमें वैदिक-साहित्य से करना उचित प्रतीत होता है। भारत की उपलब्ध साहित्य-सामग्री में वेद प्राचीनतम हैं और इस देश के धार्मिक अथवा भौतिक इतिहास के सम्बन्ध में जो भी छान-बीन की जाती है, वह वेद से ही प्रारम्भ होती है। भारत में यह परम्परा भी दीर्घ काल से रही है कि वेद ही हमारी समस्त मान्यताओं और विचार-धाराओं के उद्गम हैं। इसके अतिरिक्त, यदि किसी प्राचीन देवता को हम पौराणिक शिव का आदि रूप मान सकते हैं, तो वह वैदिक देवता रुद्र ही हो सकता है। इसलिए यही समीचीन है कि हम इस खोज का सूत्रपात वेदों में ही करें और वैदिक रुद्र तथा उसकी उपासना के स्वरूप का अध्ययन करें।

ऋग्वेद में रुद्र मध्यम श्रेणी के देवता हैं। उनकी स्तुति में केवल तीन पूर्ण सूक्त कहे गये हैं^१। इसके अतिरिक्त एक अन्य सूक्त में पहले छः मन्त्र रुद्र की स्तुति में हैं और अन्तिम तीन सोम की स्तुति में^२। एक और सूक्त में रुद्र और सोम का साथ-साथ स्तवन किया गया है^३। वैसे अन्य देवताओं की स्तुति में जो सूक्त कहे गये हैं, उनमें भी प्रायः रुद्र का उल्लेख मिलता है। इन सूक्तों में रुद्र का जो स्वरूप हमें दिखाई देता है, उसके कितने पहलू हैं और वे किसके प्रतीक हैं, इस विषय को लेकर बहुत-से अनुमान लगाये गये हैं। उनके नाम का शाब्दिक अर्थ, मरुतों के साथ उनका संगमन, उनका बभ्रु वर्ण और सामान्यतः उनका क्रूर स्वरूप—इन सबको देखते हुए कुछ विद्वानों ने यह धारणा बनाई है कि रुद्र भंमावात के प्रतीक हैं। उदाहरण के लिए जर्मन विद्वान् 'विवर' ने रुद्र के नाम पर जोर देते हुए यह अनुमान लगाया कि रुद्र भंमावात के 'र्व' का प्रतीक है^४। 'डाक्टर मेकडौनल' ने रुद्र और अग्नि के साम्य को पहचानते हुए यह विचार प्रकट किया कि रुद्र विशुद्ध भंमावात का नहीं, अपितु विनाशकारी विद्युत् के रूप में भंमावात के विध्वंसक स्वरूप का प्रतीक है^५। 'श्री भंडारकर' ने भी रुद्र को प्रकृति की विनाशकारी शक्तियों का ही प्रतीक मात्र माना है^६। अँग्रेज विद्वान् 'भ्यूरह' की भी यही राय है^७। उधर रुद्र और अग्नि के साम्य के कारण कुछ अन्य विद्वानों ने रुद्र को अग्नि के ही किसी-

१. ऋग्वेद : १, ११४; २, ३३; ७, ४६।

२. ,, : १, ४३।

३. ,, : ६, ७४।

४. विवर : इण्डोश शूदीन, २, ११—२२।

५. मेकडौनल : वैदिक माइथोलौजी, पृ० ७८।

६. भंडारकर : वैष्णविज्ञ, शैविज्ञ।

७. भ्यूर : ४ ओरिजनल संस्कृत टेक्स्ट्स ४, पृ० १४७।

न-किसी रूप का प्रतीक माना है। ऋग्वेद के अपने अनुवाद की भूमिका में श्रीग्रेज विद्वान् 'विल्सन' ने रुद्र को अपनि अथवा इन्द्र का ही एक रूप माना है^१। प्रोफेसर 'कीथ' ने रुद्र को भंकावात के विनाशकारी ही रूप का प्रतीक माना है, उसके हितकारी रूप का नहीं^२। इसके अतिरिक्त रुद्र के घातक वाणी का स्मरण करते हुए कुछ विद्वानों ने उनको मृत्यु का देवता भी माना है और इसके समर्थन में उन्होंने ऋग्वेद का वह सूक्त प्रस्तुत किया है, जिसमें रुद्र का केशियों के साथ उल्लेख किया गया है।

इसी आधार पर विद्वान् 'आौडर' ने रुद्र को पवन के साथ उड़ती हुई मृत आत्माओं का सरदार माना है। जर्मन विद्वान् 'आर्बमन्न' ने भी इन सब वातों को देखते हुए और उत्तरकालीन वैदिक धर्म में रुद्र की उपासना से सम्बन्धित कुछ रीतियों पर विचार करते हुए रुद्र को एक प्राचीन मानवभक्ती असुर का, ब्राह्मणों-द्वारा परिष्कृत, रूप कहा है।

रुद्र के स्वरूप को समझने के इन सब प्रयासों में एक ही दोष है और वह यह कि वे रुद्र के समूर्य स्वरूप को संतोषजनक ढंग से समाधान नहीं करते। वैदिक रूप के स्वरूप की समस्या अभी तक सुलझी नहीं है; परन्तु इसको सुलझाये बिना पौराणिक शिव का स्वरूप हम नहीं समझ सकते। वास्तव में कठिनाई यह है कि रुद्र के स्वरूप में कई वातें ऐसी हैं जो देखने में परस्पर विरोधी हैं और इसके फलस्वरूप हुआ यह है कि रुद्र के स्वरूप के किसी एक अंग पर अधिक जोर दिया गया है और वाकियों की उपेक्षा की गई है। उदाहरण के लिए अगर रुद्र, भयावह हैं तो उसके साथ-साथ सौम्य भी हैं। कभी वे उग्र रूप धारण करते हैं और मनुष्यों और पशुओं का संहार करते हैं। परन्तु कभी वे कल्याणकारी हो जाते हैं और उनकी शक्ति जीवनदायिनी बन जाती है, जिससे लोग संतान और समृद्धि के लिए रुद्र से प्रार्थना करते हैं। उनका वर्ण प्रायः बन्धु बताया जाता है; परन्तु कभी-कभी वे श्वेत और सुनहले वर्ण के भी कहे गये हैं। इसके अतिरिक्त रुद्र को भिषजों में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है, जिसके पास ठण्डी और रोगनाशक ओपियर्याँ हैं। वे मरुतों के पिता भी हैं। कुछ मन्त्रों में उनका अपनि के साथ तादात्म्य प्रतीत होता है और एक मंत्र में उनको 'केशियक' के साथ आमोद-प्रमोद करते हुए बताया गया है। रुद्र के स्वरूप की कोई भी व्याख्या संतोषजनक नहीं ही सकती जबकि वह इन तमाम पहलुओं का समाधान न करे और यह भी स्मरण रखना चाहिए कि वैदिक देव-कथाओं में भंकावात के देवता 'पर्जन्य' और मृत्यु के देवता 'यम' की चर्चा पाई जाती है। अतः यह बहुत संभव है कि रुद्र का आदिस्वरूप इन दोनों देवताओं से भिन्न हो।

रुद्र के स्वरूप के सांगोपांग समुचित अध्ययन से, और ऋग्वेदीय सूक्तों में रुद्र की उन विशेष उपाधियों के विश्लेषण से, ऐसा जान पड़ता है कि वास्तव में रुद्र को जिस प्राकृतिक तत्त्व का प्रतीक माना जा सकता है, वह है घने बादलों में चमकती हुई विद्युत्

१. विल्सन : ऋग्वेद।

२. कीथ : रिलिजन एण्ड माइश्योलौजी ऑफ दि ऋग्वेद, पृ० १४७।

और उसके साथ-साथ होनेवाला घनधोर गर्जन और वर्षा । इसकी पुष्टि में जो प्रमाण हमको मिलते हैं, वे सचेप में इस प्रकार हैं—

रुद्र की गणना मध्यम लोक—अर्थात् आकाश के देवताओं में की गई है । अतः यथासंभव वे आकाश के ही किसी तत्त्व का प्रतीक रहे होंगे ।

रुद्र का वर्ण कभी बभु, कभी श्वेत और कभी सुनहला बताया जाता है । मेघों में चमकती हुई विद्युत् के यह सब वर्ण होते ही हैं, और विजली कौंधने के अनन्तर जो गर्जन होता है, वही रुद्र का रव है और इसी से इनका नाम रुद्र पड़ा भी है—[रु धातु, गर्जन अर्थ में ।]

रुद्र का विशेष अस्त्र उनका धनुष है, और इस धनुष से जो वाण वे छोड़ते हैं, वह मनुष्य और पशु दोनों का संहार करता है^१ । यह वाण ज्वलन्त प्रतीक है—उस कड़कती हुई विजली का, जिसके प्रहार से किसी के प्राण बच नहीं सकते । हिमालय की उपत्यकाओं में, जहाँ ऋग्वेदीय आर्य लोग बसते थे, यह विजली विशेष रूप से धातक और भयावह होती है । अतः इसी से रुद्र के क्रूर और अहितकारी रूप का समाधान हो जाता है और रुद्र की 'गोद्धन', 'नृद्धन' और 'क्षयद्वीर' उपाधियाँ सार्थक हो जाती हैं^२ ।

रुद्र की एक उपाधि 'कपर्दिन्' भी है,^३ जिसका अर्थ है 'जटाजूधारी' । आकाश में उमड़ कर आई हुई मटियाले रंग की मेघमाला वास्तव में जटाओं जैसी लगती है, और उनमें जब विजली चमकती है, तब रुद्र की यह 'कपर्दिन्' उपाधि भी सार्थक हो जाती है । यह उपाधि तृत्सुओं को भी दी गई है जो आयों का एक वंश था और उसके वंशज जटाधारी थे । इसी उपाधि से 'पूषन्' देवता को भी विभूषित किया गया है, जहाँ यह सूर्य के प्रभामंडल (halo) का प्रतीक है ।

रुद्र की एक और उपाधि है—'दिवो वराह',^४ अर्थात् आकाश का वराह । काले मेघों से निकलती हुई श्वेत विद्युत् की उपमा वड़ी सुगमता से श्वेत दंष्ट्रावाले काले वराह से दी जा सकती है ।

अन्त में रुद्र की एक अन्य उपाधि 'कल्पलीकिन्'^५ —(जलने या दहकने वाला) की सार्थकता भी विद्युत् अथवा अग्नि में ही पूरी होती है ।

अपने सौम्य रूप में रुद्र को 'महा मिष्क'

१. ऋग्वेद : २, ३३, १०; ७, ४६, १ इत्यादि ।
२. , : १, ११४, १०; २, ३३, ११; ४, ३, ६ ।
३. , : १, ११४, १ और ५ ।
४. , : १, ११४, ५ ।
५. , : २, ३३, ८ ।

इसी रूप में रुद्र का संबन्ध उर्वरता और पेड़-पौधों से भी है, और सन्तान के लिए उनसे प्रार्थना की जाती है^१। उत्तरी भारत में मानसून काल में बिजली कड़कने के बाद जो वर्षा होती है, उससे धान्य, ओषधियों और अन्य पेड़-पौधों की प्रचुर उपज होती है और इसी वर्षाकृतु में अधिकतर जन्तु वर्गों की भी संतान वृद्धि होती है। अतः रुद्र का उर्वरता से संबन्ध होना स्वाभाविक ही है। इस प्रसंग में रुद्र की 'वृषभ' उपाधि अर्थपूर्ण है^२। इस शब्द का अनुवाद साधारणतया 'वैल' या 'सौँढ़' किया जाता है, और निःसंदेह आजकल संस्कृत में इसका यही अर्थ है। परन्तु ऋग्वेद में जिन-जिन प्रसंगों में इस शब्द का प्रयोग किया गया है, उनको देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय इसका अधिक शाब्दिक अर्थ लिया जाता था। 'वृष्' धातु से बने इस शब्द के दो अर्थ होते थे। एक तो 'वर्षा करनेवाला' (इसी कारण सायण ने इसकी व्याख्या 'वर्षयिता' शब्द से की है) और दूसरा 'अत्यधिक प्रजनन-शक्ति रखनेवाला', अतः पुरुषत्पूर्ण या बलिष्ठ। इन दोनों ही अर्थों में यह शब्द रुद्र के लिए उपयुक्त है। पहले अर्थ में इसका संकेत उस वर्षा की ओर है जो रुद्र करते हैं और दूसरे अर्थ में उस उर्वरता की ओर है, जो रुद्र के द्वारा ही संभव होती है। इस दूसरे अर्थ में इस शब्द का प्रयोग वैल के लिए भी हुआ, जो अपने बल और प्रजनन-शक्ति के लिए विख्यात है और धीरे-धीरे यह शब्द उसका एक साधारण नाम ही बन गया।

एक सूक्त में रुद्र का सोम के साथ आह्वान किया गया है^३। वैसे तो इसका कोई विशेष अर्थ न होता; क्योंकि दो देवताओं का एक साथ आह्वान ऋग्वेद में कोई असाधारण बात नहीं है। सोम का इन्द्र, अग्नि और पूषा के साथ भी आह्वान किया गया है। परन्तु एक दूसरे सूक्त में कुछ मन्त्र रुद्र का स्तवन करते हैं और कुछ सोम का^४। कुछ अन्य स्थलों पर सोम का विद्युत् के साथ सम्बन्ध है और उत्तरकालीन वैदिक साहित्य में संतान-ग्रासि के लिए एक सौमारीद्र हवि का विधान भी है। इन सब बातों से ऐसा जान पड़ता है कि रुद्र और सोम के बीच अधिक गहरा संबंध है, और यदि हम रुद्र के स्वरूप का, उपरिलिखित समाधान मान लें तो इस सम्बन्ध को समझने में हमें और भी सुविधा होती है। जैसे—रुद्र स्वास्थ्य और बल प्रदान करते हैं, उसी प्रकार सोम-रस भी एक स्फूर्तिदायक ओषधि है और सोम और रुद्र दोनों से ही यह प्रार्थना की जाती है कि वे अपने भक्तों को बल और भिषज दें^५। इसके अतिरिक्त सोमलता की प्रचुर वृद्धि भी रुद्र के कारण ही होती है, और फिर रुद्र के वर्ण के समान ही सोम-रस का वर्ण भी वम् अथवा सुनहला होता है। काष्ठ-भांडों में सोमरस के गिरने के शब्द की 'बरसती वर्षा' से उपमा दी गई है, और चूँकि पार्थिव वर्षा कवि की कल्पना को, सहज में ही आकाश में गरजते हुए बादलों तक पहुँचा

१. ऋग्वेद : १, १४३, ६; २, ३३ और ७।

२. „ : २, ३३, ६ क द।

३. „ : ६, ७४।

४. „ : १, ४३।

५. „ : ६, ७५, १ और ३।

देती है, अतः यह उपमा भी शीत्र ही अतिशयोक्ति में बदल जाती है और रुद्र के समान ही सोम के भी गर्जन और रवण का उल्लेख होता है^१। सोम के इस गर्जन और रवण के कारण ही सम्भवतः उसको एक स्थान पर वृषभ की उपाधि भी दे दी गई है^२।

रुद्र के स्वरूप की जो व्याख्या ऊपर की गई है, उसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि ऋग्वेदीय सूक्तों में रुद्र का अग्नि से गहरा सम्बन्ध है। अग्नि को अनेक बार रुद्र कहा गया है^३। यह ठीक है कि अग्नि को रुद्र मात्र कहने का ही कोई विशेष अर्थ नहीं है; क्योंकि ये सब केवल उपाधि के रूप में भी किया जा सकता है जिसका अर्थ है—कूर अथवा गर्जन करनेवाला, और इसी अर्थ में इस उपाधि का इन्द्र और अन्य देवताओं के लिए भी प्रयोग किया गया है। परन्तु एक स्थल पर रुद्र को 'मेघापति' की उपाधि दी गई है^४। इससे रुद्र और अग्नि का तादात्म्य मिलकता है। यदि हम रुद्र को विद्युत् का प्रतीक मानें, जो वास्तव में अग्नि ही है, तो इस तादात्म्य को आसानी से समझा जा सकता है। उत्तरकालीन वैदिक-साहित्य में इस तादात्म्य को स्पष्ट रूप से माना गया है और फलस्वरूप 'सायणाचार्य' ने निरन्तर दोनों को एक ही माना है। रुद्र और अग्नि के इस तादात्म्य को ध्यान में रखते हुए हम शायद रुद्र की 'द्विवर्हा' जैसी उपाधियों का भी समाधान अधिक अच्छी तरह कर सकते हैं। इस शब्द का अनुवाद साधारणतया 'दुगुने बल का' अथवा 'दुगुना बलशाली' किया जाता है। परन्तु इसका अधिक स्वाभाविक और उचित अर्थ वही प्रतीत होता है जो 'सायण' ने किया है। अर्थात्—

द्वयोः स्थानयोः पृथिव्याम् अन्तरिक्षे परिवृद्धः^५

ये अर्थ विद्युत् पर पूरी तरह लागू होता है; क्योंकि विद्युत् ही जब पृथ्वी पर आती है, तब अग्नि का रूप धारण कर लेती है। अथवा 'वर्हा' शब्द का अर्थ यहाँ कलँगी से है जैसा कि वर्हा (अर्थात् मोर) में, द्विवर्हा का अर्थ ही सकता है—दो कलँगीवालां। इस अर्थ में इस शब्द का संकेत दुकांटी विद्युत् की ओर होगा।

इस सम्बन्ध में एक रोचक बात यह है कि ऋग्वेद के प्राचीनतम भागों में रुद्र और अग्नि का तादात्म्य नहीं है; बल्कि उनमें स्पष्ट भेद किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि विद्युत् के प्रतीक रुद्र और पार्थिव वहि के प्रतीक अग्नि का तादात्म्य वैदिक ऋषियों को धीरे-धीरे ही ज्ञात हुआ था; किन्तु एक समय ऐसा भी था जब इन दोनों को अलग-अलग तत्त्व माना जाता था।

रुद्र=अग्नि, इस साम्य को एक बार मान लेने पर, इसको बड़ी सुगमता से रुद्र=अग्नि-सूर्य तक बढ़ाया जा सकता है, और कुछ ऋग्वेदीय सूक्तों से ही प्रतीत होता है कि उस समय भी रुद्र और सूर्य के इस तादात्म्य को ऋषियों ने पहचान लिया था। इससे हमें

१. ऋग्वेद : ६, ८६, ६; ६, ६१, ३; ६, ६५, ४ इत्यादि।

२. „ : ६, ७, ३।

३. „ : ३, १, ६; ३, २, ५।

४. „ : १, ४३, ४।

५. „ : १, ११४, ६ पर सायण की टीका।

इस वात का समाधान करने में सहायता मिलती है कि रुद्र को मरुतों का पिता कहा गया है, जिनको उसने 'पृथ्वी' (पृथ्वी) से उत्पन्न किया।

कुछ ऐसा जान पड़ता है कि प्रारम्भ में मरुतों की कल्पना, प्रकाश से सम्बद्ध, रक्षकगणों के रूप में की गई थी, जो सब युगों में साधुजनों का संरक्षण करते हैं'। यह कल्पना इन्डो-यूरोपियन-काल की है; क्योंकि मरुतों और आवेस्ता के फ्रवशियों में और ग्रीक और रोमन 'जीनियाई' में बहुत समानता है। इन ग्रीक और रोमन 'जीनियाई' की कल्पना, सर्पधारी नवयुवकों के रूप में अथवा केवल सर्पों के रूप में की जाती थी। मरुतों को भी 'मर्यः' (मनुष्य), 'अहिभानु', 'अहिसुष्म', 'अहिमन्यु' आदि कहा गया है, ^१ जो सब-की-सब बड़ी अर्थात् पूर्ण उपाधियाँ हैं। कुछ ग्रीक भी जिनको 'Trito Patoras' (संस्कृत में 'तृतपितरः') कहते हैं, हमें मरुतों का स्मरण कराते हैं; क्योंकि 'तृत' भी एक वैदिक देवता है और कभी-कभी मरुतों के साथ ही उसका उल्लेख होता है। धीरे-धीरे मरुतों के स्वरूप में विकास और परिवर्तन होता रहा, जिसके फलस्वरूप उन्हें इन्द्र जैसे एक महान् देवता का परिचारक देवता समझा जाने लगा—जैसे ईरान में फ्रवशी 'अहुरमज्दा' के परिचर, देवता बन गये थे। इन्द्र यदि किसी प्राकृतिक शक्ति का प्रतीक है तो वह है भक्तावात का जो दीर्घकाल तक सूखा मौसम रहने के बाद पावस की जवानी में चलता है, जिसके साथ बादलों की गरज, विजली की चमक और मूसलधार वर्षा होती है तथा जिसके समाप्त होने पर सूर्य अपने समस्त तेज के साथ गगन-पटल पर फिर निकल आता है। चूंकि ऐसे भक्तावात में हवा का झोंका उग्र रहता है, जो अपने साथ मेघों को उड़ाये लिये चलता है तथा अन्य कई प्रकार से भी भक्तावात की सहायता करता हुआ प्रतीत होता है, अतः मरुतों का ऐसी हवाओं के साथ अधिकाधिक सम्बन्ध होता गया, और यहाँ तक कि दीनों का तादात्म्य हो गया। ऋग्वेदीय काल तक यह तादात्म्य हो चुका था। ऋग्वेद में मरुतों की कल्पना स्पष्ट रूप से पवन देवताओं के रूप में की गई है और अब उनको पवन देव 'वायु' की संतान माना जाता है, जो स्वाभाविक है। परन्तु बाद में, जब हवाओं की उत्पत्ति का ठीक-ठीक ज्ञान ऋषियों को हुआ, तब मरुत, जो पृथिवी से उत्पन्न किये गये थे, रुद्र के पुत्र कहलाने लगे; क्योंकि श्री जी० राव ने सुकाया है कि पृथिवी पर सूर्य की किरणों का ताप लगने से ही हवाओं की उत्पत्ति होती है। मरुतों का एक अन्य नाम 'सिन्धु-मातरः' संभवतः उनके और वर्षा के सम्बन्ध की ओर संकेत करता है।

रुद्र के स्वरूप का एक और पहलू शेष रहता है और वह किंचित् रहस्यमय है। ऋग्वेद के उत्तर भाग के एक सूक्त में कहा गया है कि रुद्र ने केशी के साथ 'विष' पान किया ^२। इस सूक्त की कठिनाई यह है कि इसमें यह स्पष्ट नहीं होता कि हम इसे एक लक्षण मान सकें या नहीं। सायणाचार्य ने इसको लाक्षणिक रूप में लिया है, और केशी का अर्थ जिसके 'केश' अर्थात् किरणें हों—यानी 'सूर्य' किया है। इसमें उन्होंने 'यास्क' का अनु-

१. डा० बानेट : जीनियस : ए स्टडी इन इन्डो यूरोपियन साइकोलौजी; Jras. १९२९; पृ० ७३१।

२. ऋग्वेद : १, १७२, १; १,६४, ८ और ६; ५,३३,५; ५,६१,४; ५,५३,३; १०,७७, २ क ३।

३. कठवेद : १०, १३६।

करण किया है। उन्होंने भी 'केश' का अर्थ किरणें करके, 'केशी' को सूर्य का व्योतक माना है^१। ऋग्वेद के अन्य सूक्त में तीन केशियों का उल्लेख किया गया है, और वहाँ वे क्रम से अभिन, सूर्य और वायु के प्रतीक जान पड़ते हैं^२। कम से कम यास्क ने उनकी व्याख्या इसी प्रकार की है^३।

विष शब्द का अर्थ भी सदा जहर ही नहीं होता। प्रायः यह 'उदक' (जल) का प्रयायवाची भी होता है, और इस प्रसंग में संभवतः इसका संकेत जीवन के स्रोत रूपी पंच महाभूतों में जल की ओर है। इस सूक्त के प्रथम मंत्र में कहा भी गया है कि केशी इस 'विष' को इसी प्रकार धारण करता है जिस प्रकार पृथ्वी और आकाश को। अतः यदि हम केशी को सूर्य का प्रतीक मानें, तो विद्युत्-शक्ति रूपी रुद्र का सूर्य-रूपी केशी से सम्बन्ध समझ में आ जाता है^४।

परन्तु केशी का इस प्रकार लाकृष्णिक अर्थ करने पर भी केशी को लेकर जो रूपक बाँधा गया है, उसको समझना शेष रह जाता है। सूर्य को केशी क्यों कहा गया है? क्योंकि केशी का शाब्दिक अर्थ तो 'जटाधारी' होता है। इसके अतिरिक्त, इस सूक्त के तीसरे और उसके बाद के मंत्रों में केशी की तुलना मुनियों से की गई है। इन मुनियों के सम्बन्ध में कहा गया है कि अपने 'मौन्य' अथवा 'मुनित्व' के आवेश से उन्मत्त होकर वे अपने अंतः स्वतंत्र को पवन के अन्दर विलीन कर देते हैं और इसी पवन में वे विहार करते हैं। सांसारिक मर्त्य जनों को जो दिखाई देता है, वह तो केवल उनका पार्थिव शरीर होता है।

ऋग्वेद में 'मुनि' शब्द का अर्थ उत्तेजित, अभिप्रेरित अथवा उन्मत्त होता है। यह भी निश्चित है कि यह शब्द 'इएडी-यूरोपियन' मूल का नहीं है। संस्कृत के वैयाकरणों ने इसका उल्लेख उणादि सूत्रों के अन्तर्गत किया है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत व्याकरण के साधारण नियमों के अनुसार नहीं की जा सकती थी। इन सूत्रों में इसको 'मन' धातु से बना बताया गया है, जिससे इसके 'उकार' का समाधान नहीं होता। उधर कन्ड़ भाषा में यह शब्द सामान्यतः पाया जाता है, और वहाँ इसका अर्थ है—जो कुद्ध हो जाय। यह अर्थ इस शब्द के ऋग्वेदीय अर्थ के बहुत समीप है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि यह शब्द तत्कालीन किसी ऐसे आर्येतर जाति की भाषा से लिया गया, जिसके संपर्क में उस समय ऋग्वेदीय आर्य लोग आये। ऋग्वेद के एक मंत्र में उड़े जाते हुए मरुतों के बल की उपमा मुनियों से दी गई है^५। एक और मंत्र में, सोमरस पान के अनन्तर

१. निरुक्त : १२, १२, २५, २६। केशी केशा रश्मयः। तैस्तद्वान् भवति (प्रकाशनाद्वा)
केशीदम् ज्योतिरुच्यत इत्यादित्यम् आह) ।

२. ऋग्वेद : १, १६४, ४४।

३. निरुक्त : १२, १२, २७। "त्रयः केशिनः ऋतुया विचक्षते . . . काले कालेऽभिविपश्यन्ति । संवत्सरे वपत एक एषाम् इत्यग्निः, पृथिवीं दद्यति । सर्वमेकोऽभिविपश्यति कर्मभिरादित्यः । गतिरेकस्य दृश्यते न रूपं मध्यमस्य" ।

४. ऋग्वेद : ६, ५६, ८।

शैव मत

सुरुर में आये हुए इन्द्र को मुनियों का सहचर कहा गया है^१। इन सब प्रकरणों से यह अनुमान लगाना कठिन नहीं कि संभवतः 'मुनि', तपस्वियों के एक वर्गविशेष थे, जो निश्चित रूप से आर्य जाति के नहीं थे। उनके स्वभाव में कुछ सनकसी थी। उनके सम्बन्ध में यह विश्वास किया जाता था कि अपनी तपस्या के बल से उन्होंने मानवोत्तर शक्तियाँ प्राप्त कर ली हैं। वे बहुधा सुरापान करते थे और सुरा के मद में अपनी इन शक्तियों की डींग हाँका करते थे। अतः इन्द्र भी जब इसी प्रकार मदमत्त होकर अपने बल का बखान करते हैं, तब उनको मुनियों का सहचर कहना उपयुक्त ही है। और जब 'केशियों' की भी इन्हीं मुनियों से तुलना की गई है, तब हो सकता है कि जटाएँ रखनेवाला तपस्वियों का एक ऐसा वर्गविशेष था जो मुनियों के समान ही, मानवोत्तर शक्तियाँ रखने का दावा करता था। उपलब्ध सामग्री के आधार पर हम इससे अधिक कुछ और नहीं कह सकते।

उत्तरकालीन वैदिक साहित्य में केशियों के एक कबीले का उल्लेख मिलता है। 'काठक-संहिता' में इनकी चर्चा की गई है, और एक केरी 'दाल्भ्य' का उल्लेख भी हुआ है जो संभवत उनका राजा अथवा पुरोहित था। पांचालों से जिस प्रकार उनका नाता जोड़ा गया है, उससे शायद यह पता चलता है कि वे पांचालों की ही एक शाखा थे^२। 'मैत्रायणी-संहिता' में केरी 'सत्यकामी' का उल्लेख है, जो केरी दाल्भ्यक का गुरु प्रतीत होता है^३। 'शतपथ ब्राह्मण' में भी केशियों का उल्लेख किया गया है^४। परन्तु इन ऐतिहासिक केशियों का ऋग्वेदीय केशियों के साथ कोई सम्बन्ध था या नहीं, यह कहना असंभव है।

काले मेघों में निकलतो हुई विद्युत् के पुरुषीकरण से ही रुद्र की कल्पना की गई है, यह तथ्य अथर्ववेद के मंत्रों से और भी स्पष्ट हो जाता है। अथर्ववेद में रुद्र को तीन बार 'नील शिखरिङ्गन्' (नीलवर्ण या गहरे रंग के केशवाला), कहा गया है^५। यह उपाधि घने काले बादलों में से (जिनकी उपमा ऋग्वेद में भी 'कपर्दिन्' उपाधि में मेघों से दी गई है) निकलती हुई विद्युत् के सम्बन्ध में पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है। इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में रुद्र का विद्युत् द्वारा मर्त्यजनों पर प्रहार करने का भी उल्लेख है^६। एक मंत्र में रुद्र के रथ को काला और भयावह कहा गया है, जिसे रक्तवर्ण के घोड़े खींचते हैं^७। यह वर्णन भी काले मेघ पर ही पूरा उत्तरता है।

रुद्र के विनाशकारी रूप पर अथर्ववेद में कुछ अधिक जोर दिया गया है। उसका शर विषधर होता है और उससे व्याधियाँ फैलती हैं। प्राणिमात्र को उससे डर लगता है^८।

-
- | | |
|---------------------|-----------------------------------|
| १. ऋग्वेद | : ७, १७, १४। |
| २. काठक-संहिता | : (श्रोतर का संस्करण) ३०, २। |
| ३. मैत्रायणी-संहिता | : १, ६, ५। |
| ४. शतपथ-ब्राह्मण | : ११, ८, ४। |
| ५. अथर्ववेद | : २, २७, ६; ६, १३, १; ११, २, ७। |
| ६. | " : ११, २, १६; ११, २, २६ इत्यादि। |
| ७. | " : ११, २, १८। |
| ८. | " : ६, ६०, १ इत्यादि। |

अतः रुद्र से सतत यही प्रार्थना की जाती है कि वह अपने शर को सुतिकर्ता की ओर से हटाये रखें, और उसका प्रहार उसके शत्रुओं पर अथवा कृपण लोगों पर करें^१। एक मंत्र में रुद्र को 'भीमं राजानम्' (आतंककारी नृपति) और 'उपहन्तु' (विघ्वंसक) कहा गया है^२; क्योंकि खुले खेतों में चरते हुए पशुओं पर विजली गिरने की अधिक आशंका होती है, अतः पशुओं को उसके संरक्षण में रखकर रुद्र को प्रसन्न किया गया है^३। इस प्रसंग में रुद्र को पहली बार 'पशुपति' कहा गया है, और उससे पशुवृद्धि तक के लिए प्रार्थना की गई है^४।

रुद्र के विघ्वंसक और हिंसक रूप में ही संभवतः उसके साथ रहनेवाले श्वानों (कुच्छों) की भी कल्पना की गई है, और अथर्ववेद के एक मंत्र में इनका उल्लेख हुआ है^५। परन्तु ऋग्वेद के उत्तर भागों में श्वानों का साहचर्य यम के साथ है, जिनको मृत्यु का अधिष्ठातृ-देवता माना गया है। परन्तु अथर्ववेद का उपर्युक्त मन्त्र चूंकि ऋग्वेद के उत्तर भागों से प्राचीन जान पड़ता है, अतः यह भी सम्भव है कि आदिकाल में रुद्र की ही मृत्यु देवता भी माना जाता था और इसी रूप में उनसे श्वानों का साहचर्य था; क्योंकि मृतमांस-भक्षी होने के कारण और श्मशान आदि के निकट बहुधा पाये जाने के कारण श्वान मृत्यु के ही प्रतीक हो गये हैं। बाद में जब यमराज को मृत्यु का अधिष्ठातृ-देवता के रूप में माना गया, तब श्वानों का यह साहचर्य, रुद्र से लेकर यम के साथ जोड़ दिया गया। प्राचीन देवकथाओं में इस प्रकार का आदान-प्रदान बहुधा होता रहता है।

अथर्ववेद में रुद्र का पुरुषविध रूप ऋग्वेद से आगे बढ़ गया है, और इस बात तक के चिह्न दिखाई देते हैं कि प्रारम्भ में रुद्र की कल्पना जिस प्राकृतिक तर्क को लेकर की गई थी, उसे लोग भूलते जा रहे थे। अब रुद्र के अनुचर गणों की चर्चा होती है, जो सम्भवतः आगे चलकर दश रुद्र कहलाये, और जो वास्तव में और कोई नहीं, वही ऋग्वेद-कालीन मृश्त है^६। रुद्र के शर अब प्राणिमात्र का सीधा वध नहीं करते, अपितु व्याधियाँ फैलाते हैं, जिनकी चिकित्सा के लिए विविध मन्त्र और ओषधियाँ बताई गई हैं^७। भूत-पिशा-चादि से रक्षणार्थी भी रुद्र का स्तवन किया जाता है^८। अथर्ववेद में रुद्र के इस वर्णन से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि रुद्र वैदिक देवतामण्डल के इन्द्र, अग्नि आदि बड़े-बड़े देवताओं के समान श्रेष्ठ कोटि के देवता न होकर एक ऐसे देवता थे जिनपर जन-साधारण की आस्था थी, जो ऋग्वेद में इतनी स्पष्ट नहीं है। इस बात का आगे चलकर बहुत बड़ा परिणाम हुआ। अथर्ववेद में एक लोकप्रिय देवता के रूप में ही, अपनी प्रत्यक्ष शक्ति के

१. अथर्व०: ६, ५९, ३; ७, ७५, १; ११, २, २६ इत्यादि।

२. ,,: १८, १, ४०।

३. ,,: ११, २, १०; १०, २, २४।

४. ,,: २, ३४, १; ५, २४, १२; ११, २, १; ११, ६, ६ इत्यादि।

५. ,,: ११, २, ३०।

६. ,,: ११, २, ३१।

७. ,,: ६, ५७, १; ६, ६०, १।

८. ,,: ६, ३२, २।

कारण और अपने प्रकोप के आतंक के कारण, संभवतः रुद्र को उत्कर्ष हुआ, और अथर्ववेद में उनको 'महादेव' की उपाधि दी गई।

अपने सौभ्य रूप में भी रुद्र का पुरुषीकरण और आगे बढ़ गया है। रुद्र की ओपधियाँ तो ठंडी और रोगनाशक होती ही हैं, इसके अतिरिक्त उनका स्वयं भी व्याधिनाश के लिए आहान किया जाता है^१। कुछ मंत्रों में रुद्र को 'सहस्राङ्' भी कहा गया है^२। ऋग्वेद में यह उपाधि साधारणतया वरुण को^३ और अथर्ववेद में वरुण के गुसचरों को दी जाती है^४। वरुण 'ऋत' के संरक्षक हैं, और अपने चरों की सहायता से प्राणिमात्र के कर्मों को देखते रहते हैं। अतः रुद्र को यह उपाधि दिया जाना संभवतः इस बात का योतक हो सकता है कि रुद्र को भी अब प्राणिमात्र का निरीक्षणकर्ता माना जाने लगा था।

अथर्ववेद में हमें उस प्रक्रिया का प्रारम्भ भी दृष्टिगोचर होता है जिसकी आगे चल कर अनेक बार आदृति हुई और जिसके द्वारा ही अन्त में पौराणिक शिव के स्वरूप का पूर्ण विकास हुआ। यह क्रम है—एक बड़े देवता का अन्य देवताओं को अपने अन्तर्गत कर लेना और उनके व्यक्तित्व को अपने व्यक्तित्व में विलीन कर लेना। अथर्ववेद में दो देवताओं (भव और शर्व) का उल्लेख हुआ है। उनका व्यक्तित्व कुछ स्पष्ट नहीं है; परन्तु फिर भी वह स्वतंत्र देवता है^५। परन्तु अथर्ववेद के ही कुछ अन्य मंत्रों में उनका स्पष्ट रूप से रुद्र के साथ तादात्म्य हो गया है और भव और शर्व रुद्र के ही दो नाम बन गये हैं^६। एक देवता द्वारा किसी अन्य देवता का आत्मसात् किया जाना कोई असाधारण बात नहीं है और संसार की प्रायः सभी देव-कथाओं में ऐसे उदाहरण मिलते हैं। अतः यह नितान्त संभव है कि रुद्र ने, जिसका महत्व बढ़ रहा था, समय बीतते-बीतते कुछ छोटे-छोटे देवताओं को आत्मसात् कर लिया हो।

अब हम अथर्ववेद में रुद्र के स्वरूप के अंतिम पहलू पर दृष्टि डालते हैं। अथर्ववेद के पन्द्रहवें मंडल में रुद्र का ब्रात्य के साथ उल्लेख किया गया है। अथर्ववेद का यह मंडल वैदिक साहित्य की एक समस्या है जिसका अभीतक समुचित समाधान नहीं हुआ है। देखने में तो इसमें ब्रात्य को देवकोटि में रखा गया है। परन्तु यह ब्रात्य था कौन, अभीतक रहस्य ही है। ब्राह्मण और सूत्र-ग्रन्थों में कुछ विधियाँ दी गई हैं जिनको 'ब्रात्यस्तोम' कहते हैं। इनमें ब्रात्यों का आशय उन लोगों से है, जो आर्य जाति के बाहर थे और जिनके आवश्यक संस्कार उचित समय पर नहीं हुए थे। इन दोनों ही अवस्थाओं में ब्रात्य लोग वे होते थे जो वैदिक आयों के आचारस्तर तक नहीं पहुँचते थे और इसी कारण उनको

१. अथर्व० : ६, ४४, ३; ६, ५७, १; ११, १०, ६।

२. ,, : ११, २, ७।

३. ऋग्वेद : ५, ५०, १० इत्यादि।

४. अथर्व० : ६, १६, ४।

५. ,, : ११, २, १; १२, ४, १७।

६. ,, : ६, ४।

किंचित् निकृष्ट समका जाता था। परन्तु यदि अर्थवेद के इस मंडल का ब्रात्य वही है, जो इन विधियों का है, तो इस प्रकार उसको इतना ऊँचा क्यों उठया गया, समझ में नहीं आती? उसमें कुछ-न-कुछ गुण अथवा ऐसी विशेषता अवश्य रही होगी, जिससे आर्यों के पुरोहित वर्ग को छोड़कर, अन्य लोगों की दृष्टि में वह श्लाघ्य बन गया। जर्मन विद्वान् डाक्टर 'हौएर' का विचार है^१ कि यह ब्रात्यों के योग और ध्यान का अभ्यास था जिसने आर्यों को आकर्षित किया, और फिर वैदिक विचार-धारा और धर्म पर अपना गहरा प्रभाव डाला। इधर 'श्री एन. एन. धोष' ने अपनी एक रोचक पुस्तक में एक नई दिशा में खोज की है^२ और वे इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि प्राचीन वैदिक काल में ब्रात्य जाति पूर्वी भारत में एक बड़ी राजनीतिक शक्ति थी। उस समय वैदिक आर्य एक नये देश में अपना प्रभुत्व जमाने के लिए लड़ रहे थे, और उनको मैन्यबल की अत्यधिक आवश्यकता थी। अतः, उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से ब्रात्यों को अपने दल में मिला लिया। ब्रात्यों को भी संभवतः आर्यों के नैतिक और आध्यात्मिक गुणों ने आकृष्ट किया, और वे आर्य जाति के अन्तर्गत होने के लिए तैयार हो गये और फिर इस प्रकार आर्यों से मिल जाने पर आर्यों के सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित किया। इतना तो मानना ही पड़ेगा कि ब्रात्य का निरन्तर पूर्व दिशा के साथ सम्बद्ध किया जाना, उसके अनुचरों में 'पुंश्चली' और 'मागध' का उल्लेख होना (ये दोनों ही पूर्वदेशवासी और आर्येतर जाति के हैं), आर्यों से पहले भी भारतवर्ष में अति विकसित और समृद्ध सम्भाताएँ होने के प्रमाण-स्वरूप अधिकाधिक सामग्री का मिलना आदि श्री धोष के तर्क की कुछ पुष्टि करते हैं। परन्तु ब्रात्य चाहे जो भी रहे हों, प्रश्न हमारे सामने यह है कि अर्थवेद के इस मंडल में ब्रात्य के साथ रुद्र का सम्बन्ध कैसे स्थापित किया गया है? सूक्त के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि ब्रात्य 'महादेव' बन गया, ब्रात्य 'ईशान' बन गया। यह दोनों ही रुद्र की उपाधियाँ हैं^३। तदनन्तर, विभिन्न नामों से रुद्र को ब्रात्य का 'अनुष्ठाता' (परिच्चर) बताया गया है^४। अन्त में कहा गया है कि जब ब्रात्य पशुओं की ओर चला, तब उसने रुद्र का रूप धारण किया और 'ओषधियों को अन्सेवी बनाया'^५। इस सूक्त में यही तीन स्थल हैं, जहाँ रुद्र का ब्रात्य के साथ सम्बन्ध है। अब देखें कि इनसे हम किस निर्णय पर पहुँच सकते हैं। अन्तिम उद्धरण का इसके सिवा कोई विशेष महत्व नहीं है कि रुद्र का सम्बन्ध पशुओं और वनस्पतियों से था, जो हमें पहले से ही विदित है। इसी उद्धरण में यह भी कहा गया है कि ब्रात्य ने विभिन्न दिशाओं और विभिन्न पदार्थों की ओर चलते हुए अन्य देवताओं का रूप भी धारण किया। दूसरे उद्धरण में, अपने विभिन्न नामों से रुद्र दिक्षाल के रूप में ही दीखते हैं, और ब्रात्य के साथ उनका कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं है। अतः इस उद्धरण का महत्व इस बात में नहीं है कि इससे ब्रात्य और रुद्र के बीच कोई विशेष

१. हौएर : दर ब्रात्यः ।

२. एन. एन. धोष : इंडो आर्यन लिटरेचर एन्ड कलचर (Origins) १९३४ ३०।

३. अर्थव० : १५, १, ४, ५।

४. ,, : १५, ५, १, ७।

५. ,, : १५।

सम्बन्ध सिद्ध होता है, अपितु इसमें है कि यह रुद्र के स्वरूप में और अधिक विकास का योतक है; क्योंकि अब अपने और कार्यों के अतिरिक्त रुद्र दिशाओं के संरक्षक के रूप में भी दृष्टिगोचर होते हैं। अब हमारे सामने केवल प्रथम उद्धरण रह जाता है, जिसमें कहा गया है कि ब्रात्य 'महादेव' और 'ईशान' बन गया। इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि अर्थवेद में महादेव रुद्र की उपाधि है, और 'ईशान' की उपाधि 'यजुर्वेद' में ही रुद्र को दे दी गई थी, नथापि यह दीनों केवल उपाधि मात्र हैं। अभी रुद्र के विशिष्ट नाम नहीं बने हैं। 'महादेव' का अर्थ है 'महान् देवता' और यह उपाधि दूसरे देवताओं को भी दी गई है। 'ईशान' का अर्थ है—प्रभु और इसी अर्थ में इसका यहाँ प्रयोग हुआ है। अतः अधिक-से-अधिक हम यह कह सकते हैं कि इन उद्धरणों में रुद्र की ओर कोई संकेत है या नहीं, यह एक खुला प्रश्न है। इस मंडल के शेष भाग में और अपरकालीन ब्रात्यस्तोमों में, ब्रात्यों और रुद्र के बीच कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। महाभारत में भी जहाँ 'ब्रात्य' एक अपमानसूचक शब्द है, जो गर्हित वाहिकों के लिए प्रयुक्त किया गया है^१, वहाँ ब्रात्य और रुद्र में कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। डाक्टर 'हौएर' का यह कथन औचित्य से बहुत दूर है कि ब्रात्य वाहिकों के विलासमत्त शैव सुरासेवियों के जघन्य कृत्य हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि डाक्टर साहब को 'गौरी' शब्द ने भ्रम में डाल दिया, जो वाहिक युवतियों के लिए प्रयुक्त हुआ है और जिसका साधारण अर्थ एक गौरवर्ण कन्या है। शिवपत्नी पार्वती की ओर यहाँ कोई संकेत नहीं है। अतः यह संभव है, इस उद्धरण में जो 'महादेव' और 'ईशान' शब्द हैं, उनका रुद्र की ओर संकेत है ही नहीं, और वे केवल अपने शाब्दिक अर्थ में ब्रात्य का माहात्म्य बताने के लिए प्रयुक्त किये गये हैं। यदि उनका रुद्र की ओर संकेत हो भी; तो हम इससे अधिक और कोई अनुमान नहीं लगा सकते हैं कि इस समय तक रुद्र एक महान् देवता और देवाधिदेव समझे जाते थे, और जब ब्रात्य का माहात्म्य बढ़ा तब उसकी रुद्र से तुलना की गई। जो भी हो, इन उद्धरणों से हमें इतनी सामग्री नहीं मिलती कि हम महामहोपाध्याय 'श्री हरप्रसाद शास्त्री' के इस कथन का समर्थन कर सकें कि रुद्र ही ब्रात्य हैं, और वह पर्यटकों के देवता हैं, स्वयं पर्यटकाधिराज हैं तथा पर्यटक दल की आत्मा हैं^२। पौराणिक शिव की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं (जैसे उनके कृतिवारी वेश और उनका कोई धाम न होना) जो शास्त्री जी के विचार में, शिव के पर्यटक होने के योतक हैं। परन्तु जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, इन सबका संतोषजनक समाधान अन्य प्रकार से किया जा सकता है।

अर्थवेद में रुद्र के स्वरूप के सम्बन्ध में एक और बात पर विचार करना शेष रह गया है। यज्ञ में आहुति के रूप में रुद्र को पाँच प्राणी समर्पित किये गये हैं। उनमें से एक मनुष्य है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि रुद्र को कभी-कभी नर-बलि भी दी जाती थी। यह असंभव नहीं है; क्योंकि नरमेघ की प्रथा प्राचीन आर्यों में काफी प्रचलित थी और आर्यों में ही क्यों, उस युग की सभी सभ्य जातियों में यह प्रथा प्रचलित

१. महाभारत (बम्बई संस्करण) कर्णीपर्व—३२ और ४३-४४; ३८, २०।

२. JSAB—१६२१, पृ० १७।

थी। प्राचीन ग्रीक, रोमन और पारसीकों में हमें इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। वैदिक आयों में भी इस प्रथा के प्रचलित होने के अकाट्य प्रमाण यजुर्वेद का पुरुषमेघ यज्ञ और 'ऐतरेय ब्राह्मण' में शुनःशेफ की कथा में है। अतः यह नितान्त संभव है कि यदा-कदा रुद्र को भी नरबलि दी जाती हो, विशेषकर जब उसका संतानवृद्धि से सम्बन्ध था। संतानवृद्धि के लिए जो विधियाँ की जाती थीं, उन्हीं में इस प्रकार की बलि साधारणतया दी जाती थी। कालान्तर में वैदिक आयों ने इस प्रथा की निन्दा की, और अन्त में इसको बन्द कर दिया। परन्तु यत्र-तत्र यह प्रथा दीर्घ काल तक चलती रही, और जब हम महाभारत में जरासन्ध को नरबलि द्वारा भगवान् शिव को प्रसन्न करने की चेष्टा करते पाते हैं, तब हमें इसको ऐसी गर्हित और अनार्थ प्रथा नहीं समझना चाहिए जिसकी श्रीकृष्ण ने निन्दा की, और न हमें जरासन्ध को ही एक अमानुषिक अत्याचारी समझना चाहिए, अपितु इसको एक अति प्राचीन प्रथा के अवशेष के रूप में देखना चाहिए जो एक समय में बहुत प्रचलित और सम्मानित किया थी।

अब हम यजुर्वेद पर दृष्टि डालते हैं। ऋक् और अथर्ववेद के सूक्तों के निर्माण काल में और यजुर्वेद के सूक्तों के निर्माण काल में काफी अन्तर प्रतीत होता है, और इस कालावधि में वैदिक आर्य 'सप्सैन्यव' के पर्वतों और मैदानों से आगे बढ़ते हुए कुरुक्षेत्र के प्रदेश तक आ गये थे। इसी कालावधि में रुद्र के स्वरूप में भी पर्याप्त विकास हुआ। अथर्ववेद में रुद्र के जिस भयावह रूप पर जोर दिया गया है, वह यजुर्वेद में और भी प्रमुख हो जाता है। रुद्र के शरों का आतंक अब पहले से भी अधिक है, और उनको दूर रखने के लिए रुद्र से प्रार्थना की जाती है^१। रुद्र का एक नाम अब 'किंवि', अर्थात् ध्वंसक या 'हानिकर' भी है^२, और एक स्थल पर रुद्रके प्रसंग में 'दौर्वात्य' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ भाष्यकार 'महीधर' ने किया है—'उच्छुंखल आचरण'^३। रुद्र के इस आतंक के फलस्वरूप उनको कई अन्य प्रशंसासूचक उपाधियाँ भी दी गईं, और उनके धनुष और तरकस को 'शिव' कहा गया है^४। उनसे प्रार्थना की गई है कि वह अपने भक्तों को मित्र के पथ पर ले चलें, न कि भयंकर समझे जानेवाले अपने पथ पर^५। भिषक् रूप में भी रुद्र को कभी-कभी स्मरण किया गया है और मनुष्य और पशुओं के लिए स्वास्थ्यप्रद भेज देने के लिए उनसे प्रार्थना की गई है^६। संभवतः अपने इसी भिषक् रूप में उनका सम्बन्ध देवचिकित्सक अश्विनी-कुमारों से हुआ, जिनको यजुर्वेद में रुद्र के पथ पर

१. यजुर्वेद : (तैत्तिरीय संहिता) १, १, १, इत्यादि।

२. „ : (वाजसनेयी „) १०, २०।

३. „ : (वाजसनेयी „) ३१, ६ और महीधर का भाष्य—“दुष्टं स्वनलोच्छलनादि व्रतम्”।

४. „ : (तैत्तिरीय „) ४, ५, १।

५. „ : (तैत्तिरीय „) १, २, ४।

६. „ : („ „ „) १, ८, ६।

चलनेवाला बताया गया है^१। रुद्र का 'पशुपति' रूप और भी अच्छी तरह स्थापित हो गया है^२, और सन्तानवृद्धि से उनका पुराना सम्बन्ध भी 'सोमारौद्र' चरु में स्पष्ट हो जाता है, जो संतानेच्छुक मनुष्य द्वारा दिया जाता था^३।

परन्तु कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेद दोनों में ही हमें दो सूक्त ऐसे मिलते हैं, जिनमें हमें रुद्र का एक नया ही स्वरूप दिखाई देता है, जिसका ऋक् या अथर्ववेद में कोई संकेत नहीं मिलता। ये दो सूक्त हैं—'व्यम्बक होम' और 'शतशद्रिय'। व्यम्बक होम में रुद्र का पशुपति और भिषक् रूप तो है ही, इसके अतिरिक्त उनके साथ एक स्त्री देवता का भी उल्लेख किया गया है, जिसका नाम है 'अभिका' और जिसे रुद्र की बहन बताया गया है। फिर रुद्र के विशेष वाहन मूषक की भी चर्चा है। स्वयं रुद्र को 'कृत्तिवासा'^४ कहा गया है। मृत्यु से मुक्ति और अमृतत्वप्राप्ति के लिए उनसे प्रार्थना की गई है। अन्त में जब रुद्र का यज्ञभाग उन्हें दे दिया जाता है, तब उनसे 'मूजवत'^५ पर्वत से परे चले जाने का अनुरोध किया जाता है और वह भी कुछ ऐसे ढंग से जिससे प्रतीत होता है कि उनकी उपस्थिति वांछित नहीं थी तथा स्तोता अपने-आपको रुद्र से दूर ही रखना चाहता था।

उपर्युक्त विवरण से कई प्रश्न उठते हैं। प्रथम तो यह कि यह स्त्री देवता 'अभिका' कौन है और इसका रुद्र का साथ उल्लेख कैसे हुआ? दूसरे रुद्र को 'कृत्तिवासा' क्यों कहा गया है, और मूषक उनका वाहन क्यों बनाया गया है? यज्ञ में रुद्र की उपस्थिति वांछित क्यों नहीं थी और यज्ञभाग देने के पश्चात् उनको मूजवत पर्वत के परे जाने को क्यों कहा गया है? इन प्रश्नों के उत्तर देने से पहले हमें यह देखना चाहिए कि इन बातों का संकेत किस ओर है? इस बात का विचार छोड़कर कि इस सूक्त के देवता रुद्र हैं, हम पहले यह देखें कि इसमें वर्णित देवता का स्वरूप क्या है? मूजवत पर्वत के परे चले जाने का अनुरोध इस बात का योतक हो सकता है कि इस देवता का वास उत्तर भारतीय पर्वतों में माना जाता था। मूषक जैसे धरती के नीचे रहनेवाले जन्तु से उसका सम्बन्ध इस बात का योतक हो सकता है कि इस देवता को पर्वत कन्दराओं में रहनेवाला माना जाता था। उसकी उपाधि 'कृत्तिवासा' यह स्फूर्ति करती है कि उसको खाल के वस्त्र पहननेवाला माना जाता था।

अन्त में 'अभिका' के उल्लेख से पता चलता है कि इस देवता का एक स्त्री देवता के साथ सम्बन्ध था, जिसकी पूजा भी उसी के साथ होती थी। ऋक् या अथर्ववेद में कोई ऐसा देवता नहीं है जिसमें यह सब गुण पाये जाते हों।

१. यजुर्वेद : (वाजसनेयी संहिता) १६, ८२ ; २३, ५८।

२. , : (,,,) ६, ३९, ३९, ८। (तैत्तिरीय) १, ८, ६।

३. , : (तैत्तिरीय संहिता) २, २, १०।

४. , : (,,,) १, ८, ६। (वाजसनेयी) ३, ५७, ६३।

‘ब्यम्बक होम’ यजुर्वेद के सामान्य यज्ञविधान से पृथक्, एक विशेष विधि है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि ऋक् और अथर्ववेद के सूक्तों के निर्माण काल के पश्चात् और यजुर्वेद के सूक्तों के निर्माण काल से पहले, किसी समय रुद्र के साथ एक आर्येतर देवता का आत्मसात् हो गया था। संभवतः हिमालय की उपत्यकाओं में वसनेवाली कुछ जातियाँ इस देवता को पूजती थीं और इसको कृत्तिवासा और कन्द्रवाचासी मानती थीं। यह देवता कौन था, यह स्पष्ट रूप से कहना बहुत कठिन है; परन्तु अपर काल में भगवान् शिव का किरातों के साथ जो सम्बन्ध हुआ (जैसा महाभारत के किरातार्जुनीय प्रसंग से रूपष्ट है), उससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि शायद यह देवता किरातों और तत्सम्बन्धित उन जातियों का देवता था, जो उस समय हिमालय की निम्नपर्वतश्रिणियों में वसती थीं और आज तक वसती हैं।

एक देवता द्वारा किसी अन्य देवता को आत्मसात् कर लेने की यह रीति देवकथाओं में कोई असाधारण घटना नहीं है। सच तो यह है कि प्राचीन संसार में जब कभी एक जाति का किसी अन्य जाति पर राजनीतिक प्रभुत्व हो जाता था, और विशेषकर जब वह दो जातियाँ मिलकर एक हो जाती थीं, तब देवताओं का इस प्रकार एक दूसरे द्वारा आत्मसात् अनिवार्य रूप से हो जाता था। इसका एक बड़ा रोचक उदाहरण बैबीलोन का देवता है—‘मरदुक’। जैसे-जैसे बैबीलोन का महत्व बढ़ता गया और उसका राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व फैलता गया, धीरे-धीरे सारी अधीनस्थ जातियों के देवताओं को ‘मरदुक’ ने आत्मसात् कर लिया। अब हम देख चुके हैं कि जिस समय वैदिक आर्यों ने भारत पर अपना राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व जमाना आरम्भ किया, उस समय रुद्र उनका एक बड़ा देवता था। इसके साथ-साथ वह एक लोकप्रिय देवता भी था—अर्थात् उसकी उपासना अधिकांश जन-साधारण में होती थी, और इसी कारण वैदिक पुरोहितों ने जिस देवमण्डल को लेकर उच्चवर्गीय वैदिक आर्यों के धर्म के प्रमुख अंगस्वरूप विरनृत कर्मकांड की स्थापना की थी, उसके अन्तर्गत रुद्र को नहीं माना। फलस्वरूप वैदिक पुरोहितों ने रुद्र के रूप की विशुद्धता की सतर्कता से रखा नहीं की। अतः जब वैदिक आर्यों ने दूसरी आर्येतर जातियों को अपने अन्दर मिलाना शुरू किया और फलस्वरूप रूपमावतः दोनों के जन-साधारण का ही आपस में सबसे अधिक संपर्क हुआ, तब आर्यों के जनसाधारण के देवता रुद्र ने भी इन आर्येतर जातियों के देवताओं को आत्मसात् किया। यह बहुत संभव है कि आर्यों के सम्पर्क में आनेवाली सबसे पहली आर्येतर जातियाँ, हिमालय की उपत्यकाओं में वसनेवाली जातियाँ थीं; क्योंकि वे ही उत्तरी पंजाब और कश्मीर के पहाड़ों में वैदिक आर्यों के निवास-स्थान के समीपतर थीं। इन्हीं जातियों में पूजे जानेवाले किसी देवता का वैदिक रुद्र के साथ आत्मसात् हुआ होगा, जिसके कारण रुद्र का वह रूप बना जो हमें ‘ब्यम्बकहोम’ में दिखाई देता है।

ब्यम्बकहोम में जो सामग्री उपलब्ध है, ‘शतरुद्रिय स्तोत्र’ उसी का पूरक है। इस स्तोत्र में रुद्र की स्तुति में दृढ़ मंत्र हैं, जिनसे रुद्र के यजुर्वेदकालीन स्वरूप का भलीभाँति

परिचय मिल जाता है^१। रुद्र के प्राचीन स्वरूप की सृष्टि अभी तक शेष है, यद्यपि, यजुर्वेद के अन्य सूक्तों की भाँति इस स्तोत्र में भी रुद्र के भयावह वाणों का डर स्तोत्रकर्ता के मन में सबसे अधिक है^२ और प्राचीन ऋषियों के समान ही वह भी अनेक प्रशंसा-सूचक उपाधियों से रुद्र को प्रसन्न करने की चेष्टा करता है। फिर भी रुद्र को पहली बार यहाँ 'शिव', 'शिवतर', 'शंकर' आदि कहा गया है। वह मिष्ठक् भी है। उनकी पुरानी उपाधि 'कपर्दिन्' का एक बार उल्लेख हुआ है। उनकी एक अन्य 'नीलश्रीव' उपाधि पुरानी 'नीलशिखवंडिन्' का ही विकास मात्र प्रतीत होती है। उनका पशुपति रूप भी इस स्तोत्र में व्यक्त है। परन्तु इस स्तोत्र का अधिक महत्त्व इस बात में है कि इसमें रुद्र को बहुत-सी नई उपाधियाँ दी गई हैं; जैसे—'गिरिशंत', 'गिरित्र', 'गिरिश', 'गिरिचर', 'गिरिशय'। यह सब रुद्र को पर्वतों से सम्बन्धित करती हैं। इसके अतिरिक्त रुद्र को 'चेत्रपति' और 'वृणिक्' भी कहा गया है। इन दोनों उपाधियों से रुद्र का लोकप्रिय स्वरूप फिर स्पष्ट होता है। परन्तु इस स्तोत्र के बीस से बाइस संख्या तक के मंत्रों में रुद्र को जो अनेक उपाधियाँ भी दी गई हैं, वे बड़ी विचित्र हैं। जो स्तोत्रकर्ता, अभीतक बड़े-बड़े शब्दों में रुद्र के माहात्म्य का गान कर रहा था, वही नितान्त सहज स्वभाव से उनको इन उपाधियों से विभूषित करता है—'स्तेनानां पति' (अर्थात् चोरों का अधिराज?), वंचक (ठग), स्तायूनां पति (ठगों का सरदार!), 'तस्कराणां पति', मुष्णतानां पति, विकृन्तानां पति (गलकटों का सरदार), 'कुलुचानां पति' आदि। आगे तेइस से सत्ताइस तक के मंत्रों में रुद्र के गणों का वर्णन है, जो वास्तव में रुद्र के उपासक वर्ग ही थे। इनमें 'समा', 'समापति', 'गण', 'गणपति' आदि का ही उल्लेख तो है ही, साथ ही 'व्रात', 'व्रातपति', तत्कार रथकार, कुलाल, कर्मकार, निषाद, पुंजिष्ठ, 'श्वनि' (कुत्ते पालनेवाले), मृगायु (व्याघ) आदि का भी उल्लेख है। जिस सहज भाव से इन सबको रुद्र के गणों में सम्मिलित किया गया है, उससे प्रतीत होता है कि जिस समय स्तोत्र बना, उस समय इन वर्गों के लोग रुद्र के पूजनेवाले माने जाते थे। जहाँ तक उपलब्ध सामग्री से पता चलता है, ऋग्वेदीय और अर्थवेदीय सूक्तों में यह स्थिति नहीं थी। अतः 'शतरुद्रिय स्तोत्र' में इन उपाधियों के उल्लेख से व्यम्बकहोम के प्रमाणों की पुष्टि होती है, और हमारा वह अनुमान न्यायसंगत प्रतीत होता है कि इस समय तक रुद्र ने एक ऐसे देवता को आत्मसात् कर लिया था, जो यहाँ की आदिम जातियों में पूजा जाता था। ऊपर जिन वर्गों का उल्लेख किया गया है, वे अधिकांश इन्हीं जातियों के थे। इसके अतिरिक्त इस स्तोत्र में रुद्र की एक अन्य उपाधि 'वनानां पति' है, और अपर काल में रुद्र का वनेचरों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया गया है, इन दोनों से यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि यह जातियाँ हिमालय की उपत्यकाओं के बनों में रहती थीं। इसी स्तोत्र में 'कृत्तिवासा' उपाधि का भी फिर उल्लेख हुआ है, जिससे यह धारणा होती है कि इन वनचर जातियों ने अपने चर्मवस्त्र के अनुसार ही अपने देवता की भी, इसी वेश में, कल्पना की थी।

१. यजुर्वेद : (तैत्तिरीय संहिता) ४, ५, १ इत्यादि।

२. „ : (वाजसनेभी „) १६, १-६६।

इस प्रकार यजुर्वेद में आयों के आर्येतर जातियों के साथ समिश्रण का और उनको अपने अन्दर मिला लेने का पहला संकेत मिलता है। रुद्र ने इन जातियों के देवताओं को आत्मसत् किया, और इस प्रकार उनके उपासकों की संख्या बढ़ जाने से उनका महत्व भी बढ़ गया। इसके साथ-साथ यह भी संभव है कि जहाँ रुद्र ने इन देवताओं के विशेष स्वरूपों को ग्रहण किया, वहाँ इन जातियों में प्रचलित देवाराधना के कुछ ऐसे विशिष्ट प्रकार भी रुद्र की अर्चनाविधि के अंग बन गये, जिनको विशुद्धाचार के पक्षपाती कुछ वैदिक आर्य, विशेषकर वैदिक पुरोहित, अच्छा नहीं समझते थे। पर्यास सामग्री उपलब्ध न होने के कारण हम इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते; परन्तु उत्तरकालीन साहित्य में रुद्र की अर्चना के पाये जानेवाले कितिपय गर्हित रूप का सूत्रपात संभवतः यहाँ से होता है। इसके अतिरिक्त रुद्र के स्वरूप और अर्चना-विधि में वास्त्र पुट मिल जाने के कारण वह वेद के सामान्य देवमंडल से और भी दूर हट गये और ही सकता है, इसी कारण वैदिक आयों के पुरातनवादी वर्गों में रुद्र के प्रति एक विरोध-भावना खड़ी हो गई, जिसका पहला संकेत हमें 'व्यम्बक होम' में मिलता है। उत्तरकालीन साहित्य में इस विरोध-भावना के अनेक संकेत मिलते हैं।

यजुर्वेद को समाप्त कर ब्राह्मण ग्रन्थों का निरीक्षण प्रारम्भ करने से पहले हमें एक और बात देखनी है। यह बात है रुद्र का नया नाम, जो पहले-पहल हमें यजुर्वेद में मिलता है, अर्थात् 'व्यम्बक'। चूँकि पौराणिक शिव की कल्पना में उनके त्रिनेत्र रूप का विशेष महत्व है, अतः इस नाम पर यहाँ विशेष ध्यान देना आवश्यक है। इस नाम की व्याख्या न तो यजुर्वेद में, न ब्राह्मण ग्रन्थों में की गई है। परन्तु यह रपष्ट है कि यह एक बहुवीहि समाप्त है और अपरकाल में इसका अर्थ बराबर 'तीन नेत्रों वाला' किया जाता था। परन्तु यह भी निश्चित है कि प्रारम्भ में इस शब्द का यह अर्थ नहीं था। वैदिक साहित्य में, और बाद में भी, 'अम्ब' शब्द का अर्थ है—'पिता'। अतः हम इसकी व्युत्पत्ति पर ध्यान दें, तो व्यम्बक का अर्थ होना चाहिए 'जिसके तीन पिता हैं'। अब वैदिक देवताओं में केवल एक देवता ऐसा है जिसपर यह वर्णन लागू हो सकता है और वह है अग्नि, जिसके तीन जन्मों का (पृथिवी, आकाश और वृद्धि में) वैदिक साहित्य में बहुधा उल्लेख मिलता है। चूँकि रुद्र और अग्नि का तादात्म्य है ही, अतः यह सहज में ही रपष्ट हो जाता है कि यह उपाधि वास्तव में अग्नि से चल कर रुद्र के पास आई। कालान्तर में अम्बक शब्द का मूल अर्थ लोग भूल गये और अम्ब के दूसरे अर्थ 'नेत्र' को लेकर इसकी व्याख्या करने लगे। इस भ्रान्ति के कारण ही पौराणिक शिव के एक महत्वपूर्ण और प्रमुख स्वरूप का उत्पत्ति हुई, और शिव के तृतीय नेत्र की सारी कथा रची गई।

जब हम ब्राह्मण ग्रन्थों को देखते हैं तो हम रुद्र का पद और भी ऊँचा पाते हैं। रुद्र का आतंक अधिक बढ़ गया है। देवता तक उनसे डरते हैं। यथापि उनको पशुपति

कहा गया है' और पशुओं को उनके नियंत्रण और संरक्षण में रखा गया है^३, तथापि उनकी कल्पना निश्चित ही पशुहन्ता के रूप में ही की गई है^४। एक स्थल पर तो स्तोता यह प्रार्थना करता है कि उसके पशु रुद्र के संपर्क में न आवें^५। ब्राह्मण ग्रन्थ-कर्त्ताओं के मन में रुद्र के इस भीषण स्वरूप ने ऐसा घर कर लिया कि उन्होंने यहाँ तक कह डाला है कि रुद्र की उत्तिः सब देवताओं के उग्र अंशों के मेल से हुईं और मन्यु से रुद्र का तादात्म्य मी किया गया है^६। रुद्र को स्पष्ट रूप से 'धीर' और 'क्रूर' कहा गया है, और उनसे बराबर यही प्रार्थना की जाती है कि उनके वाण स्तोता की ओर न चलें^७।

ब्राह्मण ग्रन्थों में उत्तर अथवा उत्तरपूर्व दिशा को रुद्र का विशेष आवास कहा गया है^८, और एक स्थल पर कृष्णवस्त्रधारी उत्तर दिशा से आनेवाला एक विचित्र पुरुष कहकर रुद्र का वर्णन किया गया है^९। इन सबसे व्यम्बक होम के प्रमाणों की पुष्टि होती है। इसके अतिरिक्त रुद्र के स्वरूप और उनकी उपासना में आयेंतर अंशों के मिल जाने के कारण उनमें और अन्य देवताओं के बीच जो अन्तर आता जा रहा था, उसके भी अनेक संकेत ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलते हैं। 'गवेषुक होम' में कहा गया है कि जिस समय अन्य देवतागण स्वर्ग को गये, उस समय रुद्र को पीछे छोड़ दिया गया और इसी कारण उनका नाम 'वास्तव्य' पड़ा—अर्थात् 'जो घर पर ही रहे'^{१०}। फिर अन्य देवताओं ने प्रजापति को छोड़ दिया, किन्तु रुद्र ने उन्हें नहीं छोड़ा^{११}। अन्त में यह भी कहा गया है कि जब देवताओं ने पशुओं को आपस में बाँटा, तब रुद्र का ध्यान नहीं रखा; परन्तु यह सोच कर कि कहीं रुद्र के प्रकोप से सुष्टु का ही विनाश न हो जाय, उन्हें मूषक समर्पित किया गया^{१२}। 'व्यम्बक होम' में रुद्र का विशेष वाहन मूषक बतलाया गया है जिसका ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार समाधान किया गया है।

इन सब बातों का संकेत एक ही ओर है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के समय तक रुद्र को अन्य देवताओं से पृथक् समझा जाने लगा था। वैदिककाल के सामान्य देवमंडल से रुद्र के इस पृथक्करण का रुद्र की उपासना के इतिहास और विकास में बहुत महत्व है। ब्राह्मणकाल में जब वैदिक कर्मकांड अपनी प्रौढावस्था को पहुँचा और उसका

१. शतपथ : ५, ३, ३, ७ इत्यादि।
२. ,, : ६, ३, २, ७ इत्यादि।
३. ताण्ड्य : ७, ६, १६-१८।
४. कौशीतकी : ३, ४।
५. ऐतरेय : ३, ८, ६; वलवकार : ३, २६१; शतपथ : ६, १, १, ६।
६. तैत्तिरीय : ३, २, ५।
७. ऐतरेय : ५, २, ६; कौशीतकी २, २; तैत्तिरीय १, ६, १०; शतपथ ५, ४, २, १०।
८. ऐतरेय : ५, २२, ६।
९. शतपथ : १, ७, ३, १-८।
१०. " : ६, १, १, ५।
११. तैत्तिरीय : १, ६, १०; ताण्ड्य ७, ६, १६।

रूप अत्यधिक विकट हो गया, तब वैदिक देवताओं में से अधिकांश का व्यक्तित्व फीका पड़ गया, और वे प्रायः सर्वशक्तिमान् आहानमंत्र से सज्जित स्तोता के संकेतमात्र पर चलनेवाले होकर रह गये। रुद्र को छोड़कर इसका एक ही अपवाद और था, और वह है—विष्णु। परन्तु विष्णु की उपासना की कथा अलग है और उससे अभी हमारा कोई सरोकार नहीं है। रुद्र पुरोहितों के इस कर्मकांड की जकड़ में नहीं थे, और जैसे-जैसे इनके उपासकों की संख्या बढ़ती गई, इनके महत्व में भी बृद्धि होती गई। यह सच है कि इनकी उपासना में कुछ ऐसी बातें भी आ गईं, जो किंचित् आपत्तिजनक थीं; परन्तु वे संभवतः उन्हीं लोगों तक सीमित रहीं जिनमें वह प्रारम्भ में ही प्रचलित थीं। किन्तु दूसरी ओर इस बात के भी संकेत मिलते हैं कि वैदिक आयों में से कुछ ऐसे प्रगतिशील विचारक थे जो कृत्रिम कर्मकांड को आध्यात्मिक उन्नति के लिए व्यर्थ समझते थे। वे रुद्र की उपासना की ओर आकृष्ट होने लगे थे। इस बात का कुछ विस्तृत विवेचन आवश्यक है; क्योंकि उत्तर वैदिककाल में रुद्र का जो महान् उत्कर्ष हुआ और उनको जो परमेश्वर का पद दिया गया, उसका शायद यही रहस्य है। हम पहले ही देख चुके हैं कि ऋग्वेद में जिन केशियों और मुनियों का उल्लेख है, वह संभवतः कुछ आर्योंतर तपस्विवर्ग था, जो संसार का त्याग कर तपश्चर्या करता था। वैदिक आर्य इस वर्ग के लोगों को किंचित् रहस्यमय प्राणी तो समझते ही थे, साथ ही संभव है कि उनके योगाभ्यास, उनकी तपश्चर्या और प्रकृति के साथ उनके अन्तरंग संपर्क ने आयों को प्रभावित किया तथा वे उनकी श्लाघा के पात्र बने। जो कर्मकांड की उपयोगिता को नहीं मानते थे, और जो ब्रह्मसाक्षात् के लिए नये साधनों तथा उपायों को ढूँढ़ने एवं जीवन तथा सुष्ठु-विषयक उद्भुद्ध मूल प्रश्नों के उपयुक्त उत्तर खोजने में लगे हुए थे, उनमें जैसे-जैसे समय बीतता गया, श्लाघा की यह भावना बढ़ती गई। उनकी दृष्टि में इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए, ध्यान और तपश्चर्या द्वारा योगाभ्यास, कर्मकांड के अनेक विधानों के यंत्रवृत् संपादन की अपेक्षा, अधिक उपयोगी था। अतः संभव है कि मुनियों और केशियों के आचार और अभ्यास को इन विचारकों ने धीरे-धीरे अपनाया हो और उसमें विकास किया हो। इस प्रकार उस आन्दोलन का सूत्रपात हुआ, जिसने भारतीय धार्मिक विचारधारा और आचार में आमूल परिवर्तन कर दिया, तथा उपनिषद् ग्रन्थ जिसके प्रथम साहित्यिक प्रमाण हैं।

अब जैसा हम देख चुके हैं, रुद्र कभी भी विशुद्ध रूप से कर्मकांड के देवता नहीं थे; पर ब्राह्मण ग्रन्थों के समय तक वह एक प्रमुख देवता बन गये थे जिनका अपना वास्तविक व्यक्तित्व था। अतः जब इन विचारकों ने धार्मिक विचारधारा में यह नया आन्दोलन शुरू किया, तब स्वभावतः उन्होंने कर्मकांड के अन्य देवताओं को छोड़कर इसी देवता की उपासना का अपनाया। इस प्रकार रुद्र की उपासना जन-साधारण में ही नहीं, अपितु आर्यजाति के सबसे उन्नत और प्रगतिशील वर्गों में भी होने लगी। इससे रुद्र के पद में और भी बृद्धि होना स्वाभाविक ही था। चूँकि किसी भी समाज में नीति और सदाचार की भावना और ‘ऋत’ की कल्पना, सर्वप्रथम उसके उन्नत और प्रगतिशील वर्गों में ही विकसित होती है। अतः पहले का ही शक्तिशाली रुद्र, जिनका आतंक लोगों के हृदयों पर छाया हुआ था, इस ‘ऋत’ के मूर्तिमान् स्वरूप बन गये, जब कि अन्य देवता सर्वशक्तिमान् यज्ञविधि के समद्वा-

क्षीण होते चले जा रहे थे। इससे रुद्र का पद निश्चित रूप से इन अन्य देवताओं से ऊँचा हो गया, और नाम से ही नहीं, अपितु वास्तव में वह 'महादेव' बन गये।

ब्राह्मण ग्रन्थों के समय तक रुद्र को यह गौरवास्पद प्राप्त हो गया था। रुद्र की अन्य देवताओं द्वारा उपेक्षा होने पर भी सब देवता उनसे डरते थे, इसीलिए उन्हें 'देवाधिपति' कहा गया है।^१ 'ईशान' और 'महादेव' अब उनके साधारण नाम हैं। परन्तु इस प्रसंग में सबसे महत्वपूर्ण संदर्भ 'ऐतरेय ब्राह्मण'^२ में है, जहाँ प्रजापति की सरस्वती के प्रति अग्रम्य गमन की कथा कही गई है।^३ प्रजापति के अपराध से देवता कुद्ध हो जाते हैं, और अन्त में उनको दंड देने के लिए रुद्र को नियुक्त करते हैं। इस कथा में अन्य देवताओं की अपेक्षा रुद्र का नैतिक उत्कर्ष स्पष्ट दिखाई देता है। अन्य देवता प्रजापति के स्तर पर ही हैं; क्योंकि वे सब-के-सब यजकर्म के प्रबल नियमों के अधीन हैं। अतः वे स्वयं प्रजापति को दंड देने में असमर्थ हैं। परन्तु रुद्र पर ऐसा कोई वन्धन नहीं है, और इसी कारण, वही प्रजापति के दंड का विधान करते हैं। यह बात जैमिनीय ब्राह्मण में और भी स्पष्ट हो जाती है, जहाँ इसी कथा का रूपान्तर दिया गया है।^४ यहाँ यह कहा गया है कि देवताओं ने प्राणिमात्र के कर्मों का अवलोकन करने और धर्म के विरुद्ध आचरण करने वाले का विनाश करने के उद्देश्य से रुद्र की सृष्टि की। रुद्र का यह नैतिक उत्कर्ष ही था जिसके कारण उनका पद ऊँचा हुआ, और जिसके कारण अन्त में रुद्र को परम परमेश्वर माना गया। इस बात के संकेत भी हमें मिलते हैं कि कुछ लोग तो ब्राह्मण ग्रन्थों के समय में ही रुद्र को इस प्रकार मानने लगे थे; क्योंकि जब प्रजापति को दंड दे चुकने पर देवताओं ने रुद्र को पारितोषिक के रूप में कुछ देना चाहा, तब रुद्र ने विश्व की प्रत्येक वस्तु को अपना बताया। 'नामानेदिष्ट'^५ की कथा में भी रुद्र ने इसी प्रकार अपना अधिकार जताया है, और नामानेदिष्ट के पिता ने भी इसका समर्थन किया है।^६

रुद्र की उपासना ने ब्राह्मणों के कर्मकांड को जब इस प्रकार चुनौती दी, तब शायद ब्राह्मण पुरोहितों ने रुद्र को सामान्य देवमंडल के अनुर्गत करने और इस तरह यथासंभव रुद्र की उपासना को पुरातन वैदिक उपासना के अनुकूल बनाने का प्रयास किया। उन्होंने इसके दो ढंग निकाले। पहले तो उन्होंने रुद्र और अग्नि के पुराने तादात्म्य पर जोर दिया। इसका संकेत हमें यजुर्वेद में ही मिल जाता है, जहाँ अग्नि-द्वारा देवताओं की संपत्ति का अपहरण किये जाने की कथा में रुद्र और अग्नि का तादात्म्य किया गया है,^७ तथा सोमारौद्र चरु दोनों को एक ही माना गया है, और उनके नाम साधारण रूप से एक दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त किये जाते हैं।^८ ब्राह्मण ग्रन्थों में रुद्र का नियमपूर्वक 'अग्निस्त्रिष्ठिकृत' से तादात्म्य

१. कौशीतकी : २३,३।

२. ऐतरेय : ३,१३,४।

३. जैमिनीय : ३,२६१,६३।

४. ऐतरेय : ५,२२,६।

५. यजुर्वेद : (तैत्तिरीय संहिता) १,५,१।

६. „ : „ „ २,२,१०।

किया गया है।^१ दूसरे, ब्राह्मणों ने रुद्र के जन्म के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ रचीं, जिनमें रुद्र का अन्य देवताओं के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की और उनके कर्मकांड-विरोधी स्वरूप को ढूँकने की चेष्टा की गई है। इसी तरह 'कौशीतकी ब्राह्मण' में रुद्र का जन्म अग्नि, वायु, आदित्य और चन्द्रमस् के बीज से बताया गया, जो स्वयं प्रजापति द्वारा उत्पन्न किये गये थे।^२ 'शतपथ ब्राह्मण' में रुद्र को संवत्सर और ऊपा के मिलन से उत्पन्न बताया गया है।^३ 'जैमिनीय ब्राह्मण' में एक स्थल पर कहा गया है कि यज्ञ में जाते समय देवताओं ने अपने क्रूर अंशों को अलग कर दिया, और इन क्रूर अंशों से ही रुद्र की उत्पत्ति हुई।^४ रुद्र की विविध उपाधियाँ अब उनके अनेक नाम माने जाते हैं, जो रुद्र के जन्म पर प्रजापति ने उन्हें दिये थे। इनमें एक नाम है 'अशनि', जिसका कौशीतकी ब्राह्मण में उल्लेख हुआ है और जो रुद्र के प्राचीन विद्युत् स्वरूप की ओर संकेत करता है। इन कथाओं में रुद्र का 'सहस्राक्ष' और 'सहस्रपात्' भी कहा गया है। ऋग्वेद में ये विशेषण पुरुष के लिए प्रयुक्त किये गये हैं। रुद्र के उत्कर्ष का यह एक और संकेत है।

प्राचीन वैदिक साहित्य का निरीक्षण समाप्त हुआ। अब उत्तर वैदिक साहित्य का निरीक्षण करने से पहले, हमें अपनी खोज का एक अन्य सूत्र पकड़ना है। अतः यह अच्छा होगा कि हम संक्षेप में यह देखें कि अब तक की हमारी छान-बीन का क्या निष्कर्ष निकलता है।

हमने देखा कि अन्य प्राचीन वैदिक देवताओं की तरह रुद्र की कल्पना भी प्राकृतिक तत्त्वों के मानवीकरण से की गई थी। वे घने मेघों में चमकती हुई विद्युत् के प्रतीक थे। विद्युत् के प्रतीक होने के कारण रुद्र और अग्नि का तादात्म्य भी धीरे-धीरे व्यक्त हो गया। रुद्र के बाणों से पशुओं और मनुष्यों के विनाश का भय था। इसी से उनकी रक्षा के लिए रुद्र को प्रसन्न करने की चेष्टा की जाती थी और इस प्रकार कालान्तर में उनको स्वयं पशुओं का संरक्षक अथवा स्वामी माना जाने लगा। रुद्र के द्वारा जो कल्याणकारी वर्षा होती थी, उसके कारण रुद्र का सम्बन्ध उर्वरता और पेड़-पौधों से हो गया और उनको 'भिषक्' की उपाधि दी गई। उर्वरता और पेड़-पौधों का देवता होने के नाते रुद्र के अधिकतर उपासक वे लोग थे, जो खेती करते थे अथवा पशु पालते थे। उच्चर्वग के लोगों में, जिनके मनोनीत देवता पराक्रमी इन्द्र और हविर्वाहक अग्नि थे, रुद्र के उपासक कम ही थे। अतः प्रधान रूप से रुद्र एक लोकप्रिय देवता थे, और इसी कारण शृग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद में उनका स्थान अधिक प्रमुख है। अथर्ववेद के एक मंत्र के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि कभी-कभी रुद्र को नरवलि भी दी जाती थी। परन्तु वैदिक आयों में यह प्रथा अधिक समय तक न ठहर सकी।

१. कौशीतकी : ३,६ इत्यादि।

२. , : ६,१।

३. शतपथ : ६,१,३।

४. जैमिनीय : ३,२६१,२६३।

जब वैदिक आर्यों ने भारतवर्ष में अपने प्रमुख को विस्तार करना शुरू किया, तब धीरे-धीरे रुद्र ने अन्य उर्वरता-सम्बन्धी उन देवताओं को—जिनका स्वरूप रुद्र से कुछ मिलता-जुलता था और जिनकी उपासना आर्यों के प्रमाव चौत्र में आनेवाला विभिन्न आर्येतर जातियों में होती थी—आत्मसात् कर लिया। इनमें से एक देवता के साथ एक रुद्री देवता भी थी, जिसका उल्लेख यजुर्वेद में रुद्र की भगिनी के रूप में किया गया है। उसका नाम है—अभिका, जिसका अर्थ है 'माता'। अन्य देवताओं को इस प्रकार आत्मसात् कर लेने के कारण रुद्र के उपासकों की संख्या बहुत बढ़ गई, और फलस्वरूप रुद्र का महत्व भी बढ़ गया। इसके साथ-साथ रुद्र ने इन देवताओं के कुछ ऐसे गुणों और कर्मों को भी अपना लिया और उनके साथ कुछ ऐसी रीतियाँ और विधियाँ भी रुद्र की उपासना में प्रविष्ट हो गईं। जिनको आर्यों के पुरातनवादी वर्ग पसन्द नहीं करते थे। इससे रुद्र आर्यों के प्रधान देव-मंडल से और भी दूर हट गये। परन्तु जब ब्राह्मणों ने वैदिक कर्मकांड को बढ़ाया, तब इसी दूरी के कारण रुद्र की वह दशा नहीं हुई जो अन्य देवताओं की हुई। जब अन्य देवताओं के पुराने व्यक्तित्व की केवल स्मृति शेष रह गई, तब भी रुद्र एक सजीव और शक्तिशाली देवता बने रहे। धीरे-धीरे रुद्र की उपासना आर्यों के प्रगतिशील विचारकों में भी फैली, जिन्होंने कर्मकांड को अस्वीकार कर दिया था। रुद्र के पदोत्कर्ष का शायद यह सबसे बड़ा कारण था, और ब्राह्मण ग्रन्थों के समय तक रुद्र को एक महान् देवता माना जाने लगा था, जो अन्य देवताओं से बहुत ऊपर थे। कुछलोग तो इन्हें परम परमेश्वर भी मानने लगे थे।

इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों के समय तक, रुद्र आर्य-धर्म के एक प्रधान देवता बन गये थे। पौराणिक शिव के स्वरूप और उपासना के बहुत-से प्रमुख अंश, वैदिक रुद्र के स्वरूप और उनकी उपासना से ही लिये गये हैं। स्वयं 'शिव' यह नाम भी वैदिक रुद्र की प्रशंसा-सूचक उपाधि है, जो सबसे पहले यजुर्वेद में पाई जाती है। शिव के दूसरे नामों की उत्पत्ति कैसे हुई, यह भी हम ऊपर देख आये हैं। शिव के तीन नेत्रों की कल्पना, रुद्र की उपाधि 'च्यम्बक' के अर्थ के विषय में भ्रम हो जाने से हुई, और 'नीलशिखंड' जैसी उपाधि में हमें शिव के हलाहलपान की पौराणिक कथा का बीज मिलता है। यह उपाधि यजुर्वेद में 'नीलशीव' में परिणत हो गई। 'कपर्दिन' और 'केशिन' प्रभृति वैदिक रुद्र की उपाधियों के कारण पौराणिक शिव के जटाधारी स्वरूप की कल्पना हुई। केशियों और मुनियों के साथ वैदिक रुद्र के पुराने साहचर्य के फलस्वरूप पौराणिक शिव के योगाभ्यास के साथ सम्बन्ध और उनके महायोगी स्वरूप की उत्पत्ति हुई। वैदिक रुद्र का आवास उत्तरी पर्वतों में मान लेने से ही अप्रकाल में शिवधाम कैलास की देवकथा बनी। यजुर्वेद के शतरुद्रिय स्तोत्र में रुद्र के धनुष को 'पिनाक' कहा गया है और वाद में शिव के धनुष का यही नाम पड़ गया। वैदिक रुद्र की उपाधि 'कृत्तिवासा' के कारण ही पौराणिक शिव को भी 'कृत्तिधारी' माना गया। अन्त में हमने यह भी देखा है कि किस प्रकार रुद्र की उपासना में विभिन्न बाह्य अंशों का समावेश हुआ। इससे पौराणिक शैव-धर्म का वह स्वरूप बना, जिसके अन्तर्गत इतने विविध प्रकार के विश्वास और रीति-रिवाज आ गये, जितने शायद किसी धर्म में नहीं आये।

परन्तु पौराणिक शैव धर्म के कुछ ऐसे भा। प्रमुख अंश हैं, जिनको हम इस प्रकार प्राचीन वैदिक रुद्र की उपासना में नहीं पाते और इस कारण जिनका उद्भव हमें कहीं और खोजना पड़ेगा। इनमें सबसे पहले 'लिंग-पूजा' है, जो अपर वैदिक काल में शिवोपासना का सबसे प्रमुख रूप बन गई। ऊपर के निरीक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक साहित्य में कोई ऐसा संकेत नहीं है जिससे यह अनुमान लगाया जा सके कि रुद्र की, किसी समय भी इस रूप में, पूजा होती थी। न हमें कोई ऐसा प्रमाण ही मिलता है कि किसी वैदिक विधि में लिंग के प्रतीकों की पूजा होती थी। यह ठीक है कि जननेन्द्रियों की बहुधा चर्चा हुई है और अनेक रूपक और लक्षणवाक्य संभोग कर्म के आधार पर वाँचे गये हैं, जो सम्भवतः कुछ उर्वरता सम्बन्धी संस्कारों के अंग भी थे। उदाहरणातः अश्वमेघ यज्ञ की वह विधि, जहाँ यजमान की प्रधान पत्नी को बलि दिये हुए अश्व के साथ सहवास करना पड़ता था। परन्तु किसी बात से यह पता नहीं चलता कि लिंग के प्रतीकों की कभी उपासना होती थी या उनका सत्कार किया जाता था अथवा उनका कोई धार्मिक या चमत्कार-सम्बन्धी महत्व दिया जाता था। इससे डा० लक्ष्मण स्वरूप के उन तकों का निराकरण हो जाता है जिनसे उन्होंने हाल के एक लेख में यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि यजुर्वेद और शतपथ ब्राह्मण में अश्वमेघ यज्ञ का जो वर्णन दिया गया है, उससे लिंग-पूजा का अस्तित्व सिद्ध होता है^१। अतः जब अपर वैदिक काल में हम देखते हैं कि शिव की उपासना का लिंग-पूजा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, तब हमें यह मानना ही पड़ता है कि यह सम्बन्ध किसी वाह्य प्रभाव का फल है, जिसका स्रोत हमें खोजना है।

अपर वैदिक शैव धर्म का दूसरा बड़ा स्वरूप—शक्ति-पूजा है। हम देख चुके हैं कि यजुर्वेद में रुद्र के साथ एक स्त्री-देवता का भी उल्लेख हुआ है, जो उसकी बहन बताई गई है। परन्तु उसका स्थान नगण्य है और उस एक संदर्भ को छोड़कर, जहाँ उसका उल्लेख हुआ है, समस्त वैदिक साहित्य में उसका और कहीं उल्लेख नहीं है। इसके विपरीत अपर वैदिक काल में 'शक्ति' प्रथम श्रेणी का देवता है, जो महामाता मानी जाती थी। उसकी उपासना स्वतन्त्र रूप से होती थी और उसका पद शिव के बिलकुल बराबर था। शक्ति के स्वरूप और उसकी उपासना का, केवल यह मानने से संतोष-जनक समाधान नहीं हो सकता है कि यह उपासना अम्बिका अथवा किसी और वैदिक स्त्री-देवता की उपासना का विकास मात्र है। अतः यहाँ फिर हमें कोई वैदिकेतर स्रोत खोजना पड़ेगा जिसको हम शक्ति की उपासना का उद्भव मान सकें।

तीसरा स्वरूप है—स्थायी उपासना-भवनों का निर्माण और उनमें मूर्तियों की स्थापना करना, जो अपर वैदिक काल में भारत के तमाम मतों की उपासना का सामान्य रूप बन गया था, वैदिक उपासना के बिलकुल प्रतिकूल है। वैदिक आओं ने बड़ी-बड़ी यज्ञ-वेदियों और कुछ अस्थायी मंडपों से अधिक कभी कुछ नहीं बनाया। इन दोनों में से किसी को भी स्थायी बनाने का कोई उद्देश्य नहीं होता था। जहाँ तक मूर्तियों का प्रश्न है, हमारे पास इस बात का कोई

१. लक्ष्मणस्वरूप—ऋग्वेद एण्ड मोहंजोदहो : इण्डियन कल्चर, अक्टूबर, १९३७ १०।

प्रमाण नहीं है कि आयों ने कभी देव-मूर्तियाँ बनाईं, यद्यपि देवताओं की कल्पना वह पुरुष-विध ही करते थे। अतः मन्दिरों में उपासना की प्रथा भी, संभवतः विदेशों से ही भारत में आई। यहाँ मैं एक आपत्ति का पहले से ही निराकरण कर देना चहता हूँ। यद्यपि मैं यह मानता हूँ कि भारत में मन्दिर और मूर्तियाँ बनाने की प्रथा किसी विदेशी प्रभाव के अधीन शुरू हुई; परन्तु इससे मेरा यह मतलब कदापि नहीं है कि मन्दिरों और मूर्तियों के आकार भी विदेशी थे। एक बार इस विचार के उत्पन्न हो जाने के बाद बहुत संभव है कि इनकी रूप-रेखा धीरे-धीरे वैदिक काल के स्थायी मंडपों से ही विकसित हुई हो। परन्तु यह विचार आया कहाँ से? आयों के मस्तिष्क में यह स्वतः उत्पन्न हुआ हो, ऐसा तो हो नहीं सकता; क्योंकि समस्त वैदिक धर्म में मन्दिरों की पूजा-विधि का कोई स्थान नहीं है, और न उपनिषदों की धार्मिक विचार-धारा को उपासना के स्थायी भवनों की अपेक्षा थी। सच तो यह है कि भारतवर्ष में तो सदा से ही, धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नति का सर्वोच्च रूप उसीका माना गया है, जिसमें मन्दिरों और मूर्तियाँ जैसे वाह्य साधनों की आवश्यकता ही न पड़े। अतः जब हम देखते हैं कि अपर वैदिक धर्म में मन्दिरों और मूर्तियों—दोनों का बड़ा महत्व है, तब हमें यह मानना पड़ता है कि महान परिवर्तन वैदिक धार्मिक विचार-धारा और उपासना विधि का स्वाभाविक विकासमात्र नहीं है, अपितु किसी प्रबल वाह्य प्रभाव का परिणाम है।

पौराणिक शैव धर्म के उपर्युक्त प्रमुख अंशों के अतिरिक्त, अनेक अप्रमुख अंश भी ऐसे हैं जिनका स्रोत भी इस प्रकार हम वैदिक रुद्र की उपासना में नहीं पा सकते। इस कारण उनका उद्भव कहीं और हूँढ़ना पड़ता है। इन सब बातों से यह आवश्यक हो जाता है कि हम अपनी खोज का दूसरा सूत्र पकड़ें और यह पता लगावें कि यह कौन-सा वाह्य प्रभाव था, जिससे वैदिक रुद्र की उपासना में मौलिक परिवर्तन हुआ और उपरिलिखित सारी विशेषताएँ जिस धर्म में थीं; उस अपर वैदिक शैवधर्म का विकास हुआ।

द्वितीय अध्याय

पिछले कुछ वर्षों से भारतवर्ष में और आस-पास के प्रदेशों में जो पुरातात्त्विक खोजें हुई हैं, उनसे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि भारतीय आर्यों ने अपनी सभ्यता का विकास विलकुल अलग-अलग रहकर किया, वह ठीक नहीं है। तथ्य यह है कि प्रारम्भ से ही आर्य जाति का, भारत का और अन्य देशों की दूसरी सभ्य जातियों के साथ, सक्रिय सम्पर्क रहा। सिन्धु-घाटी में जा कुछ पाया गया है, वह तो विशेष रूप से बड़े महत्व का है; क्योंकि उससे भारत के आर्यपूर्व युग के इतिहास पर प्रकाश पड़ता ही है। इसके साथ-साथ वह एक ऐसी खोई हुई कड़ी हमें मिलती है, जो भारतीय सभ्यता को पश्चिम एशिया की सभ्यताओं से मिला देती है और हमें बताती है कि किस प्रकार अनेक प्रकार के जातीय और सांख्यिक ग्रंथों के सम्मिश्रण से और विभिन्न जातियों की विविधमुखी प्रतिभा के मेल से भारतीय सभ्यता अपने चरमोकर्ष को पहुँची। सबसे बढ़कर महत्व की बात तो यह है कि सिन्धु-घाटी की खोजों से हमें अनेक अप्रत्याशित सुराग मिलते हैं जो भारतीय धर्म और संकृति के बहुत से ऐसे पहलुओं को समझने में सहायक हुए हैं, जिनका समाधान अभी तक भारतीय सभ्यता का अध्ययन करनेवाले नहीं कर सके थे। शैवधर्म के इतिहास के लिए तो इन खोजों का अपार महत्व है। इनसे शैव मत के उन्हीं रूपों का समृच्छित समाधान हो जाता है, जिनका उद्भव हम वैदिक धर्म में नहीं पा सकते—और जिनको अभी तक संतोषजनक ढंग से समझाया नहीं जा सका था।

सर्वप्रथम हम शैव मत के सबसे प्रसुख रूप ‘लिंगपूजा’ को लेते हैं। यह तो निश्चित है कि जिस लिंग रूप में भगवान् शिव की उपासना सबसे अधिक होती है, वह प्रारम्भ में जननेन्द्रिय सम्बन्धी था। यह ठीक है कि कुछ विद्वान् ऐसा नहीं मानते और उन्होंने ‘लिंग’ को अन्य प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया है^१। उनके समर्त तर्कों का आधार यही है कि अपर काल में ‘लिंग’ का जननेन्द्रिय से कोई सम्बन्ध नहीं था और वैदिक धर्म में भी जननेन्द्रियों की उपासना का विलकुल कोई संकेत नहीं मिलता। परन्तु यह सब तर्क उन अकाट्य प्रमाणों के आगे अमान्य हो जाते हैं, जो निश्चित रूप से यह सिद्ध कर देते हैं कि प्रारम्भ में ‘लिंग’ जननेन्द्रिय-सम्बन्धी था। कुछ अतिप्राचीन और यथार्थरूपी वड़ी लिंगमूर्तियाँ तो हमें मिलती ही हैं^२। इसके अतिरिक्त महाभारत में बड़े स्पष्ट और असंदिग्ध रूप से कहा गया है कि लिंगमूर्ति में भगवान् शिव की जननेन्द्रिय की ही उपासना होती थी। इसी कारण शिव को अद्वितीय और अन्य देवताओं से पृथक् माना है, जिनकी जननेन्द्रियों की इस प्रकार उपासना नहीं की जाती थी^३। प्राचीन पुराणों में भी लिंगमूर्ति

१. श्री सौ० वी० अय्यरः ओरिजिन एन्ड अर्ली हिन्दी आफ शैविज्ञ इन साउथ इंडिया।

२. यथा गुडीमल्लम् की लिंगमूर्ति।

३. इस पुस्तक का चौथा अध्याय देखिए।

को जननेन्द्रिय-सम्बन्धी माना गया है, और उसकी उपासना का कारण बताने के लिए अनेक कथाएँ रची गई हैं^१। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि जननेन्द्रिय-सम्बन्धी प्रतीकों की उपासना चाहे वैदिक धर्म में बिलकुल न रही हो, कालान्तर में तो उसका भारतीय धर्म में समावेश हो ही गया और वह स्दूर की उपासना के साथ सम्बन्धित हो गई। हमारे सामने अब प्रश्न यह है कि यह कव और कैसे हुआ?

जननेन्द्रियों की उपासना का प्राचीन सभ्य संसार में बहुत प्रचार था। आदि मानव के मरितष्क पर समर्पण पार्थिव जीवन की आशारभूत प्रजनन-प्रक्रिया का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। इसके अतिरिक्त आदि मानव के अप्रौढ़ विवेक ने मैथुन कर्म और पशुओं तथा धान्य की उर्वरता के बीच एक कारणकार्य सम्बन्ध स्थापित कर दिया^२। इसीसे लिंगोपासना का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका एक रूप जननेन्द्रियों की उपासना है। चूँकि प्राचीन संसार के प्रायः सभी धर्मों का विकास अतिप्राचीन उर्वरता-सम्बन्धी विधियों से हुआ और उर्वरता-सम्बन्धी विधिविदेवता ही उनके उपास्य बने, अतः लिंगोपासना उन सबका एक प्रमुख अंग बन गई। इस प्रकार जब प्रजनन-प्रक्रिया को धार्मिक सम्मान मिला, तब यह खाभाविक ही था कि जिन इन्द्रियों द्वारा यह प्रक्रिया संपन्न होती है, उनमें भी एक रहस्यमयी शक्ति का अरितत्व माना जाय। इसी कारण उनकी भी उपासना होने लगी और प्रायः सभी देशों में जहाँ उर्वरता-सम्बन्धी धर्मों का प्रचार था, लिंग और योनि की किसी-न-किसी रूप में प्रतिष्ठा होने लगी। एक और मिथ्या में उनकी उपासना होती थी, जहाँ विशाल और यथार्थरूपी लिंगों के खुले आम और बड़े समारोह से जल्दी निकाले जाते थे, और यंत्रों द्वारा उनको गति भी दी जाती थी^३। दूसरी ओर जापान में भी वे पूजे जाते थे और साधारणतया लिंग-मूर्तियाँ अलग कर ली जाती थीं तथा पूजा के लिए सङ्कों के किनारे उनको स्थापित कर दिया जाता था^४। परन्तु लिंगोपासना का प्रमुख केन्द्र था—पश्चिम ऐशिया, जहाँ बैबीलोन और असीरियन लोगों की महान् सम्यताओं की उत्पत्ति हुई और जहाँ वे फूली-फलीं। इस प्रदेश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक, किसी-न-किसी देवता की उपासना के सम्बन्ध में लिंग-प्रतीकों की पूजा होती थी। यदि हम उत्तर से चलें तो सबसे पहले थ्रेस देश के उस देवता का परिचय मिलता है, जिसकी उपासना का प्रचार पश्चिम ऐशिया में संभवतः उस समय हुआ जब फिरिंगन (Phrygian) जाति यहाँ आकर बसी, और बाद में जो देवता ग्रीस में भी 'डायोनीसस' (Dionysus) के नाम से पूजा जाने लगा। डायोनीसस उर्वरता-सम्बन्धी देवता था—उस उर्वरा पृथ्वी का देवता, जिसकी गरमाहट और रसों से विशेषकर जीवन का संचार होता है^५। उसकी प्रजनन-शक्ति के प्रतीक के रूप में लिंगमूर्ति की उपासना होती थी और

१. इसका पाँचवाँ अध्याय देखिए।

२. क्लिफर्ड हाउवर्ड : सेक्स वरशिप।

३. हेरोडोटस : २, ४८।

४. E. R. E. IX : पृ० ८१६।

५. फारनेल : कल्द्स आफ दि ग्रीक स्टेट्स।

ग्रीक लोगों ने यह लिंगमूर्ति भी, इस देवता के समरूप उपासना के साथ, पश्चिम एशिया से ही ली। असीरिया में 'अशेरह' की उपासना होती थी। यह देवता 'बाअल' (Baal) और देवी 'अश्तोरेथ' (Ashtoreth) के संयोग का प्रतीक था। इसका रूप बिलकुल स्त्री-योनि सा था^१। इस प्रतीक के नमूने 'वेवीलोन' और 'निनवेह' में भी मिले हैं, जिससे यह पता चलता है कि इसकी उपासना एक बहुत बड़े प्रदेश में होती थी। कुछ और दक्षिण की ओर आते हुए हम देखते हैं कि वेवीलोन की देवी 'इश्तर' (Ishtar) और उसके पति देवता की उपासना में भी लिंगोपासना के इसी प्रकार के चिह्न मिलते हैं। 'इश्तर' की एक स्तुति में दो योनि-मूर्तियों के उपहार का उल्लेख किया गया है। इनको 'सल्ला' कहा गया है। इनमें एक नीलम की ओर दूसरी सोने की मूर्ति थी। इन्हें देवी का महान् प्रसाद माना जाता था^२। लिंगपूजा समेत 'इश्तर' की इस उपासना का प्रचार दक्षिण और दक्षिण-पूर्व में अखंक तथा ईरान में भी फैला हुआ था। यह ग्रीक इतिहासकार हेरोडोटस की वार्तां से प्रमाणित होता है। उसके कथनानुसार अखंक लोग इस देवी को 'अलिलत्' और ईरानी इसको 'मित्रा' कहते थे। इस दूसरे नाम से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ईरान में इस देवी को (सम्भवतः) प्राचीन ईरानी देवता 'मित्र' की पत्नी माना जाने लगा था, और इस प्रकार इस देवी की उपासना का प्राचीन ईरानी धर्म के साथ सम्मिश्रण हो गया था।

अब सिन्धु-घाटी की सभ्यता के जो अवशेष हमें 'मोहेंजोदड़ो' और अन्य स्थानों पर मिले हैं, उनसे वहाँ के लोगों के धर्म के बारे से जो कुछ हम जान सके हैं, उससे यह पता चलता है कि यहाँ भी इसी प्रकार की एक देवी की उपासना का प्रचार था। जिन-जिन स्थानों पर खुदाई की गई है, वहाँ हर जगह आंखें में पकाई हुई मिट्टी की छोटी-छोटी स्त्री-मूर्तियाँ मिली हैं, जो सम्भवतः इसी देवी की मूर्तियाँ हैं। ये निजी पूजा के लिए बनाई गई थीं। फिर जिस प्रकार पश्चिम एशिया में इस देवी के साथ एक पुरुष देवता का भी सम्बन्ध था, उसी प्रकार यहाँ भी एक पुरुष देवता था जिसके चित्र कलिपय मिट्टी की चौकोर टिकियों पर पाये गये हैं। इसके अतिरिक्त इन्हीं स्थानों पर अनेक पत्थर के लिंग-प्रतीक भी मिलते हैं, जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि सिन्धु-घाटी में भी लिंगोपासना का प्रचार था। इन प्रतीकों के जननेन्द्रिय-सम्बन्धी होने में कोई संदेह नहीं है; क्योंकि उनमें कुछ तो बड़े यथार्थरूपी हैं; यद्यपि अधिकांश का रूप रुदिगत हो गया है। इन्हीं स्थानों पर अनेक पत्थर के छल्ले भी मिले हैं, संभवतः 'लिंगयोनि' के जुड़वा प्रतीकों में योनि का काम देते थे। पश्चिम एशिया के भाँति यहाँ भी इस लिंगोपासना का सम्बन्ध देवी और उसके सहचर पुरुष देवता की उपासना के साथ था। इसमें संदेह की कोई गुंजाइश दिखाई नहीं देती; यद्यपि इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें तबतक नहीं मिल सकता जबतक कि सिन्धुघाटी में जो लेख मिले हैं, वे पढ़े नहीं जाते। फिर भी यह स्पष्ट है कि सिन्धु घाटी और पश्चिम एशिया की देवी की उपासना एक दूसरे से बहुत मिलती-जुलती थी। वैसे तो इस समानता से ही इन दोनों प्रदेशों की सम्यताओं के

१. छिफड़ हाउर्ड : सेक्स वरशिप।

२. P. S. B. A. : ३१, ६३ और E. R. E. VII : ४० ४३३।

परस्पर सम्बन्ध का संकेत मिलता है; पर इसके लिए हमारे पास और भी प्रमाण हैं, जिनसे यह सम्बन्ध निश्चित-सा हो जाता है। देवी की छोटी-छोटी मूर्तियाँ जैसी सिन्धु-घाटी में मिली हैं, वैसी ही ईजियन समुद्र के तट पर पश्चिम एशिया में भी मिलती हैं। इसी प्रदेश में लिंग-प्रतीक भी मिलते हैं, यह हम ऊपर बता ही चुके हैं। फिर जब इसके अतिरिक्त, हम यह भी देखते हैं कि 'मेसोपोटेमिया' की खुदाइयों में भारतवर्ष के बने गए, तावीज, मिट्टी के वरतन, देवदार के शहतीर आदि अन्य पदार्थ मिले हैं तथा सिन्धुघाटी की खुदाइयों में 'मेसोपोटेमिया' की बनी, वरमें से छिद्री, मिट्टी की एक टिकिया और अन्य वल्तुएँ पाई गई हैं। तब हम इस निष्कर्ष पर पढ़ूँचे बिना नहीं रह सकते कि सिन्धु घाटी की सम्यता और पश्चिम एशिया की सम्यता यदि एक ही नहीं थी तो उनमें परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य था।

भारतवर्ष और पश्चिम एशिया की सम्यताओं के बीच इस घनिष्ठ सम्बन्ध का प्रत्यक्ष प्रमाण सर 'आरेल स्टाइन' की खोजों से मिला है। ये खोजें अभी हाल ही में वजीरितान और उसके आस-पास के प्रदेशों में हुई हैं। अपनी अनेक खोज-यात्राओं में उन्होंने बहुत-सी प्राचीन वस्तियों को ढूँढ़ निकाला है, जिनके भारत और मेसोपोटेमिया के बीच रित होने से, और वहाँ जिस प्रकार की वल्तुएँ मिली हैं, उनसे इन दोनों प्रदेशों की सम्यताओं के परस्पर सम्बन्ध के बारे में रहा-सहा सदेह भी लगभग मिट ही जाता है। सर आरेल स्टाइन को वजीरितान में विभिन्न रथलों पर देवी की पकी मिट्टी की छोटी-छोटी मूर्तियाँ मिलीं,^१ जिनसे यह सिद्ध हो जाता है कि इस प्रदेश में भी देवी की उपासना होती थी, अतः इस प्रदेश का और सिन्धु-घाटी का धर्म एक-सा ही था। इस प्रदेश की वृक्षम मूर्तियाँ, माला के दाने, मिट्टी के वरतन प्रभृति वल्तुएँ भी सिन्धु-घाटी की वल्तुओं के सदृश ही हैं। 'सुगुल बुंडाई' पर एक मिट्टी के वरतन का ढुकड़ा मिला है। उस पर कुछ लिखाई भी है, जो सिन्धु-घाटी की टिकियों पर की लिखाई से मिलती-जुलती है^२। इससे यह सिद्ध होता है कि यह प्रदेश सिन्धु-घाटी की सम्यता के प्रभाव क्षेत्र के अन्दर था। इसके साथ-साथ, इस प्रदेश के लगभग सब रथलों पर ऐसे वरतनों के ढुकड़े प्रचुर मात्रा में मिलते हैं, जिन पर चित्रकारी की गई थी। इस चित्रकारी के मुख्य प्रकार सुमेर युग से पहले की 'मेसोपोटेमिया' का चित्रकारी मुख्य प्रकारों से बहुत मिलते हैं। इससे इन प्रदेशों का पश्चिम एशिया से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, और भारत तथा पश्चिम एशिया को मिलानेवाली शूँखला पूरी हो जाती है।

सिन्धु-घाटी और पश्चिम एशिया की सम्यताओं के इस घनिष्ठ सम्बन्ध को देखकर यह मानना कठिन है कि सिन्धु-घाटी में लिंगोगसना की उत्पत्ति ख्वतन्त्र रूप से हुई। अधिक सम्भावना इसी बात की है कि देवी की उपासना के साथ-साथ यह भी पश्चिम एशिया से भारत में आई। यहाँ भी सर 'आरेल स्टाइन' की खोजों से हमें इस तथ्य का अन्तिम प्रमाण

१. मैके : इंडस सिविलिजेशन।

२. सर ए. स्टाइन : मैसुआर आफ दि आर्कियोलोजिकल सवे आफ इंडिया नं० ३७।

३. सर ए. स्टाइन : मैसुआर आफ दि आर्कियोलोजिकल सवे आफ इंडिया नं० ३७, पृ० ४२, प्लेट १०।

मिला है; क्योंकि यदि हम यह मान लें कि लिंगोपासना भारत में पश्चिम से आई, तो इसके कुछ चिह्न हमें रास्ते में कहीं मिलने चाहिए। ऐसे चिह्न हमें वजीरिस्तान के दो स्थलों पर मिलते हैं। पेरियानों बुंडई में सर आरेल स्टाइन को एक पदार्थ मिला, जिसे वह उस समय पहचान न सके^१; परन्तु जिसको अब स्पष्ट रूप से पहचाना जा सकता है कि वह एक 'योनि' का ही प्रतीक है। सर जान मार्शल ने उसे यही बताया भी है। 'मुगुल बुंडई' पर एक और पदार्थ मिला, जो एक बड़ा यथार्थ 'लिंग' का प्रतीक है^२। ऐसे ही प्रतीकों के अन्य नमूने भी भविष्य में शायद इस प्रदेश में मिलें^३। अतः हम यह मान सकते हैं कि इस प्रदेश में लिंगोपासना का प्रचार था या कम से कम लोग उससे परिचित अवश्य थे।

यहाँ यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि मिट्टी के केवल दो टुकड़ों के आधार पर हम कोई लम्बे-चौड़े निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। परन्तु ऊपर हमने पहले ही इन प्रदेशों में देवी की उपासना के प्रचार के ग्रामण उपस्थित कर दिये हैं। लिंगोपासना चूँकि इस देवी के उपासना के साथ जुड़ी हुई थी, अतः सम्भावना यही है कि यहाँ उसका भी प्रचार था और ये मिले दो पदार्थ भी इस सम्भावना को पुष्ट करते हैं। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इन दो पदार्थों से ही इस प्रदेश की उपलभ्य सामग्री का अन्त नहीं हो जाता। भारतवर्ष और ईरान के बीच के प्रदेश में, जिसमें सर 'आरेल स्टाइन' ने पहले-पहल खोज-यात्राएँ की हैं, अभी पुरातात्त्विक खोज बढ़त कम हुई है; किन्तु भविष्य में हमें अधिक सामग्री मिलने की संभावना है। हाँ, इस भूमाग से जरा और पश्चिम, खव्य ईरान में, इस प्रकार की सामग्री मिलने की संभावना कुछ कम है; क्योंकि यहाँ अपरकालीन सम्यताओं ने पूर्ववर्ती सम्यताओं के सब चिह्न पूर्ण रूप से मिटा दिये हैं। कुछ तो पुराने स्थलों पर नई इमारतें खड़ी कर दी गई हैं, और कुछ पुराने स्थलों से पश्चर निकाल-निकाल कर नई इमारतों में लगा दिये गये। परन्तु यदि हेरोडोटस का विश्वास किया जाय, तो एक समय इस देवी की उपासना ईरान में भी होती थी^४। कुछ भी हो वर्जिस्तान की खोजों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मेसोपोटेमिया की सं-कृति का प्रभाव पूर्व की ओर फैला और भारत तक पहुँचा। अतः ईरान पर भी निश्चित ही यह प्रभाव पड़ा होगा।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसी के आधार पर हमारा यह अनुमान समीचीन प्रतीत होता है कि सिन्धु-घाटी की लिंगोपासना उस लिंगोपासना का एक अंगमात्र था, जो समस्त पश्चिम एशिया में फैली हुई थी। अब यह विचार करना है कि इस लिंगोपासना का स्थ्र की उपासना में समावेश कैसे हुआ? इसके लिए हमें पहले तो यह देखना है कि सिन्धु-

१. सर ए स्टाइन : मेसुआर आफ दि आर्कियोलोजिस्ट सर्वे आफ इंडिया नं० ३७, पृ० ३८, लेट ६।

२. „ „ „ : नं० ३७, पृ० ४५, लेट १०।

३. 'मुगुल बुंडई' में एक तश्तरी की तरह का एक पदार्थ मिला है, जो अरकालीन शिवलिंगों की चौकी के समान है।

४. हेरोडोटस : १, १३१।

घाटी के लोगों और वैदिक आयों में परस्पर कैसे सम्बन्ध थे? यह निश्चित है कि वैदिक आयों के पंजाब में बसने से पहले सिन्धु घाटी के लोग निचली सिन्धु-घाटी में बसते थे और सम्भवतः उसके परे पूर्व और उत्तर की ओर काफी दूर तक फैले हुए थे। वैदिक आयों के पंजाब में आने का समय, जिस पर प्रायः सब विद्वान् का एक मत है, २५०० वर्ष ईसा पूर्व है। सिन्धु-घाटी की सभ्यता इससे काफी पुरानी थी; परन्तु मोहन्जोदड़ों में जो एक 'सुमेरोबेवी-लोनियन' मिट्टी की टिकिया मिली है, और जिसको श्री सी० एल० फैब्री ने २८००-२६०० ईसा पूर्व का बताया है, उससे सिद्ध होता है कि जिस समय वैदिक आर्य ऊपरी पंजाब में बस रहे थे, उस समय भी सिन्धु-घाटी के नगर आवाद और समृद्ध अवस्था में थे। अतः कुछ समय तक सबसे पहले वैदिक आर्य और सिन्धु-घाटी के लोग समकालीन रहे होंगे। पंजाब के मैदानों में बस जाने के तुरन्त पश्चात् ही वैदिक आयों ने दक्षिण और दक्षिण-पूर्व की ओर बढ़ना शुरू कर दिया था, अतः यह हो नहीं सकता कि यह दोनों जातियाँ शत्रु के रूप में या किसी और तरह से एक दूसरे के सम्पर्क में न आई हों। ख्ययं ऋग्वेद में ही इस सम्पर्क के प्रमाण मिलते हैं। ऋग्वेदीय सूक्तों में दासों, दस्युओं और आयों के अन्य अनेक शत्रुओं का उल्लेख हुआ है। इससे यह पता चलता है कि अपने इस नये आवास को उन्होंने सूना नहीं पाया, अपितु इसमें बहुत-सी जातियाँ पहले से ही आवाद थीं, जिन्होंने पग-पग पर इस भूमि पर अधिकार करने के लिए आयों का कड़ा विरोध किया। इन शत्रुओं के 'पुरो' और 'दुग्गों' का भी अनेक बार उल्लेख किया गया है जो पत्थर या लोहे के बने हुए थे^१। इससे यह भी सिद्ध होता है कि आयों के ये शत्रु, कुछ असम्य और वर्वर लोग नहीं थे, जिनको आयों ने सहज में ही अपने मार्ग से हटा दिया। अपितु, वे सम्य जातियाँ थीं, जिनके बड़े-बड़े नगर और किले थे, और वे संघठित रूप से रहती थीं। उनके साथ आयों के भयंकर युद्ध करने पड़े, इसके अनेक संकेत हमें मिलते हैं और इन्हीं युद्धों में विजय पाने के लिए आर्य लोग देवताओं से प्रार्थना करते थे। इससे हम सहज में ही अनुमान लगा सकते हैं कि इन शत्रुओं का युद्ध-कौशल और लड़ने की शक्ति आयों से कुछ कम नहीं थी। सच तो यह है कि यही वैदिक आर्य, जो इन शत्रुओं को तिरस्कार की भावना से दास और दस्यु कहते थे, अपनी सुविद्या के अनुसार उनसे सामरिक मेल करने से भी नहीं हिचकते थे^२। अतः जब हमारे पास इस बात का ख्यतन्त्र प्रमाण है कि जिन प्रदेशों में वैदिक आर्य लड़ाइयाँ लड़ रहे थे, लगभग उसी प्रदेश में, उसी समय, एक सम्य जाति का निवास था, तब इस बात की सम्भावना बहुत अधिक हो जाती है कि यही जाति, आयों का वह शत्रु थी या कम-से-कम उन शत्रुओं में से एक थी, जिनका उल्लेख ऋग्वेद के सूक्तों में हुआ है। इस तर्क के समर्थन में एक और प्रमाण भी है, जिससे वह पूर्णरूप से मान्य हो जाता है। वह तर्क है—ऋग्वेद में इन शत्रुओं को कुछ विशिष्टताओं का उल्लेख। जहाँ तक हमारा वर्तमान ज्ञान जाता है, ये विशिष्टताएँ केवल

१. उदाहरणार्थ ऋग्वेद, २, १४, ६।

२. यथा विख्यात 'दशराजन' युद्ध में।

सिन्धु-घाटी के लोगों में ही पाई जाती थीं। ऋग्वेद के दो विभिन्न रथलों पर ‘शिशनदेवा’ अर्थात् शिशन अथवा लिंग को देवता माननेवालों की चर्चा की गई है^१। यह उपाधि सिन्धु-घाटी के लोगों के लिए विलकुल ठीक बैठती है, जिनकी लिंगोपासना के सम्बन्ध में असंदिग्ध प्रमाणों का त्रिवरण हम अभी दे चुके हैं। अतः यह निश्चितप्राय है कि वैदिक आर्यों का सिन्धु-घाटी के निवासियों से परिचय था और बहुत सम्भव है कि इन दोनों का क्रियामक रूप से सम्पर्क हुआ। इन दोनों जातियों के संघर्ष का परिणाम हुआ आर्यों की विजय, और धीरे-धीरे अन्य देशों की तरह यहाँ भी पराजित अपने विजेताओं के साथ घुल-मिल गये, और उनका पृथक् व्यक्तित्व लुप्त हो गया। परन्तु यह सम्मिश्रण दो समान रूप से सम्भव जातियों का सम्मिश्रण था और जिनकी पराजय हुई थी, उनकी सम्यता अपने विजेताओं की सम्यता से कुछ आगे ही बढ़ी हुई थी। अतः सम्मिश्रण की इस प्रक्रिया में दोनों जातियों एक दूसरे से प्रभावित हुई^२। सिन्धु-घाटी के लोगों का अपना अलग व्यक्तित्व लुप्त हो गया; परन्तु उन्होंने वैदिक आर्यों की संस्कृति पर अपनी शायी छाप डाल दी। इन दोनों के सम्मिश्रण से जिस सम्यता का अभ्युदय हुआ, उसकी जड़ें सिन्धु नदी की घाटी में भी उतनी ही गहरी गई हुई थीं, जितनी कि सस सैन्धव में।

सिन्धु-घाटी के लोगों के वैदिक आर्यों के साथ सम्मिश्रण का सबसे पहला परिणाम यह हुआ कि वैदिक आर्यों के देवताओं ने सिन्धु-घाटी के देवताओं को आत्मसात् कर लिया। हमने ऊपर कहा है कि सिन्धु-घाटी में देवी की उपासना के साथ एक पुरुष-देवता की उपासना भी होती थी, जिसको सम्भवतः देवी का पति माना जाता था। देवी का पति होने के नाते उसका सम्बन्ध बहुत करके उर्वरता से रहा होगा, और इस प्रकार उसकी स्थिति कुछ ऐसी ही थी जैसी कि मिस्र में आसिरिस (Osiris) की या बेवीलोनिया में देवी ‘इश्तर’ के सहचर ‘ताम्मुज’ (Taammuz) की। सिन्धु घाटी में पाये एक शील-चित्र में, इस पुरुष-देवता के दोनों ओर एक व्याघ्र, एक हाथी, एक गैङ्गा और एक मैसा दिखाया गया है, उसके सिंहासन के नीचे दो हिरण्य दिखाये गये हैं। इस प्रकार शायद उसको पशुपति माना जाता हो। इन दोनों ही रूपों में वह वैदिक रुद्र के समान था और सम्भव है कि इन दोनों में और कुछ भी सादृश्य रहा हो। अतः जब सिन्धु घाटी के लोगों का वैदिक आर्यों के साथ सम्मिश्रण हुआ, तब इस देवता का वैदिक रुद्र के साथ आत्मसात् हुआ और उसके उपासक रुद्र के उपासक माने जाने लगे। यह प्रक्रिया कोई असाधारण प्रक्रिया नहीं थी; परन्तु इसके परिणाम अत्यन्त दूरव्यापी हुए।

सिन्धु-घाटी के लोग लिंगोपासक थे। ऊपर जिस शील-चित्र की चर्चा की गई है, उसमें पुरुष-देवता को ‘अर्ध्वमेढ़’ अवस्था में दिखाया गया है; यद्यपि लिंग को किसी प्रकार बढ़ा कर नहीं दिखाया गया है और न किसी अन्य प्रकार से उसकी ओर स्थान आकर्षित करने का प्रयत्न किया गया है। इसी चित्र में इस देवता को त्रिमुख दिखाया गया है, अतः

१. ऋग्वेद : ७, २१, ५; २०, ६६, ३।

२. मार्शल : मोहंजोदड़ो एंड दि इंडस सिविलिजेशन भाग १, पृ० ५२, सेट १२, नं० १७।

सम्भव है कि पुरुष नर का मिली एक भग्नमूर्ति, जिसकी गर्दन की मोटाई को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इसके भी तीन सिर रहे होंगे, इसी देवता की मूर्ति होगी। इस मूर्ति की जननेन्द्रिय ऐसी बनाई गई है कि उसको अलग किया जा सकता है। इन दोनों बातों से यह सम्भव हो जाता है कि सिन्धु-धाटी में उर्वरता-सम्बन्धी विधियों में जिस लिंग की उपासना होती थी, वह इस देवता का लिंग था। अतः जब इस देवता का वैदिक रुद्र के साथ आत्मसात् हुआ तब इस लिंगोपासना का रुद्र की उपासना में समावेश हो गया। पहले-पहल तो यह बात जरा विचित्र-सी लगती है कि आयों ने जिस प्रथा को गर्हित समझा था, (उपर्युक्त दो अृग्वेदीय मंत्रों में 'शिशनदेवा:' का उल्लेख वडे अपमान-सूचक ढंग से किया गया है) उसा को उन्होंने अपने एक देवता की उपासना का अंग बन जाने दिया। परन्तु, जैसा हम ऊपर कह आये हैं, लिंगोपासना एक बड़ी प्राचीन प्रथा थी और दूर-दूर तक इसका प्रचार था। इसकी परम्परा इतनी प्रवल थी और जिन लोगों में इसका प्रचार था, उनकी संख्या इतनी अधिक थी कि आर्य सम्भवतः इसका पूर्णरूप से दमन नहीं कर सके। इसके साथ स्वयं आयों की अपनी उर्वरता-सम्बन्धी विधियाँ थीं और रुद्र भी उर्वरता के देवता थे। अतः आयों के कुछ ऐसे वर्गों ने, विशेषतः उन वर्गों ने जिनमें ऐसा उर्वरता-सम्बन्धी विधियों का सर्वाधिक प्रचार था और जिनका सिन्धु-धाटी के लोगों का सबसे अधिक सम्पर्क हुआ। इस प्रथा को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं समझी। आखिर इस प्रथा का एक ऐसी जाति में सम्मान था जो आयों से कम सम्भव नहीं थी, और फिर उर्वरता-सम्बन्धी होने के नाते वह वैदिक आयों के जनसाधारण के धार्मिक आचार-विचार के सर्वथा प्रतिकूल नहीं थी। इस प्रकार लिंगोपासना का आयों में प्रचार हुआ।

आयों ने इस प्रकार लिंगोपासना को स्वीकार कर तो लिया; परन्तु शीघ्र ही उन्होंने उसके मूल स्वरूप को बिलकुल पलट दिया। अपनी मूल धार्मिक विचार-धारा की गृष्ठ-भूमि न रहने के कारण और आर्य-धर्म के प्रगतिशील विचारों के प्रभाव में आकर लिंगोपासना में कुछ-न-कुछ परिवर्तन तो आना ही था। यद्यपि पुरातनता के आदर से आयों ने उसके बाहरी आकार को तो बनाये रखा; तथापि धीरे-धीरे उसके सारे स्वरूप को बदल दिया। पुराने जननेन्द्रिय-सम्बन्धी विश्वास और आचार मिटते गये, लिंग-मूर्तियों का आकार भी यहाँ तक रूढ़िगत हो गया कि उनका मूल रूप पहचाना नहीं जा सकता था, और अन्त में भगवान् शिव का 'लिंग' एक प्रतीक मात्र होकर रह गया—उनके निर्गुण स्वरूप का केवल एक संकेत।

सिन्धु-धाटी के पुरुष-देवता और वैदिक रुद्र के समीकरण का दूसरा बड़ा परिणाम यह हुआ कि आर्य-धर्म में एक देवी की उपासना का समावेश हो गया। हम ऊपर कह आये हैं कि सिन्धु-धाटी के पुरुष-देवता की उपासना देवी की उपासना के साथ सम्बन्धित थी। रुद्र का भी 'अम्बिका' नाम की एक स्त्री-देवता के साथ सम्बन्ध था। अतः जब रुद्र ने सिन्धु-धाटी के पुरुष-देवता को आत्मसात् किया, तब यह रवाभाविक ही था कि सिन्धु-धाटी की देवी का अम्बिका के साथ समीकरण हो जाय। वैदिक साहित्य में अम्बिका

रुद्र की भगिनी है, पत्ना नहीं। यह बात हमारे इस अनुमान में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं करती; क्योंकि देव-कथाओं के ऐसे सम्बन्ध शीघ्र ही बदल जाते हैं। इस प्रकार सिन्धु घाटी की यह देवी रुद्र की पत्नी मानी जाने लगी। इन दोनों स्त्री देवताओं के समीकरण में सबसे बड़ी सुविधा यह हुई कि 'अभिका' शब्द का अर्थ है 'माता' और सिन्धु-घाटी की देवी की भी माता ही माना जाता था तथा दोनों का सम्बन्ध उर्वरता से था। नामों या उपाधियों के साम्य से देवताओं के समीकरण का एक और दृष्टान्त असीरिया की 'इश्तर' देवी है। उसकी एक साधारण उपाधि थी 'बेलिट' अर्थात् स्वामिनी। उसको निरन्तर 'रण की बेलित' अथवा इस या उस वस्तु की 'बेलित' कहा जाता था। परन्तु यही नाम बेबीलोन के देवता 'बेल' की पत्नी का भी था। यद्यपि बेबीलोन के शिला-लेखों में 'इश्तर' का 'बेल' के साथ कहीं भी उल्लेख नहीं है, फिर भी उसकी उपाधि का, 'बेल' की पत्नी के नाम के साथ, सादृश्य हीने के कारण, इन दोनों स्त्री देवताओं के सम्बन्ध में धीरे-धीरे ग्रम होने लगा और 'अशूरबीपाल' के समय तक दोनों को एक ही माना जाने लगा था। इस सम्बाट्के शिला-लेखों में 'इश्तर' को स्पष्ट रूप से बेबीलोन के देवता 'बेल' की पत्नी कहा गया है^१।

परन्तु रुद्र की पत्नी के रूप में इस देवी का पद, अन्य वैदिक देवताओं की पत्नियों से सर्वथा भिन्न था। अन्य देवताओं की पत्नियों का अपना व्यक्तित्व बहुत कम था, उनकी रुखाति अपने पति देवताओं के कारण ही थी। परन्तु रुद्र की पत्नी एक स्वतंत्र देवता थी और देवताओं में उसका मुख्य स्थान था। वह एक पूर्ण विकसित मत की आराध्य देवी थी, और इस मत में उसका स्थान अपने सहचर पुरुष देवता से बहुत ऊचा था। इस कारण प्रारम्भ से ही वह कभी रुद्र के व्यक्तित्व से अभिभूत नहीं हुई, अपितु उसका पद रुद्र के बराबर का था और उसका स्वतंत्र मत भी बना रहा जिसमें उसी को परम देवता माना जाता था। अतः रुद्र की पत्नी के रूप में और अपने स्वतन्त्र रूप में दोनों ही प्रकार इस देवी की उपासना हीने लगी। रुद्र-पत्नी के रूप में इसकी उपासना अपर वैदिक काल के शैव मत का एक अन्तरंग अंश बन गई, और अपने स्वतन्त्र रूप में इसकी उपासना से भारतवर्ष में शाक्त अथवा तांत्रिक मत का सूत्रपात हुआ^२।

शाक्त या तांत्रिक मत का उद्गम वैदिक धर्म में ढूँढ़ने के लिए अनेक प्रयास किये गये हैं। परन्तु इस सब का विफल होना अनिवार्य था; क्योंकि वैदिक धर्म में कोई ऐसी स्त्री देवता नहीं है, जिसकी बाद के शाक्त मत की देवी से जरा भी समानता हो। वैदिक धर्म में जो स्त्री देवता हैं भी, उनका स्थान बहुत निम्न है। कुछ सूक्तों में 'पृथिवी' का स्तवन किया गया है। परन्तु वह केवल इस धरणी का मानवीकरण है, और इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि वह कभी इस अवस्था से आगे बढ़ी हो। एक अन्य स्त्री देवता का 'रोदसी' नाम संभवतः पृथ्वी का ही एक दूसरा नाम था। उसकी 'नामों' में गणना की

१. जैस्ट्रो : रिलिजन आफ बेबीलोनिया एण्ड एसीरिया पृ० २०५-२०६।

२. इस मत में इस देवी की उपासना की उर्वरता-सम्बन्धी अनेक विधियाँ वरी रहीं।

गई है और एक बार उसको रुद्र की पत्नी कहा गया है। परन्तु कालान्तर में वह लुप्तप्राय हो जाती है। यह मानना कठिन है कि ऐसी निम्न कोटि की स्त्री देवताओं में से कोई भी देवी अपर काल की इतनी बड़ी मातृरूपा देवी बन गई और उसने अपने इस विकास का कोई चिह्न नहीं छोड़ा; यद्योंकि वैदिक साहित्य में ऐसा कोई चिह्न नहीं मिलता। वेद में केवल एक स्त्री-देवता ऐसी है जो औरों से भिन्न है और उनसे अधिक महत्व भी रखती है। वह है—‘वाक्’, जिसका पहले-पहल ऋग्वेद के एक अपरकालीन सूक्त में उल्लेख हुआ है^१। उसकी कल्पना प्रायः देवताओं की शक्ति के रूप में की गई है और उसको देवताओं के कार्यों पर नियंत्रण रखनेवाली बताया गया है। हमें आगे चलकर इस बात पर विचार करने का अवसर मिलेगा कि किस प्रकार ‘वाक्’ की जैसी कल्पना से विश्वप्रकृति की कल्पना का उद्भव हो सकता है। परन्तु वाक् शाक्तमत की आराध्य देवी से विल्कुल भिन्न है। उसको कहीं भी मातृरूप में नहीं माना है, जैसा शक्ति को माना जाता था। उसकी उपासना का उर्वरता से भी कोई सम्बन्ध दिखाई नहीं पड़ता है, जैसा निश्चित रूप से शाक्तों की शक्ति की उपासना का था। इसके अतिरिक्त इस वाक् का रुद्र से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। यदि हम इस देवता को अपरकालीन शक्ति का आदि रूप मानें, तो इस शक्ति का रुद्र के साथ जो घनिष्ठ सम्बन्ध है, उसका समाधान नहीं होता। पुराणों में ‘कौलों’ को विधर्मी कहा गया है,^२ अन्त में यह बात भी सिद्ध करती है कि इस देवी की उपासना का उद्गम विदेशी था। अतः हमारी यह धारणा समीचीन प्रतीत होती है कि भारतवर्ष में शाक्त मत बाहर से आया, और उसका प्रारम्भ हम उस समय से मान सकते हैं जब सिन्धु-घाटी के लोगों का वैदिक आर्यों के साथ सम्मिश्रण हो जाने के फलस्वरूप सिन्धु-घाटी की मातृदेवता की उपासना का आर्य धर्म में समावेश हुआ।

मातृ देवता की यह उपासना जिस रूप में भारत में फैली, उसी के फलस्वरूप यहाँ कुछ ऐसे श्रिति-रिवाजों का भी प्रचार हुआ, जिनका पश्चिम एशिया में इस उपासना के साथ सम्बन्ध था और जो बहुत करके सिन्धु-घाटी में भी प्रचलित थे। इनमें सबसे प्रमुख है, देवी के मन्दिरों में बालिकाओं और स्त्रियों का सेवार्थ समर्पण। इस प्रथा का जन्म संभवतः बेबीलोन में हुआ था; यद्योंकि ऐसी स्त्रियों का सबसे प्राचीन उल्लेख बेबीलोन के लेखों में हुआ है^३। ‘ईश्तर’ की उपासना के लिए जिस स्त्री को समर्पण किया जाता था, उसको साधारणतया ‘उखातु’ कहते थे। ‘गिलगमेश’ की कथा में ‘एबानी’ को एक ऐसी ही स्त्री ने अपने ब्रत से डिगाना चाहा था। इस प्रथा का प्रादुर्भाव किसी अश्लील भावना की प्रेरणा से नहीं हुआ था, अपितु यह प्रथा मानव की अप्रौढ़ अवस्था में उस सरल और सच्चे विश्वास के फलस्वरूप जन्मी कि विधिपूर्वक की हुई संभोग-क्रिया धान्य और पशुधन की वृद्धि का साधन होती है और ऐसी कारण यह देवी को प्रिय है। अतः जिन स्त्रियों को इस कार्य के लिए देवी के मन्दिरों में रखा जाता था, उनके सम्बन्ध में

१. ऋग्वेद : १०, १२५।

२. पुस्तक का पाँचवाँ अध्याय देखिए।

३. जैस्ट्रो : रिलिजन आफ बेबीलोनिया एण्ड ऐसीरिया, पृ० ४७५-७६।

यह धारणा होती थी कि वे समाज का बड़ा हित कर रही हैं। उन पर इस कारण किसी प्रकार का धन्वा नहीं आता था; बल्कि उनको पवित्र माना जाता था और उनका समाज में बड़ा सम्मान होता था। वास्तव में बेबीलोनियन और यहूदी लोगों में तो वेश्या का साधारण नाम 'कदिस्तु' अथवा 'क देसु' था, जिसका अर्थ है 'पवित्र'। माता-पिता बड़ी खुशी से अपनी बेटियों को मन्दिरों में सेवार्थ समर्पण कर देते थे, और इसमें अपना गौरव समझते थे^१। धार्मिक वेश्यावृत्ति की यह प्रथा समस्त पश्चिम एशिया में फैल गई, और यहाँ तक कि यूनानी नगर 'कारिन्थ'^२ में देवी 'एफ्रोडाइटे'^३ की उपासना में भी इसका समावेश हो गया। इस प्रथा को कहाँ भी, वहाँ तक कि यूनानियों में भी, निन्दित नहीं समझा जाता था। इसके प्रमाण में हमें यूनानी कवि 'पिंडार'^४ की वह प्रशस्ति मिलती है, जिसमें उसने उन युवतियों का गुणगान किया है, जो वैभवशाली 'कारिन्थ' नगर में अतिथियों का सत्कार करती थीं; उनके आमोद-प्रमोद की सामग्री जुटाती थीं और जिनके विचार प्रायः 'अरेनिया' एफ्रोडाइटे^५ की ओर उड़ते रहते थे^६। ग्रीक इतिहासकार 'स्ट्रैवो'^७ ने उनको 'हेटेरा' की गौरवास्पद उपाधि दी है, जिसका अर्थ है वह जो देवी की सेवा के लिए समर्पित कर दी गई ही^८। भारतवर्ष में यह प्रथा सिन्धु-घाटी-वासियों और आर्यों के सम्मिश्रण के बाद भी बनी रही; परन्तु किसी प्रकार इसका सम्बन्ध देवी की सेवा से हट कर पुरुष-देवता की सेवा से हो गया, और भगवान् शिव के मन्दिरों में सेवार्थ लड़कियाँ समर्पित की जाने लगीं। लिंगोपासना के समान ही इस प्रथा की भी आर्यों^९ ने किसी प्रकार स्वीकार कर तो लिया; परन्तु वह इसको अच्छा नहीं समझते थे और जहाँ आर्यों का प्रभाव सबसे अधिक था, वहाँ यह प्रथा धीरे-धीरे मिटा दी गई। उत्तर भारत में कम-से-कम ईसा की पाँचवीं शती तक अपर वैदिक साहित्य या अन्य उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री में इस प्रथा का कोई उल्लेख नहीं मिलता; परन्तु देश के अन्य भागों में, जहाँ आर्यों का प्रभाव धीरे-धीरे फैला और समस्त आर्योंतर तत्त्वों को अपने अन्दर नहीं समा सका, वहाँ इस प्रथा ने जड़ पकड़ ली। भारत में देवदासी प्रथा का उद्भव का सबसे संतोषजनक समाधान इसी प्रकार हो सकता है। इस समय जो सामग्री उपलब्ध है, उससे हम, सिन्धु-घाटी की सभ्यता के समय से लेकर इस प्रथा का प्रारम्भिक इतिहास नहीं दे सकते। परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया, इस प्रथा के आदि स्वरूप को लोग भूल गये और प्राचीन होने के नाते इसको पवित्र माना जाने लगा। यहाँ तक कि ईसा की आठवीं सदी तक (इस प्रथा का एक दक्षिण भारतीय शिला-लेख में रपष्ट रूप से उल्लेख हुआ है)^{१०} यह प्रथा स्थिर रूप से जम गई थी और राज्य की ओर से मान्यता पा चुकी थी। इसका बाहरी स्वरूप वैसा ही था जैसा प्राचीन बेबीलोनिया में था। परन्तु इस समय तक इस प्रथा का कोई अर्थ नहीं रह गया था। बेबीलोनिया के मन्दिरों की वेश्याओं का, वहाँ की उर्वरता-सम्बन्धी देवी की उपासना में एक निश्चित

१. जैस्ट्रो : सिविलिजेशन आफ बेबीलोनिया एण्ड एसीरिया।

२. फानेल : कल्टस आफ दि ग्रीक स्टेट्स भाग २, अध्याय २१, पृ० ६३५।

३. „ : „ „ „ „ „ „

४. पहदकल में राष्ट्रकूट धारावर्ष का शिलालेख : समय ७०० शक संवत्।

स्थान था, और उनकी स्थिति का तार्किक समाधान भी किया जा सकता था। परन्तु भारतवर्ष में उनकी स्थिति का कोई तार्किक आधार नहीं था। भगवान् शिव की उपासना को उर्वरता-सम्बन्धी उपासना की अवस्था से निकले बहुत युग बीत गये थे। अतः उनके मन्दिरों में धार्मिक वेश्यावृत्ति की प्रथा केवल प्राचीन होने के नाते पवित्र मानी जाती थी, और अन्यविश्वासी उसको खीकार करते थे। वास्तव में यह प्रथा मन्दिरों के पुजारियों के हाथों में उनकी वासनानृति और धनलिप्सा की पूर्ति का एक जघन्य साधन बनकर रह गई। इसकी दीक्षा देवता के साथ विधिवत् विवाह के द्वारा दी जाती थी और तदनन्तर लड़कियाँ देवता की मूर्ति की सेवा करती थीं। उसके आगे नृत्य करती थीं और इन कामों से अवकाश मिलने पर अपना गर्हित पेशा करती थीं। कालान्तर में कुछ वैष्णव मन्दिरों में भी इस प्रथा का प्रचार हो गया।

पश्चिम एशिया में इस देवी की उपासना के साथ एक और बड़ी महत्वपूर्ण विधि का भा। सम्बन्ध था और भारतवर्ष में भी इसका प्रचार था, यद्यपि कालान्तर में यह प्रायः सर्वथा लुप्त हो गई। यह विधि थी मन्दिर के पुरुष पुजारियों का उन्मत्त नृत्य। इसकी इति बहुधा पुजारियों के स्वयं अपना पुंसत्व हरण कर लेने पर होती थी। विद्वान् फानेल ने इस विधि का, और इसके पीछे जो विश्वास काम करता था उसका, इस प्रकार वर्णन किया है—“इस पूजा का स्वरूप अत्यन्त भावुक, उन्मादपूर्ण और रहस्यमय था और इसका उद्देश्य था अनेक प्रकारों से देवी के साथ अंतरंग सम्बन्ध स्थापित करना…… नपुंसक पुजारी का पद प्राप्त करने के लिए जो पुंसत्व-हरण आवश्यक समझा जाता था, उसकी उत्पत्ति भी अपने-आपको देवी से आत्मसात् करने और उसकी शक्ति से अपनेको परिपूर्ण कर लेने की उत्कट कामना के कारण हुई जान पड़ती है। यह कार्य समझ होने पर अपने रूप-परिवर्तन को सम्पूर्ण करने के लिए स्त्री-वेश धारण कर लिया जाता था ।”

सिन्धु-घाटी के लोगों में इस प्रथा के प्रचार का हमें कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता; परन्तु भारत में यह प्रथा रही अवश्य होगी; क्योंकि अभी थोड़े ही दिनों तक बम्बई प्रान्त में एक विशेष सम्प्रदाय में यह प्रथा प्रचलित थी।

सिन्धु-घाटी के लोगों का आर्य जाति से सम्मिश्रण का तीसरा महान् परिणाम यह हुआ कि भारत में मन्दिरों और मूर्तियों की स्थापना होने लगी। हम ऊपर देख आये हैं कि वैदिक धर्म में यह सब नहीं था। परन्तु पश्चिम एशिया के धर्मों का यह एक प्रमुख अंग था। इस प्रदेश में देवी और अन्य देवताओं के मन्दिरों के अस्तित्व के हमें प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। देवी की मृत्तिका-मूर्तियों से और अन्य चित्रों से यह पता चलता है कि उसकी मूर्तियाँ भी बनाई जाती होंगी और मन्दिरों में उनकी पूजा होती होगी। सिन्धु-घाटी में भी इसी प्रकार की देवी की मृत्तिका मूर्तियाँ मिलती हैं और बहुत करके यहाँ भी मन्दिरों में उसकी उपासना होती थी। यह ठीक है कि सिन्धु-घाटी की खुदाइयों में अभी तक हमें कोई ऐसी इमारत नहीं मिली, जिसको हम निश्चित रूप से कह सकें कि यह देवालय

१०. फानेल : कल्ट आफ दि श्रीक रेट्स, भाग ३, अध्याय ७, पृ० ३००।

था; परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यहाँ मन्दिर ये ही नहीं। अभी तक तो मकानों की दीवारों की नीचे और उनके अधोभाग ही हमें मिले हैं, और उनसे यह बताना बहुत कठिन है कि वे मकान वात्तव में किस काम आते थे। हो सकता है कि उनमें से कुछ बड़े मकान देवालय रहे हाँ। सिन्धु-घाटी के लोगों और आयों के सम्मिश्रण होने पर, और इन दोनों के देवताओं का परस्पर आत्मसात् होने पर, सिन्धु-घाटी की देवी और उसके सहचर देवता के मन्दिर, रुद्र की सहचर देवी और स्वयं रुद्र के मन्दिर माने जाने लगे। इस प्रकार देवताओं के लिए देवालय बनाने की प्रथा का भारतीय धर्म में समावेश हुआ। लगभग इसी समय भारतीय धर्म में भक्तिवाद का प्रादुर्भाव हो रहा था, जो पूजा के स्थायी स्थलों में सामूहिक उपासना किये जाने, और उपासकों द्वारा अपने इष्टदेव के सम्मान में भवन खड़े करने के अनुकूल था। अतः मन्दिर की उपासना का सम्बन्ध भक्तिवाद से हो गया, और धीरे-धीरे वह उपासना का एक आवश्यक ग्रंथ बन गया। कालान्तर में जब प्राचीन वैदिक धर्म का स्थान इस नये भक्तिवाद ने पूर्ण रूप से ले लिया, जब मन्दिर की उपासना भारतीय धर्म का एक प्रमुख रूप बन गई।

इन सबसे यह स्पष्ट है कि सिन्धु-घाटी में हमें जो कुछ मिला है, उससे उत्तर वैदिक शैव धर्म के अनेक प्रमुख रूपों का संतोषजनक समाधान हो जाता है। इसके साथ-साथ भारतवर्ष का, पश्चिम एशिया की सभ्यताओं के साथ, भौतिक संस्कृति और धर्म के द्वेत्री में, जो घनिष्ठ सम्बन्ध था, उसका भी हमें पता चलता है। सिन्धु-घाटी के लोगों और आयों के एक ही जाने के उपरान्त, रुद्र की उपासना ने जो स्वरूप धारण किया, वह स्वरूप उतना ही सम्मिश्रित था जितनी कि वह सभ्यता जो इस एकीकरण के पश्चात् विकसित हुई। रुद्र का अब लिंगोपासना के साथ दृढ़ सम्पर्क हो गया। उनको एक सहचर देवी मिली, जिसकी उपासना उनके साथ और स्वतन्त्र रूप से भी होती थी। उनकी मूर्तियाँ बनने लगीं और मन्दिरों में उनकी रथापना होने लगी। सबसे बढ़कर तो यह बात हुई कि रुद्र के उपासकों की संख्या अत्यधिक बढ़ गई, जिससे उनके पद का और भी उत्कर्ष हुआ। इन सबसे रुद्र के स्वरूप और उनकी उपासना में महान् परिवर्तन हो गया। वैदिक रुद्र की उपासना को अब हम पीछे छोड़ते हैं, और उत्तर वैदिक शैव-धर्म के द्वार पर आ खड़े होते हैं।

इस अध्याय को समाप्त करने से पहले हमें एक बात पर और विचार करना है। वह है—सिन्धु-घाटी के लोगों और आयों के सम्मिश्रण का समय। वैसे तो यह सम्मिश्रण एक ऐसी प्रक्रिया है जो धीरे-धीरे ही होती है और दीर्घ काल तक होती रहती है। अतः इसके लिए कोई एक तिथि नियत करना सम्भव नहीं है। फिर भी कुछ लगभग अनुमान हम उस समय का लगा सकते हैं, जब यह प्रक्रिया हो रही थी। इसका प्रारम्भ तो सामान्यतः उसी समय से हो जाना चाहिए जब दो जातियाँ एक दूसरे के सम्पर्क में आईं। पहले-पहल दोनों जातियों के लोगों के उन दलों में इक्के-दुक्के व्यक्तियों का मेल होता है, जो सबसे अधिक एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं और उसके बाद यदि कोई वाह्य प्रतिबन्ध न लगाये जायँ तो यह प्रक्रिया फैलती जाती है। परन्तु इस सम्मिश्रण के फल व्यक्त होने में काफी समय लगता है। परिस्थितियों के अनुसार कभी कम या कभी

अधिक समय तक, इस सम्मिश्रण की प्रक्रिया के जारी रहने पर भी, दोनों जातियों को अपने-अपने अलग अस्तित्व का बोध रहता है। अतः सिन्धु-घाटी के लोगों के सम्बन्ध में भी सम्मिश्रण की प्रक्रिया का प्रारम्भ तो उसी समय हो गया हीगा जब उनका आर्यों के साथ सम्पर्क हुआ; परन्तु दीर्घकाल तक उनका अलग अस्तित्व बना रहा। पिछले अध्याय में हमने अपना पर्यवेक्षण प्राचीन वैदिक साहित्य तक लाकर समाप्त कर दिया था। उसमें हमने देखा है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों में हमें वह प्रमाण मिलते हैं, जो इन दोनों जातियों के सम्मिश्रण के द्योतक हैं। वह ठीक है कि ब्राह्मण-ग्रन्थ ब्राह्मण पुरोहितों की रचनाएँ हैं, और किसी भी समाज का पुरोहितवर्ग सदा सर्वाधिक पुरातनवादी होता है। प्रत्येक नवीन विचार या रीति को वह संदेह की दृष्टि से देखता है और परम्परा का दृढ़ पक्षपाती होता है। इस कारण यह खाभाविक है कि यह वर्ग अपने ग्रन्थों में उन परिवर्त्तनों की उपेक्षा करे, जो इन दोनों जातियों के सम्मिश्रण के फलस्वरूप धार्मिक और अन्य क्षेत्रों में हो रहे थे। फिर भी इन ब्राह्मण पुरोहितों तक की रचनाओं में रुद्र द्वारा अन्य देवताओं के आत्मसात् किये जाने के स्पष्ट संकेत मिलते हैं। अतः यदि रुद्र ने सिन्धु-घाटी के देवता को उस समय तक आत्मसात् कर लिया होता तो इसका कोई-न-कोई संकेत हमें ब्राह्मण-ग्रन्थों में अवश्य मिलता; परन्तु इस प्रकार का कोई संकेत नहीं मिलता। कोई ऐसा प्रासंगिक उल्लेख भी हमें नहीं मिलता है, जिससे हम यह अनुमान लगा सकें कि उस समय वैदिक आर्यों का सिन्धु-घाटी के लोगों के साथ सम्मिश्रण हो गया था। अतः हम इसी परिणाम पर पहुँच सकते हैं कि ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय तक यह सम्मिश्रण पूर्णरूप से व्यक्त नहीं हुआ था। इससे सम्मिश्रण की अवधि की पूर्व सीमा निर्धारित हो जाती है। इसकी दूसरी सीमा इस बात से निर्धारित होती है कि 'वौधायन-गृह्यसूत्र' में शिव और विष्णु की मूर्तियों का और उनकी उपासना-विधि का उल्लेख मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय तक मूर्तिपूजा स्थापित हो चुकी थी। इसके साथ ही रुद्र की 'लिंग'-मूर्तियों का भी उल्लेख किया गया है, जिनकी साधारण मानवाकार मूर्तियों की तरह ही स्थापना और उपासना की जाती थी^१। दोनों जातियों के सम्मिश्रण का और रुद्र की उपासना में लिंग-पूजा के समावेश का यह असंदिग्ध प्रमाण है। अतः जिस अवधि में वैदिक आर्यों का उनसे पूर्ववर्ती सिन्धु-घाटी के लोगों के साथ सम्मिश्रण हुआ और इसके परिणाम-स्वरूप एक नई और बहुमुखी भारतीय सभ्यता का धीरे-धीरे प्रादुर्भाव हुआ, उसे हम प्राचीनतम ब्राह्मण-ग्रन्थों के रचनाकाल और 'गृह्यसूत्रों' के रचना-काल के बीच में रख सकते हैं। इसी अवधि में रुद्र की उपासना में उन नये अशों का समावेश हुआ, जिनके कारण उसने अपर वैदिक शैव मत का रूप धारण किया। इस परिवर्तन-काल में, उत्तर-वैदिक साहित्य में (उपलब्ध सामग्री की सहायता से) रुद्र की उपासना के इतिहास का अध्ययन, हमारे अगले अध्याय का विषय होगा। इस अध्याय में जिन परिणामों पर हम पहुँचे हैं, उनसे उत्तर-वैदिक साहित्य में जो सामग्री हमें मिलेगी, उसको ठीक-ठीक समझने और उसका वास्तव में किस ओर संकेत है, यह जानने में हमें अधिक सुविधा रहेगी।

१. इस पुस्तक का तीसरा अध्याय देखिए।

तृतीय अध्याय

प्रथम अध्याय में प्राचीन वैदिक साहित्य के पर्यवेक्षण करने पर हमने देखा था कि रुद्र एक प्रमुख देवता के पद की ओर बड़ी शीघ्रता से वढ़ रहे थे, और उनकी उपासना का प्रचार उन ब्राह्मणों में हो रहा था, जो कर्मकांड के बन्धनों को तोड़कर वैदिक धार्मिक विचार-धारा में एक क्रांति उत्पन्न कर रहे थे। ब्राह्मण-ग्रन्थों के बाद के वैदिक साहित्य में सबसे पहले हमें इन्हीं लोगों की विचार-पद्धति को दर्शनिवाले ग्रन्थ मिलते हैं—अर्थात् ‘आरण्यक’ और ‘उपनिषद्’। इनमें से जो सबसे प्राचीन हैं, उनमें रुद्र का कोई विशेष उल्लेख नहीं है। ‘बृहदारण्यक’ उपनिषद् में अन्य देवताओं के साथ एक-दो बार रुद्र का भी उल्लेख हुआ है; परन्तु इन ग्रन्थों की कमी को ‘श्वेताश्वतर उपनिषद्’ पूरी कर देता है। ब्राह्मण ग्रन्थों के समय से रुद्र के पद का कितना उत्कर्ष हो चुका था, यह इस उपनिषद् में स्पष्ट फलक जाता है। अब उनको सामान्य रूप से ईशा, महेश्वर, शिव और ईशान कहा जाता है^१। वह मीमांसान्वेषी योगियों के ध्यान के विषय हैं और उनको एक सूष्टा, ब्रह्म और परम आत्मा माना गया है^२। एक श्लोक में उनके प्राचीन उग्र रूप का भी स्मरण किया गया है जिससे पता चलता है कि यह वही देवता है, जिनका परिचय हम संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में पा चुके हैं^३। ‘श्वेताश्वतर उपनिषद्’ समय की दृष्टि से उपनिषद्-काल के मध्य में पड़ता है और इसमें रुद्र का जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस समय तक उनका उत्कर्ष पूर्ण रूप से हो चुका था और वह जन-साधारण के देवता ही नहीं थे, अपितु आर्यों के सबसे प्रगतिशील वर्गों के आराध्यदेव भी बन चुके थे। इस रूप में उनका सम्बन्ध, दार्शनिक विचार-धारा और योगाभ्यास के साथ हो गया था, जिसकी उपनिषद् के ऋषियों ने आध्यात्मिक उन्नति का एक मात्र साधन माना था। इसी कारण रुद्र की उपासना में कुछ कठोरता आ गई और अपर काल में शैव और वैष्णव मतों में जो सुख्य अन्तर था, वह शैव मत की यह कठोरता ही थी। अपर वैदिक काल में योगी चिन्तक और शिक्षक के रूप में शिव की जो कल्पना की गई है, वह भी इसी सम्बन्ध के कारण थी।

‘श्वेताश्वतर’ उपनिषद् में वे अंकुर भी हैं, जिनसे बाद में सांख्यविचार-धारा प्रवाहित हुई। इस उपनिषद् के चौथे अध्याय में, संस्कृत-साहित्य में पहली बार विश्व की सक्रिय सर्जन शक्ति के रूप में प्रकृति का उल्लेख हुआ है। उसको पुरुष अथवा परब्रह्म की शक्ति कहा गया है, जिसके द्वारा वह विविध रूप विश्व की सृष्टि करता है^४। वह अनादि है, अतः पुरुष की समावर्तिनी है। वह रक्त वर्ण, श्वेत वर्ण और कृष्णवर्ण की है,

१. श्वेताश्वतर उपनिषद् : ३, ११; ४, १०; ४, ११; ५, १४।

२. „ „ : ३, २-४; ३, ७; ४, १०-२४, इत्यादि।

३. „ „ : ३, ६।

४. „ „ : ४, १।

अतः त्रिगुणमयी है। वह जगत् की सृष्टि करनेवाली है^१। पुरुष स्वयं स्था नहीं, अपितु एक बार प्रकृति को क्रियाशील बना कर वह अलग हो जाता है और केवल प्रेक्षक के रूप में रित्थित रहता है^२। यही तथ्य एक अन्य श्लोक में और भी रपष्ट हो जाता है, जहाँ शक्ति अथवा प्रकृति को 'माया' कहा गया है और पुरुष केवल 'मायी' के रूप में ही स्था कहलाता है^३। आगे चल कर जीव और पुरुष में इस प्रकार भेद किया गया है कि जीव भोक्ता है और प्रकृति द्वारा नियमित है^४। उसकी मुक्ति तभी होती है जब उसे ब्रह्म साक्षात् होता है और वह प्रकृति अथवा माया के बन्धनों से छूट जाता है। 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् के अतिंतम अध्याय के एक श्लोक से स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त को उस उपनिषद्-काल में भी सांख्य कहा जाता था। उस स्थल पर यह कहा गया है कि पुरुष को सांख्य और योग द्वारा ही जाना जा सकता है^५।

अब 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् में यह पुरुष अन्य कोई नहीं, रुद्र ही है जिनको शिव, और ईश भी कहा गया है। इससे पता चलता है कि इस समय तक रुद्र उन लोगों के आराध्यदेवता बन गये थे जो सांख्य के सिद्धान्तों का विकास कर रहे थे। वे रुद्र को ही पुरुष अथवा परब्रह्म मानते थे। इससे महाभारत और पुराणों में शिव का सांख्य के साथ जो सम्बन्ध स्थापित किया गया है, उसका समाधान हो जाता है और सम्भव है कि इसी से अपर काल में शैव-सिद्धान्त के विकास की दिशा भी निर्धारित हुई। यह भी एक रुचिकर बात है कि जिस उपनिषद् में पहली बार शिव को परब्रह्म माना गया है, उसी में सांख्य और सांख्य-प्रकृति का भी पहली बार निश्चित रूप से उल्लेख हुआ है। प्रायः प्रकृति की इस कल्पना का उद्गम प्राचीन वैदिक देवता 'वाक्' को माना जाता है। जिसको ऋग्वेद में साधारण प्रकार से देवताओं का बल और विश्व की प्रेरक शक्ति कहा गया है। हो सकता है कि कुछ चिन्तकों ने इस विचार को लेकर प्रकृति के उस रूप की कल्पना की हो, जिसका वर्णन 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् में किया गया है। इसके साथ-साथ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि औपनिषदिक चिन्तकों ने अपने विचारों और सिद्धान्तों का विकास, शैष जगत् से अलग होकर, किसी शून्य में नहीं किया। सिन्धु-धाटी की खोजों ने कम से-कम ऐसी धारणाओं का तो पूर्णतया खंडन कर दिया है, और यह सिद्ध कर दिया है कि वैदिक आर्यों का भारत और अन्य देशों की सभ्य जातियों के साथ अवश्य घनिष्ठ संबंध रहा होगा, और इनमें विचारों का परस्पर आदान-प्रदान भी उतना ही रहा होगा जितना अन्य भौतिक पदार्थों का। अतः हमें इस सम्भावना का भी ध्यान रखना चाहिए कि औपनिषदिक चिन्तकों का विचार कोई वैदिक आर्यों का इजारा नहीं था। यह भी हो सकता है

-
- | | | | |
|----|---------------------|---|--------|
| १. | श्वेताश्वतर उपनिषद् | : | ४, ५। |
| २. | " | : | ४, ५। |
| ३. | " | : | ४, १०। |
| ४. | " | : | ४, ६। |
| ५. | " | : | ६, १३ |

कि इन लोगों के कुछ विचारों और मान्यताओं के विकास पर वाद्य प्रभाव पड़े हाँ। जब हम यह देखते हैं कि 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' के कुछ रथलों में शिव की प्रकृति शक्ति की कल्पना शिव की अध्यात्म पुरुष की कल्पना के साथ-ही-साथ विकसित हुई है, और जब हम यह स्मरण करते हैं कि शिव ने सिन्धु-घाटी के पुरुष देवता को आत्मसात् कर लेने के फलस्वरूप, एक सहचर रुद्री देवता को प्राप्त कर लिया था, और इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध, दार्शनिक दृष्टिकोण से लगभग वही था जो 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में पुरुष और प्रकृति का है, तब इस बात की सम्भावना हो सकती है कि प्रकृति और द्वैतवादी सांख्य के विकास में, और उसके सहचर पुरुष देवता के स्वरूप के आधार पर स्थित रुद्री और पुरुष तत्त्वों के आदि द्वैत की कल्पना का कुछ हाथ रहा हो। यह ठीक है कि हम इसके विपरीत यह तर्क भी दे सकते हैं कि शिव का सांख्य-सिद्धान्तों के साथ जो सम्बन्ध हुआ, वह शिव के एक सहचर रुद्री-देवता प्राप्त करने का ही परिणाम था और इन दोनों को सांख्य का पुरुष और प्रकृति मान लेने से इनकी उपासना को एक दार्शनिक आधार मिल गया। जो कुछ भी हो, अब जब कि हमें सिन्धु-घाटी में देवी की उपासना के अस्तित्व का पता चला है और हम यह भी जानते हैं कि वह रुद्र की उपासना से सम्बन्धित हो गई, तब समीचीन यह जान पड़ता है कि सांख्य के सिद्धान्तों और उसके इतिहास का पुनरावलोकन किया जाय।

प्राचीन उपनिषदों में एक और संदर्भ है, जिसपर हमें विचार करना है। 'केन' उपनिषद् में कहा गया है कि देवताओं को ब्रह्म-ज्ञान 'उमा हैमवती' नाम की एक देवता ने कराया । जिस प्रकार यह 'उमा हैमवती' प्रकट होती है और जो कुछ देवगण पहले नहीं देख सकते थे, वह उनको दिखाती है। इससे प्रतीत होता है कि उसकी कल्पना देवताओं की चेतनप्रज्ञा के रूप में किया गया था, और इस रूप में उसकी प्राचीन वैदिक वारदेवता का विकासमात्र माना जा सकता है, जिसका उल्लेख 'बृहदारण्यक' और दूसरे उपनिषदों में भी हुआ है । परन्तु 'उमा' नाम और 'हैमवती' उपाधि से हमें तुरन्त अपरकालीन शिव की पत्नी का रमण होता है, जिसका भी एक नाम 'उमा' था और जिसे 'हिमवत्' की पुत्री माना जाता था। 'केन' उपनिषद् की 'उमा हैमवती' शिव पत्नी कैसे बनी, यह रपट नहीं है। सम्भव है, इस 'उमा हैमवती' को दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रकृति माना जाता हो, और जब रुद्र की सहचरी देवता का भी इसी प्रकृति से आत्मसात् हुआ तो 'उमा' उसका एक नाम हो गया। उमा की उपाधि 'हैमवती' के कारण, जिसका प्रारम्भिक अर्थ सम्भवतः सुवर्णवर्णा अथवा सुवर्णमयी था, अपर काल में शिव की पत्नी को हिमवत् अर्थात् हिमालय की पुत्री माना जाने लगा। इसी रूप में उसका नाम पार्वती पड़ा, जो बाद में उनका सबसे प्रसिद्ध नाम हो गया ।

प्राचीन उपनिषदों में 'श्वेताश्वतर' ही एक ऐसा उपनिषद् है, जिससे उस काल में रुद्र की उपासना के सम्बन्ध में हमें कुछ जानकारी प्राप्त होती है। अन्य उपनिषदों में अनेक

१. केनोपनिषद् : ३, १२ ।

२. बृहदारण्यक उपनिषद् : ६, १, ३ ।

प्रासंगिक उल्लेख मिलते हैं, जिनमें कुछ मनोरंजक है। 'मैत्रायणी' उपनिषद् में रुद्र का सम्बन्ध तमोगुण से और विष्णु का सतोगुण से किया गया है^१। यह सम्भवतः रुद्र के प्रति प्राचीन विरोध-भावना के अवशिष्ट स्मृति का फल है। उधर 'प्रश्नोपनिषद्' में रुद्र को परिरक्षिता कहा गया है^२ और प्रजापति से उसका तादात्म्य किया गया है। स्वयं 'मैत्रायणी' उपनिषद् में एक अन्य स्थल पर, रुद्र और आत्मा को एक ही माना गया है, और रुद्र की एक उपाधि 'शंभु' अर्थात् 'शान्तिदाता' का भी पहली बार उल्लेख हुआ है, जो अपर काल में भगवान् शिव का एक अत्यन्त प्रचलित नाम हो गया^३। उसी उपनिषद् के एक तीसरे स्थल पर विख्यात गायत्री मन्त्र में 'र्भग' का संकेत रुद्र की ओर माना गया है^४। इन सब उल्लेखों से 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् में जो कुछ कहा गया है, उसी की पुष्टि होती है।

रुद्र-सम्बन्धी अन्य उल्लेख केवल छोटे उपनिषदों में मिलते हैं, जो प्रमुख उपनिषदों की अपेक्षा काफी बाद के हैं, और इस कारण यहाँ उनकी उपयोगिता नहीं है।

'श्वेताश्वतर' उपनिषद् में हमने रुद्र की उपासना का दार्शनिक रूप देखा। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय उपनिषदों के दार्शनिक सिद्धान्तों का विकास हो रहा था, उसी समय जन-साधारण के धार्मिक आचार-विचार में भी एक नई परिपाठी का प्रारम्भ हुआ। यह थी—भक्तिवाद की परिपाठी। कुछ अंशों में इस भक्तिवाद का उपनिषदों की दार्शनिक विचारधारा से गहरा सम्बन्ध था; क्योंकि इसके ही मूल में जो दो तत्त्व थे—अर्थात् एक परमेश्वर में विश्वास, और इस परमेश्वर की प्रार्थना और तुतियों द्वारा उपासना—उनका प्रादुर्भाव इसी दार्शनिक विचारधारा के विकास का फल था। प्राचीन बहुदेवतावाद को अर्थीकार करके और एक परब्रह्म की कल्पना करके उपनिषद् द्रष्टाओं ने धर्म में निश्चित रूप से एकेश्वरवाद की स्थापना कर दी। उधर ब्राह्मणों के कर्मकांड के प्रभाव में आकर, प्राचीन देवतागण किस प्रकार श्रीहीन हो गये थे, यह प्रथम अध्याय में बताया जा चुका है। वैदिक देवताओं की इस प्रकार अवनति होने पर केवल दो देवता ही बचे थे जिनका गौरव और महत्व बढ़ा। ये थे विष्णु और रुद्र, और इन्हीं की सबसे अधिक उपासना होने लगी। अतः जब उपनिषदों के एकेश्वरवाद का प्रचार हुआ, तब इन दोनों देवताओं के उपासकों ने अपने-अपने आराध्यदेव को परब्रह्म और परमेश्वर मानना प्रारम्भ कर दिया। शिव का यह स्वरूप हमने 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् में देखा है। इसके समय विष्णु को भी उनके उपासक इसी रूप में देखते होंगे, यह बहुत संभव है। इसके अतिरिक्त उपनिषद् द्रष्टाओं ने ब्राह्मणों के कर्म-कांड को अर्थीकार करके अध्यात्म, ध्यान, और बुद्धि की एकाग्रता पर अधिक जोर दिया। इसके साथ साथ उपनिषदों के अध्ययन से

१. मैत्रायणी उपनिषद् : ४, ५।

२. प्रश्नोपनिषद् : २, ६।

३. मैत्रायणी उपनिषद् : ५, ८।

४. „ „ : ५, ७।

हम यह भी देख सकते हैं कि उनके द्रष्टा ब्राह्मणग्रन्थों को छोड़ कर प्राचीन वैदिक संहिताओं का सहारा लेते हैं, मानों उनकी धारणा यह रही हो कि इन संहिताओं के विशुद्ध सिद्धान्तों और आचारों को ब्राह्मण पुरोहितों ने बिगाड़ दिया था। इसका फल यह हुआ कि लोगों का ध्यान ब्राह्मण कर्मकांड से हटकर फिर संहिताओं की ओर चला गया। इस प्रकार उपनिषद्-काल में प्राचीन ब्राह्मणग्रन्थों के कर्मकांड की परिपाठी के स्थान पर लोगों में एक नई प्रकार की उपासना का प्रचार हुआ, जिसका सार था एकेश्वर का ध्यान और उसमें अनन्त भक्ति। इस एकेश्वर की उपासना के साधन बने—प्रार्थना और भजन, और प्रार्थना और भजन के आदर्श बने—संहिताओं के सूक्त। इस प्रकार भक्तिवाद का प्रादुर्भाव हुआ और धीरे-धीरे इसने प्राचीन कर्मकांड का पूरी तरह स्थान ले लिया। और चूँकि यह भक्तिवाद शिव और विष्णु की उपासना को लेकर ही आगे बढ़ा, इस कारण ये दोनों ही इस नवीन धार्मिक परिपाठी के मुख्य देवता बन गये।

भक्तिवाद का जन्म यद्यपि उपनिषद्-काल में ही हो गया था, फिर भी इसका पूर्ण प्रचार उपनिषद्-काल के बाद ही हुआ। सदा की भाँति जब एक धार्मिक परिपाठी का स्थान दूसरी धार्मिक परिपाठी लेती है, तब कुछ समय तक नई और पुरानी परिपाठियाँ दोनों साथ-साथ चलती हैं, अतः दोनों साथ-साथ चलती रहीं। यद्यपि ‘श्वेताश्वतर उपनिषद्’ के एक श्लोक से यह भासता है^१ कि उस समय भी रुद्र भक्तिवाद के देवता माने जाने लगे थे, फिर भी कुछ समय तक उनके प्राचीन रूप की स्मृति और तदुपासना-सम्बन्धी विधियाँ बनी रहीं। यह हमको श्रौत, धर्म और गृहस्थ सूत्रों से पता चलता है। इस परिवर्तन-काल में जनसाधारण में रुद्र की उपासना का द्वया रूप था, वह इन सूत्रों से प्रकट हो जाता है।

‘श्रौत सूत्र’ ब्राह्मण कर्मकांड के सारांश मात्र हैं और इस कर्मकांड के मुख्य यशों के साथ उनका सम्बन्ध है। इस कारण ब्राह्मण कर्मकांड के क्षेत्र से बाहर धार्मिक आचार-विचार में जो विकास हो रहा था, उसकी झलक साधारण रूप से इन सूत्रों में दिखाई देने का अवसर नहीं है। अतः रुद्र की उपासना का जो स्वरूप हमें श्रौत सूत्रों में दिखाई देता है, वह प्रायः वैसा ही है जैसा ब्राह्मण ग्रन्थों में। वह अनेक देवताओं में से केवल एक देवता है, और पहले की तरह रुद्र, भव, शर्व आदि उनके अनेक नामों का उल्लेख होता है^२ और इसी प्रकार महादेव, पशुपति, भूतपति आदि उनकी अनेक उपाधियों का भी उल्लेख होता है^३। मनुष्यों और पशुओं की रक्षा के लिए रुद्र से प्रार्थना की जाती है^४। उनको व्याधि-निवारक कहा गया है^५, और रोगनाशक ओषधियों का देनेवाला^६। ‘अम्बक’ नास से उनको विशेष हवियाँ दी जाती हैं^७, जो ब्राह्मणग्रन्थों

१. श्वेताश्वतर उप० : ६, १३।
२. शांखायन श्रौत सूत्र : ४, १६, १।
३. „ „ „ : ४, २०, १४।
४. „ „ „ : ४, २०, १; आश्वलायन ३, ११, १।
५. „ „ „ : ३, ४, ८।
६. लाठ्यायन श्रौत सूत्र : ५, ३, २।
७. शांखायन श्रौत सूत्र : ३, १७, २०-११।

के समय में दी जाती थीं। एक स्थल पर रुद्र को समर्पित मूषक का भी उल्लेख किया गया है^१। रुद्र और अग्नि को तादात्म्य की स्मृति भी अवतक शेष है और रुद्र को एक बार 'अभिन्निष्टिकृत' कहा गया है^२। शांखायन श्रौत सूत्र में रुद्र के लिए किये जानेवाले एक विशेष यज्ञ का भी उल्लेख किया गया है, जो ब्राह्मणग्रन्थों में नहीं है, यथोपि उस समय भी वह रहा अवश्य होगा^३। 'गृह्य सूत्रों' में इसका अधिक विरतृत वर्णन मिलता है, जिससे यह जात होता है कि यह इतना श्रौत सूत्रों का नहीं, जितना गृह्य सूत्रों का विषय था; और इसी कारण शायद ब्राह्मणग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं किया गया। इस यज्ञ का उद्देश्य था, 'स्वस्ति'—अर्थात् प्रेम और वैभव की प्राप्ति। शुद्धलपद में एक निश्चित तिथि पर उत्तर-पूर्व दिशा में रुद्र को एक गौ की बलि दी जाती थी। गृह्य सूत्रों का निरीक्षण करने पर हम इस यंत्र का अधिक विस्तार से विवेचन करेंगे। इस समय जो ध्यान देने योग्य बात है, वह यह है कि 'शांखायन श्रौत सूत्र' के इस संदर्भ में रुद्र का जो ख्वरूप हृषिगोचर होता है, उसका एक अंश ऐसा है जिसका ब्राह्मणग्रन्थों में कोई उल्लेख नहीं है। इससे हमें यह पता चलता है कि इस समय रुद्र के ख्वरूप का विकास किस नहीं है। यह है रुद्र की सहचर स्त्री देवता का उल्लेख। उसको भवानी, प्रकार हो रहा था। यह है रुद्र की सहचर स्त्री देवता का उल्लेख। उसको भवानी, शर्वानी, ईशानी, रुद्राणी और आर्गेणी कहा गया है। यह सब रुद्र के विभिन्न नामों के स्त्रीलिंग रूप मात्र हैं। यज्ञ में इस स्त्री देवता को हवियाँ देने का भी विधान किया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि इस समय तक इस स्त्री देवता को भी आर्यों के देवगण में विधिवत् गणना होने लगी थी और रुद्र के साथ ही इसकी भी उपासना होती थी। प्राचीन ग्रन्थों में रुद्र-पनी का यह प्रथम उल्लेख है। पिछले अध्याय में जो कुछ कहा गया है, इसका ध्यान रखते हुए, हम यह कह सकते हैं कि 'शांखायन श्रौत सूत्र' के समय तक सिन्धु-घाटी की देवी की उपासना का रुद्र की उपासना में समावेश हो गया था।

'शांखायन श्रौत सूत्र' के इसी संदर्भ में हमें रुद्र के गणों का उल्लेख भी मिलता है। यजुर्वेद के 'शतश्विद्य' सूत्र में भी इन गणों का उल्लेख हुआ है और याद होगा कि वहाँ इनका संकेत रुद्र के उपासकों की ओर था। परन्तु इस संदर्भ में उनकी कुछ उपाधियाँ ऐसी हैं, जिनसे पता चलता है कि सूत्रकार का अभिप्राय रुद्र के उपासकों से नहीं है। यह उपाधियों—'अधोपिन्यः,' 'प्रतिघोषिन्यः,' 'संथोषिन्यः' और इन सब—का लक्ष्य गणों के घोष अर्थात् गजेन या धूकार से है। इसके अतिरिक्त उनको 'क्रव्यादः' (मृतमांस-भक्ती) भी कहा गया है, जिससे यह गण निश्चित रूप से भूत, पिशाच, कटप आदि के श्वेषी में आ जाते हैं। रमरण रहे कि 'अर्थवर्वद' में इन्हीं भूत, पिशाचादि के निवारणार्थ रुद्र का आह्वान किया जाता था—और इस प्रकार रुद्र का इनके साथ जो सम्बन्ध स्थापित हुआ, उसी से बढ़ते-बढ़ते यह माना जाने लगा कि यह भूत-पिशाच आदि रुद्र के

-
१. लाठ्यायन : ५, ३, २।
 २. शांखायन श्रौत सूत्र : ४, २६, १।
 ३. शांखायन श्रौत सूत्र : ४, १७-२०।

अनुयायी हैं। स्वयं अथर्ववेद के एक मंत्र में^१ भी रुद्र के गणों के घोष का उल्लेख किया गया है, और हो सकता है कि यह इन गणों का संकेत इन्हीं भूत-पिशाचों की ओर हो। ‘शांखायन श्रौत सूत्र’ में इनके उल्लेख का महत्व यह है और इससे पता चलता है कि रुद्र के एक रूप का सम्बन्ध अभी तक जनसाधारण के अन्य-विश्वासों से था। ‘गृह्य सूत्रों’ में यह बात और भा स्पष्ट हो जायगी।

रुद्र की उपासना का जो स्वरूप ‘श्रौत सूत्रों’ में मिलता है, लगभग वही स्वरूप ‘धर्म-सूत्रों’ में भी है, जो समकालीन हैं। सदा की तरह रुद्र के अनेक नामों का उल्लेख किया गया है। ‘बौधायन धर्म-सूत्र’ से रुद्र और रुद्र की सहचर स्त्री देवता के लिए अनेक तर्पणों का विधान किया गया है, और इस स्त्री देवता को रपष्ट रूप से रुद्र की पत्नी कहा गया है^२। रुद्र के गुणों के स्वरूप में कुछ विकास हुआ है। अब उनमें स्त्री-गुण भी हैं, और इन गुणों को ‘पार्षद’ और ‘पार्षदी’ कहा गया है। इसके अतिरिक्त इसी धर्म-सूत्र में दो बिलकुल नये देवताओं का भी उल्लेख किया गया है, जिनके स्वरूप और इतिहास का हमें विशेष रूप से अध्ययन करना है; द्योकि अपर काल में इनका शिव के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया था। इनमें पहला देवता विनायक है, जिनकी आगे चलकर ‘गणेश’ नाम से ख्याति हुई^३। ‘तैत्तिरीय आरण्यक’ में एक श्लोक है, जो प्रसिद्ध गायत्री मंत्र के दृंग पर ही बनाया गया है। इसके देवता का ‘वक्रतुण्ड’ और ‘दन्तिः’ कह कर वर्णन किया गया है, और तत्पुरुष से उसका तादात्म्य किया गया है^४। परन्तु इसके उपरान्त ‘बौधायन धर्म-सूत्र’ के समय तक न तो इस आरण्यक में ही और न कहीं अन्यत्र ही इस देवता का उल्लेख किया गया है। इस धर्म-सूत्र में इस देवता को विधिवत् मान्यता प्रदान की गई है, और इसके लिए तर्पणों का विधान किया गया है। उसको ‘वक्रतुण्ड’ और ‘एकदन्त’ के अतिरिक्त ‘हस्तिमुख’, ‘लम्बोदर’, ‘रथूल’ और ‘विघ्न’ भी कहा गया है। इन सब उपाधियों से यह निश्चित हो जाता है कि यह वही देवता है जो बाद में गणेश कहलाया, यद्यपि इसका यह नाम यहाँ नहीं दिया गया है।

‘विघ्न’ उपाधि से इस देवता के स्वरूप का पता चलता है। जैसा कि आगे चलकर ‘गृह्य-सूत्रों’ में स्पष्ट हो जायगा कि इस देवता को प्रारम्भ में विघ्नों और वाधाओं का देवता माना जाता था, और इन्हीं विघ्नों तथा वाधाओं के निवारण के लिए उससे प्रार्थना की जाती थी। इस देवता के ‘पार्षदों’ और ‘पार्षदियों’ का भी उल्लेख किया गया है जिससे यह प्रतीत होता है कि इसकी उपासना किसी-न-किसी रूप में रुद्र की उपासना के साथ सम्बद्ध थी। अपरकालीन साहित्य में गणेश को शिव का पुत्र माना गया है और इस सूत्र में भी एक रुद्र सूत्र का उल्लेख किया गया है^५। परन्तु यह रुद्र-सुत ‘वक्र-तुण्ड’ ही है, इसका कोई स्पष्ट प्रमाण यहाँ नहीं मिलता।

१. अथर्ववेद : ११, २, ३१।
२. बौधायन धर्म-सूत्र : २, ५, ६।
३. ”, ”, ”, ” : २, ५, ७।
४. तैत्तिरीय आरण्यक : १०, १।
५. बौधायन धर्म-सूत्र : २, ५, ६ अपिच शांखायन श्रौतसूत्र ४, २०, १।

इसी सूत्र में जिस दूसरे देवता का उल्लेख हुआ है, वह है स्कन्द^१। विनायक की तरह इस देवता के लिए भी तर्पणों का विधान किया गया है, और इसी से पता चलता है कि इसको भी विनायक के समान ही विधिवत् मान्यता प्राप्त थी। इसके अतिरिक्त इस सूत्र में ही इसके अन्य नामों का भी उल्लेख किया गया है जैसे 'पणमुख', 'जयन्त', 'विशाख', 'सुब्रह्मण' और 'महासेन'। इन नामों से निश्चित ही जाता है कि यह वही देवता है जो आगे चलकर 'कार्तिकेय, नाम से प्रसिद्ध हुआ। परन्तु इस देवता के विषय में कुछ और नहीं कहा गया है और इस एक संदर्भ से उसका रुद्र के साथ क्या सम्बन्ध था, यह हम नहाँ जान सकते।

सूत्र काल में जन-साधारण के धार्मिक आचार-विचारों के विषय में हमें सबसे अधिक जानकारी गृह्णसूत्रों से प्राप्त होती है। इन सूत्रों का सम्बन्ध प्रधानतया गृहस्थ की विधियों से है, अतः श्रौत अथवा धर्मसूत्रों की अपेक्षा इन्हीं गृह्णसूत्रों में उस समय के जन-साधारण के धार्मिक मान्यताएँ और रीति-रिवाज अधिक स्पष्ट रूप से प्रतिविभित होते हैं। रुद्र की उपासना के विषय में, गृह्णसूत्रों से हमें मूलव्यान सामग्री मिलती है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि एक ओर रुद्र ने दर्शनिकों के परब्रह्म का पद पाया था, तो दूसरी ओर उनकी उपासना का जनसाधारण के सरल विश्वासों से भी घनिष्ठ सम्बन्ध था। वास्तव में रुद्र के आदि स्वरूप की स्मृति को कभी भी पूर्णरूपेण मिटाया न जा सका, और किसी-न-किसी रूप में सदा ही उनके आदि स्वरूप की उपासना होती ही रही, जिसके ईर्द-गिर्द जनसाधारण की सरल धार्मिक भावनाएँ और विश्वास केन्द्रित थे। गृह्णसूत्रों में रुद्र की उपासना का यही पहलू प्रमुख है। उनको साधारणतया रुद्र कहा गया है और उनकी सभी पुरानी वैदिक उपाधियों का उल्लेख हुआ है^२, यद्यपि उनके नये नाम 'शिव' और 'शंकर' अब अधिक प्रचलित होते जा रहे हैं^३। कभी-कभी उनको 'पृष्ठतक' भी कहा गया है, जिसका संकेत उनमें प्राचीन हिंस्क रूप की ओर है^४। उनको साधारण रूप से बृक्षों, चौराहों, पुण्य तीर्थों और शमशानों यानी ऐसे सभी स्थलों में अकेले विचरनेवाला माना गया है, जहाँ लोगों का अनिष्ट हो सकता है, और इसी अनिष्ट के निवारणार्थ उनकी आराधना की जाती है^५। शमशानों से रुद्र का सम्बन्ध, यहाँ ध्यान देने योग्य है; क्योंकि आगे चलकर भगवान् शिव के स्वरूप के विकास पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है। प्राचीन काल में रुद्र को मृत्यु-सम्बन्धी देवता माना जाता था, उसी के फलत्वरूप जनसाधारण के मत में शमशानों से उनका यह सम्बन्ध हुआ, ऐसा प्रतीत होता है।

रुद्र के स्तवन से क्षेत्र और समृद्धि प्राप्त होती है, ऐसा इस समय लोगों का विश्वास

१. बौधाय० धर्म-सूत्र : २, ५, ८।

२. आश्वलायन गृह्ण-सूत्र : ४, १०।

३. , , : २, १, २।

४. , , : २, १, २ ; मानव गृह्ण० २, ३, ५ ; बौधायन धर्मसूत्र, ७, १० में भी रुद्र को 'विशान्तक' कहा गया है।

५. मानव गृह्णसूत्र : २, १३, ६-१४।

था। इसी उद्दे^{श्य} से 'शूलगव' यज्ञ का विधान किया गया है । यह मुख्यतः एक गृह्यविधि थी और गृह्य सूत्रों में इसका विस्तृत वर्णन किया गया है। वसन्त अथवा हेमन्त ऋतु में शुश्ल पक्ष में यह यज्ञ किया जाता था। इसका स्थान बन में अथवा कम-से-कम नगर या अन्य वस्ती से प्रयात दूरी पर, यजमान के आवास से उत्तर-पूर्व दिशा में होता था। इस स्थान पर यज्ञाग्नि प्रज्वलित कर, वेदी पर दूर्वा बिछा कर, एक गाय की विधिवत् बलि रुद्र को दी जाती थी। वध्य पशु के रुधिर से आठ छोटे पात्र भरे जाते थे। फिर रुधिर को आठ दिशाओं में (चार प्रधान और चार मध्यवर्ती) छिड़क दिया जाता था और प्रत्येक बार 'शतसुद्रिय' के पहले मंत्र से प्रारम्भ होनेवाले एक-एक अनुवाक का पाठ किया जाता था। तदनन्तर वध्य पशु की खाल उतारी जाती थी, और उसके हृदय आदि भीतरी अंगों को निकाल कर रुद्र पर चढ़ाया जाता था। अन्त में रुद्र से यजमान के प्रति कल्याणकारी रहने की प्रार्थना की जाती थी। इस विचित्र यज्ञ के दो अंश विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। पहला तो यह कि इस यज्ञ को बती से दूर जाकर करना पड़ता था, मानो यह कुछ भयावह अथवा रहस्यमय हो। इससे पता चलता है कि यह यज्ञ सामान्य कर्मकारण से अलग एक विशेष संकार था, जिसको वास्तव में एक प्रकार का गुप्त टोना अथवा टोटका कहना चाहिए। फिर भी सूत्र-अंगों में ही हमें इस बात के प्रमाण भी मिल जाते हैं कि यद्यपि ऐसे संकारों को साधारणतया गर्हित समझा जाता था, तथापि विशेष परिस्थितियों में और विशेष उद्देश्यों के लिए इनका कभी-कभी विधान भी किया जाता था। 'अथर्ववेद' में हम रुद्र का जनसाधारण के अन्य विश्वासों और जादूआदि से जो सम्बन्ध था, वह देख चुके हैं। अतः यह नितान्त सम्भव है कि इस रूप में रुद्र को अभी तक वैसा ही भयावह और रहस्यमय देवता माना जाता था जैसा कि अथर्ववेद में उन्हें माना जाता था। यह भी सम्भव है कि आदिम जातियों के कुछ आर्येतर देवताओं को आमसात् करने के फल-वरूप रुद्र के इस रूप का कुछ विकास भी हुआ हो।

इस यज्ञ का ध्यान देने योग्य दूसरा अंश है—गाय की बलि। भारत में अति प्राचीन काल से ही गाय को पवित्र माना जाने लगा था और 'अथर्ववेद' तक में गो-हत्या को पाप माना गया है। जैसे-जैसे समय बीतता गया, गोहत्या का निषेध और भी कड़ा होता गया। कभी-कभी इस निषेध का अपवाद भी होता था, विशेषतः ऐसी विधियों में जो अति प्राचीन काल से चली आती थीं और समय ने जिनको पुनीत बना दिया था। उदाहरण के लिए सम्मानित अतिथियों को मधुपर्क दान, जब कि गो-बलि साधारण ही नहीं, अपितु विहित भी थी १। परन्तु साधारण यज्ञों और अन्य संस्कारों में गायों और बैलों को बलि देने की प्रथा बहुत पहले ही बन्द हो गई थी। इसीलिए जब इस यज्ञ में हम अबतक गो बलि का विधान पाते हैं, तब यह इस बात का एक और संकेत है कि इस रुद्र के इस रूप की उपासना ब्राह्मण-धर्म का अंग नहीं थी।

१. मानव गृह्य-सूत्र : २, ५; बौद्धायन गृ० १, २, ७, १-३; आश्वलायन गृ० ४, १०।

२. मानव गृह्य-सूत्र : ६, १, २।

‘गृह्ण-सूत्रों’ में सुख्य रूप से रुद्र के उसी रूप का उल्लेख किया गया है, जिसमें जन-साधारण में उनकी उपासना होती थी। फिर भी सूत्रकार, रुद्र के विकास होनेवाले दार्शनिक स्वरूप, जैसा कि उपनिषदों में दृष्टिगोचर होता है, से अनभिज्ञ नहीं थे।

‘बौधायन गृह्ण-सूत्र’ में इसी ‘शूलगव यज्ञ’ के वर्णन में एक स्थल पर रुद्र को विश्वव्यापी परम ब्रह्म माना गया है^१। आगे चलकर एक अन्य स्थल पर रुद्र को फिर आदि पुरुष और विश्वस्थापन कहा गया है^२। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गृह्ण-सूत्रों के समय तक रुद्र का वह द्विविध स्वरूप स्थापित हो चुका था—दार्शनिक और जनसाधारण-सम्मत, जो बाद में वरावर बना रहा।

गृह्ण-सूत्रों में रुद्र की पत्नी और रुद्र के पुत्र अथवा पुत्रों का भी लगभग उसी प्रकार उल्लेख किया गया है, जिस प्रकार धर्म-सूत्रों में^३। परन्तु गृह्ण-सूत्रों से जो सामग्री उपलब्ध हुई है, उसमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण वह है जो रुद्र की उपासना में एक विलकुल नई प्रवृत्ति पर प्रकाश डालती है—मूर्त्ति-पूजा। गृह्ण-सूत्रों में प्रथम बार रुद्रादि देवताओं की मूर्तियों के प्रतिष्ठापन और पूजन का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण धर्म में मूर्त्ति-पूजा का समावेश किस प्रकार हुआ, इसकी ओर पिछले अध्याय में संकेत किया जा चुका है। बौधायन गृह्ण-सूत्र में रुद्र की ही नहीं, अपितु विष्णु की मूर्तियों के प्रतिष्ठापन का भी विधान किया गया है^४। इससे ज्ञात होता है कि इस समय तक मूर्त्ति-पूजा रुद्र और विष्णु की उपासना का एक अंग बन गई थी। इसी सूत्र में एक बार ‘देवागर’ का भी उल्लेख किया गया है^५ और जब मूर्तियों का निर्माण होने लगा था, तब इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस समय तक देवालय भी बनने लगे होंगे। इसके अतिरिक्त इस सूत्र में पहली बार शिवलिंग का भी उल्लेख हुआ है, जिस अध्याय में रुद्र की मूर्तियों के प्रतिष्ठापन का वर्णन किया गया है, वहाँ मानवाकार मूर्तियों के साथ-साथ लिंग-मूर्तियों का भी वर्णन किया गया है जिनका कोई आकार नहीं होता था^६। इससे सिद्ध होता है कि ‘बौधायन गृह्ण-सूत्र’ के समय तक रुद्र की उपासना लिंग-रूप में भी होने लगी थी। इन लिंग-मूर्तियों का सम्बन्ध प्रारम्भ में जननेन्द्रिय से था, इस तथ्य का ज्ञान उस समय लोगों का था या नहीं, यह स्पष्ट नहीं होता। परन्तु ‘लिंग’ नाम से ही, और चूँकि महाभारत में इस सम्बन्ध को स्पष्ट रूप से माना गया है, हम यह कह सकते हैं कि ‘बौधायन गृह्ण-सूत्र’ के समय में भी इस सम्बन्ध का ज्ञान लोगों का था। परन्तु इस लिंग-मूर्ति की उपासना-विधि विलकुल नई थी और प्राचीन जननेन्द्रिय-सम्बन्धी प्रतीकों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं था। ‘लिंग’ को केवल भगवान् शिव का एक प्रतीक माना जाता था, और उसकी उपासना फल, फूल आदि द्वारा

१. बौधायन गृह्ण-सूत्र : १, २, ७, २३।
२. „ „ : ३, २, १६, ३६।
३. „ „ : १, २, ७।
४. „ „ : ३, २, १३, १६।
५. „ „ : ३, ३, ६, ३।
६. „ „ : ३, २, १६, १४।

ठीक उसी प्रकार की जाती थी जिस प्रकार उसकी मानवाकार मूर्तियों की। इससे पता चलता है कि रुद्र का 'लिंगोपासना' के साथ सम्बन्ध अब बहुत प्राचीन हो गया था, और लिंग-मूर्ति के आदिम जननेन्द्रिय-सम्बन्धी स्वरूप को अब बिलकुल मिटा दिया गया था। यह इस बात का बोनक है कि उस समय तक सिन्धु-घाटी की जाति का आर्य जाति के साथ पूर्णरूप से सम्मिश्रण हो चुका था।

गृह्य-सूत्रों में रुद्र की पत्नी को जो स्थान दिया गया है, उससे भी यही सिद्ध होता है कि इस समय तक सिन्धु-घाटी के निवासी आर्य जाति के साथ मिल चुके थे। रुद्र की पत्नी अब एक स्वतन्त्र देवता के रूप में दृष्टिगोचर होती है। रुद्र की मूर्तियों की प्रतिष्ठापन विधियाँ के साथ-साथ इस स्त्री-देवता के पूजन की विधियाँ भी बनाई गई हैं, और पहली बार उसको 'दुर्गा' कहा गया है^१। यद्यपि उसकी मूर्तियों का कोई सीधा उल्लेख नहीं किया गया है, तथापि देवी के स्नान आदि का जो विधान किया गया है, उससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि उसकी मूर्तियाँ भी अवश्य बनाई जाती होंगी। इस देवी के स्वरूप का पता हमें उसकी उपाधियों से चलता है, जो 'आर्या', 'भगवती', 'देवसंकीर्ति' आदि है। इनसे सिद्ध होता है कि इस देवी को उच्च कोटि का देवता माना जाता था और उसका कीर्तिगान अन्य देवता भी करते थे। 'महाकाली', 'महायोगिनी' और 'शंखधारिणी' उपाधियाँ भी इसे दी गई हैं, और इनसे पता चलता है कि इस देवी का स्वरूप लगभग वैसा ही था जैसा आगे चलकर 'दुर्गा' का हुआ। इसके अतिरिक्त एक और उपाधि 'महापृथ्वी' से यह स्पष्ट पता चलता है कि प्रारम्भ में यह देवी, पृथ्वी देवता ही थी। दूसरी ओर इसकी एक अन्य उपाधि 'मनोगमा', इस बात की ओर संकेत करती है कि इस देवी के स्वरूप के दार्शनिक पहलू का भी विकास हो रहा था और इस रूप में इस देवी के साक्षात्कार के लिए ध्यान और योगाभ्यास आवश्यक थे। सम्भवतः इस समय तक इस देवी का उपनिषदों की शक्ति से तादात्म्य हो गया था। यहाँ तक ही नहीं, उसकी एक उपाधि 'महावैष्णवी' से तो यह पता चलता है कि इस समय तक इस देवी को रुद्र की शक्ति ही नहीं, अपितु अन्य देवताओं की शक्ति भी माना जाता था। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि देवी को हविः देते समय जिन मन्त्रों का पाठ होता था, वे सब अग्नि अथवा 'आपवः' सम्बन्धी प्राचीन श्रुतियाँ हैं। इससे सिद्ध होता है कि इस समय ऋषियों को देवी की उपासना के लिए मन्त्र दूँड़ने में कठिनाई हो रही थी। इसका कारण यह था कि ऐसे मन्त्र प्राचीन श्रुतियों में थे ही नहीं। आर्य धर्म में देवी की उपासना के विदेशीय होने का यह एक और प्रमाण है। गृह्यसूत्रों में रुद्र की मानवाकार और लिंगाकार मूर्तियों का एक साथ उल्लेख किये जाने का ऐतिहासिक महत्व है। इससे पिछले अध्याय के हमारे उस कथन की पुष्टि होती है कि भारतवर्ष में मूर्तिपूजा और देवालय-निर्माण का उद्भव सिन्धु-घाटी की सभ्यता के प्रभाव पड़ने से हुआ। चूंकि लिंग-प्रतीकों की उपासना का उद्भव भी उसी प्रभाव के अन्तर्गत और उसी समय हुआ था, अतः भारतीय धार्मिक ग्रन्थों में इन

दोनों का उल्लेख लगभग साथ-साथ होना चाहिए और यही हम गृह्णसूत्रों में पाते हैं। इसलिए मूर्त्तिपूजा और देवालय-निर्माण के उद्धव के सम्बन्ध में हमने जो सुमाव दिया है, वह ठीक प्रतीत हाता है।

गृह्णसूत्रों में स्दू और स्दू-पत्नी की उपासना के विकास के सम्बन्ध में तो हमें उपर्युक्त मूल्यवान् सामग्री मिलती ही है। इसके साथ-साथ इन्हीं ग्रन्थों से उस रहस्यमय देवता विनायक के सम्बन्ध में भी, जिसका एक अल्प उल्लेख धर्मसूत्रों में किया गया है, अनेक महत्त्वपूर्ण वातों का पता चलता है और इनसे इस देवता के स्वरूप को समझने में सहायता मिलती है। ऐसा जान पड़ता है कि प्रारम्भ में 'विनायक' एक जातिवाचक नाम था, जो जनसाधारण के प्रचलित विश्वासों के अनुसार राक्षसों के एक गण-विशेष के लिए प्रयुक्त होता था। 'मानव-गृह्णसूत्र' में एक स्थल पर एक नहीं, चार विनायकों का उल्लेख किया गया है^१। उनके नाम हैं—'शालकटंकट', 'कूप्मार्ण राजपुत्र', 'डस्मित' और 'देवयजन'। इनको अहितकारी जीव माना गया है। जिन मनुष्यों पर इनका प्रभाव पड़ता है, वे पागलों की तरह आचरण करते हैं—उनको खप्तों में अशुभ लक्षण दिखाई पड़ते हैं और उनको सदा ऐसा लगता है मानों कोई उनका पीछा कर रहा हो। इन विनायकों के दुष्प्रभाव से राजकुमारों को राजगद्दी नहीं मिलती, विवाहभिलापिणी कन्याओं को वर नहीं मिलते, त्रियाँ शीलवती होते हुए भी पुत्रविहीना रह जाती हैं, विद्वानों को सम्मान नहीं मिलता, विद्यार्थियों के अध्ययन में अनेक वाघाएँ पड़ती हैं, व्यापारियों को व्यापार में हानि होती है और किसानों की खेती नष्ट हो जाती है। संक्षेप में यह विनायक सामान्य रूप से उत्पाती जीव माने जाते थे और मनुष्यों के साधारण व्यापार में उनके कारण वाधाएँ न पड़ें, इस उद्देश्य से, उनको संतुष्ट करने का प्रयत्न किया जाता था। इसके लिए जो विधियाँ बताई गई हैं, उनमें जादू-टोनों का पुट अधिक है और उनका स्वरूप स्पष्ट ही अर्थवेदीय है। इससे पता चलता है कि ये 'विनायक' जनसाधारण के प्रचलित विश्वासों के द्वेष के जीव थे। यह विभिन्न तम-निवारक सूर्य के स्तवम् के साथ समाप्त होती थी, और इससे हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि विनायकों को अन्धकार और नदी के जीव माना जाता था।

इन चार विनायकों का फिर और कहीं उल्लेख नहीं हुआ है; परन्तु 'बौधायन गृह्ण-सूत्र' में एक विनायक की अर्चना का विधान किया गया है^२। यह विनायक वही है जिसका उल्लेख 'बौधायन धर्म-सूत्र' में भी हुआ है। इस विनायक और उपर्युक्त चार विनायकों में क्या सम्बन्ध था, इसको स्पष्ट नहीं किया गया। परन्तु नाम के साम्य के साथ-साथ इस विनायक के गुण भी वैसे ही हैं जैसे उन चार विनायकों के। हाँ, उन गुणों में कुछ थोड़ी-बहुत वृद्धि हो गई है। विघ्नकारी से बढ़कर अब यह विनायक विघ्नपति हो गया है, और विघ्नों के नाश के लिए तथा फिर सामान्य रूप से सफलता के लिए अब उससे प्रार्थना की जाती है। उसके स्वरूप के वर्णन में अब प्रशंसा-सूचक

१. मानव गृह्ण-सूत्र : २, १४।

२. बौधायन गृह्ण-सूत्र : ३, ३, १०।

वाक्यों और उपाधियों का प्रयोग अधिक होता है। परन्तु, जिस स्तोत्र द्वारा इसकी अर्चना की गई है, उसके अन्तिम श्लोक में विधिवत् अर्चना के उपरान्त उससे दूर चले जाने की जो प्रार्थना की गई है, उसीसे इस विधि के वास्तविक उद्देश्य का पता चलता है, जो एक अहितकारी और भयावह जीव को उपासक से दूर रखना था। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि यह विनायक भी विनायकगण में से एक था, और प्रारम्भ में मानों अपने गण के प्रतिनिधि के रूप में इसकी उपासना होती थी। अर्थात्—इस एक विनायक की संतुष्टि से समर्त विनायकगण की संतुष्टि हो जायगी, ऐसा माना जाता था। परन्तु कालान्तर में इसके इस प्रतिनिधि रूप की स्मृति क्षीण होती गई, और उसको एक स्वतन्त्र देवता माना जाने लगा। धर्मसूत्रों में वर्णित और 'हरितमुख', 'वक्तुरुण्ड' आदि उपाधियों-जैसा ही उसका स्वरूप है। उसके पुरुष परिचरों, स्त्री-परिचरों, 'पार्षदों' और 'पार्षदी' का भी उल्लेख किया गया है। अन्तिम श्लोक से पहले श्लोक में उसकी एक उपाधि 'गणेश्वर' भी है, जिससे आगे चलकर गणेश नाम बना।

यह विनायक उत्तर-कालीन 'गणेश' का आदि रूप है। 'बौधायन गृह्ण-सूत्र' में इसका एक स्त्री-देवता के साथ साहचर्य भी बताया गया है, जिसका नाम 'ज्येष्ठा' है^१। विनायक के स्तवन से ठीक पहलेवाले संदर्भ में इस स्त्री-देवता की अर्चना का विधान किया गया है। विनायक के समान ही इसको भी 'हरितमुखा' कहा गया है। उनके परिचर भी 'पार्षद' और 'पार्षदी' कहलाते हैं। उसके स्वरूप और गुणों का वर्णन नहीं किया गया; परन्तु विनायक की सहचरी होने के नाते संभवतः उसका स्वरूप और गुण भी विनायक जैसे ही थे। दुर्गा से उसे पृथक् माना गया है; परन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि इसकी आकृति को भयावह बताया गया है। उसके रथ के सम्बन्ध में कहा गया है कि उसे सिंह और व्याघ्र खींचते थे। यह दो गुण बाद में स्वयं दुर्गा के हो जाते हैं। यह गुणसंकरण इन दोनों देवताओं के तादात्म्य की ओर संकेत करता है और पुराणों के समय तक तो वास्तव में 'ज्येष्ठा' दुर्गा का एक नाम बन ही गया था। यह बात महत्वपूर्ण है और इसका पूरा अर्थ हम आगे चलकर समझेंगे।

उत्तर वैदिक साहित्य में विनायक का इस प्रकार सहसा उल्लेख और अपर काल में शिव के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध, इन दोनों ही बातों के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि विनायक के स्वरूप और उसकी वास्तविक उत्पत्ति के विषय में छान-बीन की जाय। अभी ऊपर हम कह चुके हैं कि प्रारम्भ में यह विनायक विनायकगण में से एक था और यह विनायकगण जनसाधारण के प्रचलित विश्वास के अनुसार अहितकारी जीव थे। या किसी समय रुद्र का भी इन विनायकों के साथ कोई सम्बन्ध था? 'बौधायन गृह्ण-सूत्र' में जहाँ विनायक का उल्लेख किया गया है, वहाँ उसे 'भूतपति', 'भूपति', 'भूतानां पति' और 'भुवनपति' की उपाधियाँ दी गई हैं। ये उपाधियाँ साधारणतया रुद्र के लिए प्रयुक्त होती हैं। इसके अतिरिक्त एक स्थल पर विनायक को 'उग्र' और 'भीम' भी कहा गया-

१. बौधायन गृह्ण-सूत्र : ३, ६।

है, जो वैदिक साहित्य में विशेष रूप से रुद्र की उपाधियाँ हैं। रुद्र और विनायक दोनों के परिचरों का भी एक ही नाम है, जबकि विष्णु के सम्बन्ध में किसी परिचरवर्ग का उल्लेख नहीं किया गया है। इससे यह धारणा होती है कि रुद्र और विनायक का परस्पर सम्बन्ध जितना ऊपर से प्रतीत होता है, उससे भी कहीं अधिक घनिष्ठ है। अपरन्कालीन साहित्य में, विशेषकर पुराणों में, शिव को बहुधा गणेश की उपाधियाँ दी गई हैं, और गणेश को प्रायः भगवान् शिव के अनेक गुणों से विभूषित किया गया है। इससे यह प्रबल धारणा होती है कि कुछ विशेष पहलुओं से देखने पर शिव और गणेश का स्वरूप परस्पर बहुत विभिन्न नहीं था, अतः यह संभव हो सकता है कि प्रारम्भ में यह दोनों देवता एक ही थे।

हमने प्रथम अध्याय में इस बात की ओर संकेत किया था कि अपने एक रूप में रुद्र विनायक के समान ही एक भयावह देवता थे, जिनकी तुष्टि के लिए 'व्यम्बक होम' किया जाता था। सूत्र ग्रन्थों में शूलगव यज्ञ के वर्णन से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। हो सकता है कि अपने एक रूप में स्वयं रुद्र को ही एक विनायक माना जाता हो और उसी रूप में उसको हस्तिमुख भी कल्पित किया गया हो। संभवतः इस रूप में रुद्र को 'गिरिचर' भी माना जाता था, और उनके कन्दरावास के प्रतीक स्वरूप मूषक को उनका बाहन कहा गया था^१। यह स्मरण रखना चाहिए कि उत्तर वैदिक काल में यह मूषक अनिवार्य रूप से गणेश का बाहन माना जाने लगा, शिव का नहीं। संभवतः इस रूप में शिव को ही विनायक कहा जाता था। रुद्र और गणेश के इस आदिकालीन तादात्म्य की पुष्टि 'अर्थवशिरस् उपनिषद्' से भी होती है, जिसमें रुद्र और विनायक, इन दोनों देवताओं को एक माना गया है।^२ कालान्तर में रुद्र के अन्य रूपों का विकास दूसरे प्रकार से हुआ और उनका यह रूप मानों पृथक्-सा हो गया और होते-होते, इस रूप में रुद्र, विनायक के नाम से एक स्वतंत्र देवता बन गये। सूत्र ग्रन्थों के समय तक यह अवस्था आ गई थी। देवकथाओं में एक देवता द्वारा अन्य देवताओं को आत्मसात् कर लेने की प्रक्रिया तो काफी प्रचलित है और इसके उदाहरण हम रुद्र के अनेक रूपों की विवेचना करते समय दे भी चुके हैं। परन्तु एक विपरीत प्रक्रिया भी देवकथाओं में चलती है, अर्थात् एक ही देवता के विभिन्न रूपों का विकास होते-होते अनेक स्वतंत्र देवताओं का अरित्व हो जाना। रुद्र और विनायक के सम्बन्ध में यही विपरीत प्रक्रिया काम करती हुई हृष्णोचर होती है। प्रारम्भ में विनायक रुद्र के ही एक रूप का नाम था; परन्तु जैसे-जैसे इस रूप का विकास होता गया, उस प्रारम्भिक तादात्म्य की स्मृति मिटती गई और अन्त में दोनों स्वतंत्र देवता बन गये। साथ ही गणेश को रुद्र का पुत्र माना जाने लगा और यह पिता-पुत्र सम्बन्ध उपयुक्त है भी; क्योंकि रुद्र के ही एक रूप से गणेश का जन्म हुआ है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसको देखते हुए अपर वैदिक काल में ज्येष्ठा और

१. रुद्र के इस स्वरूप की उत्पत्ति कैसे हुई, यह हम पहले अध्याय में 'व्यम्बक होम' और 'शतशद्रिय स्तोत्र' के प्रसंग में दिखा चुके हैं।

दुर्गा का तादात्म्य बड़ा अर्थपूर्ण हो जाता है। संभवतः ज्येष्ठा विनायकों की सजातीय ही प्रचलित लोक-विश्वास की एक स्त्री-देवता थी, और इसी कारण रुद्र के विनायक रूप से उसका साहचर्य रहा होगा। जब स्वयं रुद्र का साहचर्य एक अन्य स्त्री देवता से हुआ जो उनकी पत्नी कहलाई, तब इस ज्येष्ठा का उस स्त्री देवता से तादात्म्य हो जाना रवामाविक ही था। यद्यपि कुछ समय तक उसकी अलग उपासना होती रही, तथापि अन्त में उसको दुर्गा से अभिन्न माना जाने लगा और उसका नाम दुर्गा के अनेक नामों में गिना जाने लगा। अतः दुर्गा और ज्येष्ठा का यह तादात्म्य, रुद्र और विनायक के आदि तादात्म्य का एक और प्रमाण है।

हमारा यह निरीक्षण अब वैदिक काल के अन्त तक पहुँच गया है। इस अध्याय को समाप्त करने से पहले, हम संक्षेप में यह देख लें कि उत्तर वैदिक काल में, वैदिक रुद्र की उपासना में कितने महान् परिवर्तन हुए थे।

सिन्धु-घाटी के निवासियों का वैदिक आर्यों के साथ सम्मिश्रण हो जाने पर रुद्र ने सिन्धु-घाटी के पुरुष देवता को आत्मसात् कर लिया। इसके फलस्वरूप, सिन्धु घाटी की स्त्री-देवता का रुद्र की पूर्व सहचरी अभिका के साथ तादात्म्य हो गया और उसको रुद्र पत्नी माना जाने लगा। इस प्रकार भारतवर्ष में देवी की उपासना आई और शाक्तमत का सूत्रपात हुआ। इसके अतिरिक्त जननेन्द्रिय-सम्बन्धी प्रतीकों की उपासना, जो सिन्धु-घाटी के देवताओं की उपासना का एक अंग थी, का भी रुद्र की उपासना में समावेश हो गया। साथ ही 'लिंग' रुद्र का एक विशिष्ट प्रतीक माना जाने लगा और इसी कारण उसकी उपासना भी होने लगी। परन्तु धीरे-धीरे लोग यह भूल गये कि प्रारम्भ में यह एक जननेन्द्रिय सम्बन्धी प्रतीक था। इस प्रकार भारतवर्ष में लिंगोपासना का प्रादुर्भाव हुआ, जो शैव धर्म का एक अंग बन गई। दूसरी ओर उपनिषद् ग्रन्थों से पता चलता है कि रुद्र की उपासना का प्रचार नई धार्मिक और दार्शनिक विचार-धाराओं के प्रवर्तकों में हो रहा था, और ये लोग रुद्र को परब्रह्म मानते थे। परन्तु रुद्र का स्वरूप प्रचलित लोक-धर्म और धार्मिक आचार में लगभग वही रहा जो प्राचीन वैदिक काल में था। परन्तु इसी समय भक्तिवाद का विकास भी द्रुतगति से हो रहा था और उसमें रुद्र को जो देवाधिदेव का पद दिया जा रहा था, वह भी अधिकाधिक लोगों के सामने आ रहा था। इसके साथ-साथ रुद्र के एक प्राचीन रूप के विकास के फलस्वरूप एक नये देवता का प्रादुर्भाव हुआ जिसको सूत्रों में 'विनायक' कहा गया है, और जो अपर वैदिक काल में गणेश नाम से प्रसिद्ध हुआ। रुद्र और विनायक प्रारम्भ में एक ही देवता के दो रूप थे। परन्तु इस बात की स्मृति धीरे-धीरे लुप्त हो गई, और गणेश को रुद्र का पुत्र माना जाने लगा।

रुद्र की उपासना की विधि में भी महान् परिवर्तन हुआ। जिस समय उपनिषदों के दार्शनिक सिद्धान्तों का निर्माण हो रहा था, उसी समय भक्तिवाद की धारा भी चली, जिसका एक संकेत हमें 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में मिलता है। इस भक्तिवाद ने इस देश की धार्मिक विचारधारा और आचार को बिलकुल ही पलट दिया। ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड का धीरे-धीरे हास होता गया, और उसका स्थान प्रार्थना और देवता के चरणों में सीधे-सादे उपहार रखने

की विधि ने ले लिया । सिन्धु-धाटी की धार्मिक परम्परा के प्रभाव से भारतवर्ष में देवालयों में पूजा करने की प्रथा चली और चूँकि यह प्रथा भक्तिवाद के अनुकूल थी, अतः इसको तुरन्त ही अपना लिया गया । उसी समय से यह भारतवर्ष की धार्मिक परम्परा का एक स्थायी अंग बन गई । अब रुद्र के मन्दिर बनने लगे, और उनमें रुद्र की मूर्तियों का प्रतिष्ठान होने लगा । ये मूर्तियाँ मानवाकार भी थीं और 'लिंगाकार' भी ।

इस प्रकार वैदिक युग के समाप्त होते-होते रुद्र के उपासना के रूप में आमूल परिवर्तन हो गया और मानों इसी परिवर्तन के प्रतीक रूप रुद्र का नाम भी बदल गया तथा अब वह 'शिव' कहलाने लगे । वैदिक युग के अनन्तर साधारण रूप से उनका यही नाम हो गया ।

चतुर्थ अध्याय

भारत में अपर वैदिक काल के सबसे प्राचीन ऐतिहासिक अभिलेख हैं—वौद्ध-साहित्य तथा 'पाणिनि' और 'कौटिल्य' के ग्रन्थ। जहाँ तक भगवान् शिव की उपासना का सम्बन्ध है, इन अभिलेखों में हमें कतिपय उल्लेखों के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता। परन्तु इन उल्लेखों से उन निष्कर्णों की पुष्टि होती है, जिन पर हम पिछले तीन अध्यायों में पहुँचे थे। वौद्ध ग्रन्थ 'दीघ निकाय' में विष्णु और शिव दोनों का उल्लेख है; परन्तु उनकी उपासना के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया। प्राचीन 'तिपिटक' और 'जातक' ग्रन्थों में भी यही स्थिति है। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में रुद्र और उनकी उपाधियों 'भव' और 'शव' का तो उल्लेख किया है', परन्तु उनके नये नामों, 'शिव', 'शंकर' आदि का नहीं। परन्तु यह ग्रन्थ सूत्रों के समय से बाद का है, इसके अनेक संकेत मिलते हैं। ग्रन्थ में केवल 'रुद्र', 'भव' और 'शव' नामों से स्त्री-लिंग बनाने का नियम ही नहीं दिया गया, अपितु दो बार 'भक्ति' ^१ और दो बार 'भक्त' ^२ का उल्लेख भी किया गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस समय तक भक्तिवाद का प्रादुर्भाव हो चुका था; बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता है कि इस समय तक यह भक्तिवाद कुछ प्राचीन भी हो चुका था; क्योंकि एक सूत्र में वृष्णि और अर्जुन के भक्तों का उल्लेख किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि पाणिनि के समय तक इन दोनों को देवता माना जाता था और इनकी पूजा होती थी ^३। मूर्तियों और देवालयों का उल्लेख अष्टाध्यायी में कहीं नहीं है; परन्तु उस समय वे रहे अवश्य होंगे।

पाणिनि के समय में भगवान् शिव के विकसित स्वरूप का सबसे बड़ा प्रमाण वे सूत्र हैं जिनको 'माहेश्वर' कहा गया है और जो उनकी अष्टाध्यायी के ही नहीं, अपितु तत्कालीन संस्कृति के समस्त व्याकरण के आधार हैं। इन सूत्रों में संस्कृत वर्णों का एक विशेष ढंग से वर्गीकरण किया गया है, जिससे प्रत्येक वर्ग का एक छोटा-सा नाम बन जाता है, जिसे प्रत्याहार कहते हैं ^४। इन प्रत्याहारों को लेकर ही वैयाकरण अपने सूत्रों की रचना करते थे। ये सूत्र महेश्वर अर्थात् भगवान् शिव के प्रकट किये हुए माने जाते हैं। और चूँकि इन सूत्रों में संस्कृत भाषा की सभी ध्वनियाँ अन्तर्हित हैं, अतः ये सूत्र महेश्वर के द्विये हुए हैं, इसका

१. अष्टाध्यायी : १, ४६; ३, ५३; ४, १००।

२. „ : १, ४६।

३. „ : २, २१; ३, ६५।

४. „ : ४, ६८; ४, १००।

५. „ : ३, ६८।

६. „ : ये महेश्वर सूत्र इस प्रकार हैं:—“अ इ उ (ए), अ लृ (क), ए ओ (ड), ए औ (च), ह य वर (ट), ल (ए), य म ग ण न (म) फ भ (ञ), व घ घ (ष), ज व ग ड द (श), ख फ छ ठ थ च ट त (व), क प (य), रा ष स (र), ह (ल)।”

अर्थ यह हुआ कि उस समय तक यह माना जाने लगा था कि मानव को वाक्-शक्ति भगवान् शिव से ही मिली है^१। यह शिव के स्वरूप के महान् उत्कर्ष का सूचक है।

पाणिनि की आषाध्यायी के अनन्तर हमें फिर ईसा से चौथी शताब्दी पूर्व का कौटिलीय अर्थशास्त्र ही उपलब्ध है। इस ग्रन्थ में दुर्गों के अन्दर बने शिव और अन्य देवताओं के मन्दिरों का रण्ट उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में और भी बहुत-सी ऐसी सामग्री है, जिससे पता चलता है कि उस समय तक देवालय और मूर्तिपूजा स्थायी रूप से भारतीय धर्म का अंग बन चुके थे^२।

ऊपर जिन ग्रन्थों की चर्चा की गई है, उनसे कोई और विशेष महत्व की सामग्री नहीं मिलती। अतः अब हम अपर वैदिक काल में शैवधर्म-सम्बन्धी अपनी जानकारी के अगले स्रोत को लेते हैं। यह स्रोत है—रामायण और महाभारत।

रामायण और महाभारत में शैव-धर्म का काफी विकसित रूप दिखाई देता है, जिसमें पौराणिक शैव धर्म के प्रायः सभी लक्षण वर्तमान हैं। परन्तु रामायण और महाभारत का रचना-काल काफी लम्बा है, इसी कारण उसमें रुद्र की उपासना के प्राचीन और अर्वाचीन दोनों रूप पाये जाते हैं। रामायण में महाभारत की अपेक्षा शैव धर्म का कुछ अधिक प्राचीन रूप दिखाई देता है, अतः पहले हम रामायण को ही लेते हैं।

सूत्र ग्रन्थों की अपेक्षा रामायण में रुद्र का स्वरूप अत्यधिक विकसित है। उनको सामान्यतः अब रुद्र नहीं, अपितु 'शिव' कहा जाता है। 'महादेव', 'महेश्वर', 'शंकर', 'ब्यम्बक' और ब्यम्बक के पर्यायवाची अन्य नामों का अब पहले की अपेक्षा बहुत अधिक प्रयोग होता है। भयावह 'रुद्र' से सौम्य 'शिव' नाम का परिवर्तन केवल नाम का ही परिवर्तन नहीं है, अपितु इस देवता के स्वरूप में एक महान् परिवर्तन का बाह्य लक्षण है, और रुद्र के सौम्य करने की उस प्रक्रिया की सफल समाप्ति का सूचक है जो वैदिक काल में ही प्रारम्भ हो गई थी।

उपनिषद् ग्रन्थों में हमने देखा था कि नई धार्मिक और दार्शनिक विचारधारा के समर्पक में आकर रुद्र के प्राचीन स्वरूप में कितना परिवर्तन आ गया था। 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् से यह भी पता चलता है कि उसी समय भक्तिवाद का भी प्रादुर्भाव हो रहा था, और विष्णु और शिव को इस भक्तिवाद के आराध्य-देव बनाया जा रहा था। इस भक्तिवाद के मूल सिद्धान्त थे—ईश्वर में निष्ठा, और ईश्वर की दया तथा कृपा से मोक्ष प्राप्ति। इन सिद्धान्तों के प्रभाव से रुद्र के प्राचीन स्वरूप का भयावह अंश पीछे पड़ गया, और रुद्र का सौम्य रूप अधिकाधिक सामने आता गया। जिस समय तक भक्तिवाद ने पूर्णरूप से प्राचीन कर्मकाण्ड का स्थान लिया, उस समय तक रुद्र को भी एक सौम्य और दयावान् देवता के रूप में और सच्चे अर्थ में 'शिव' माना जाने लगा था। रामायण में हम रुद्र का यही रूप देखते हैं। अब रुद्र वह देवता नहीं हैं, जिनके प्रकोप से और जिनके भयानक वाणों

१. संस्कृत को जो देव-वाणी का पद दिया गया है, उसका भी यही कारण प्रतीत होता है।

२. कौटिल्य अर्थ-शास्त्र (शाम शास्त्री संस्करण)।—३, २२; २, १०।

से सभी डरते थे, अपितु अब वे सदा ही मानवमात्र के कल्याण करने में लगे रहते हैं^१। वे वरदाता हैं^२, आशुतोष हैं और दयानिधि हैं। उनका पद भी अब अत्यन्त उत्कृष्ट है। उपनिषदों में हमने देखा था कि रुद्र को दार्शनिक रूप से परंब्रह्म माना जाता था। भक्तिवाद के उत्थान के साथ उनके इस रूप का भी अधिकाधिक प्रचार हुआ। प्राचीन वैदिक देवमण्डल का अब इतना हास हो गया था कि वह प्रायः नगरण था और उसके स्थान पर एक 'त्रिमूर्ति' का उत्थान हो रहा था। इस त्रिमूर्ति में भी 'ब्रह्मा', प्रायः पीछे-पीछे ही रहते हैं, और विश्व के सक्रिय संचालन और नियंत्रण के कार्य में इनका स्थान त्रिमूर्ति के अंदर दो देवताओं, विष्णु और शिव की अपेक्षा कुछ घट कर है। जब-जब देवताओं पर कोई संकट पड़ता है, वहुधा ब्रह्मा देवताओं की ओर से इन्हीं दो देवताओं में से किसी एक से साहाय्य याचना करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं^३। जहाँ तक विष्णु और शिव का सम्बन्ध है, अभी तक इन दोनों के बीच कौन श्रेष्ठ है, इसके लिए कोई संघर्ष नहीं होता था। दोनों के उपासक अपने-अपने देवताओं को श्रेष्ठ मानते थे; पर इसको लेकर एक दूसरे से झगड़ते नहीं थे। रामायण चूँकि एक वैष्णव ग्रन्थ है, इस कारण इसमें विष्णु को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व दिया गया है। परन्तु जहाँ-जहाँ शिव का प्रसंग आया है, शिव को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। उन्हें देवताओं में सर्वोच्च और सर्वोच्चम तथा देवों के देव कहा गया है^४। अमर लोक में भी उनकी उपासना होती है^५। प्रत्येक महान् संकट में देवतागण सहायता और परिचारण के लिए उन्हीं के पास दौड़े जाते हैं। एक बार तो स्वयं विष्णु अन्य देवताओं को लेकर उनकी शरण में गये थे^६।

भगवान् शिव का उपनिषदोंवाला दार्शनिक स्वरूप रामायण में अधिक नहीं मिलता। परन्तु उनको उस समय जो उत्कृष्ट पद प्राप्त है, उससे रपट है कि इसका ज्ञान तब अवश्य था। एक स्थल पर तो स्पष्ट रूप से शिव को जगत् की सृष्टि और अन्त करनेवाला, सब लोकों का आधार और परं गुरु कहा गया है^७। एक अन्य स्थल पर उन्हें 'अमर', 'अक्षर' और 'अव्यय' माना गया है^८। वास्तव में शिव का जो स्वरूप रामायण में दिखाई देता है, उसको हम उनके दार्शनिक परंब्रह्म स्वरूप का ही एक लोकप्रिय और सहजगम्य रूप मान सकते हैं।

शिव का योगाभ्यास के साथ जो सम्बन्ध पहले-पहल उपनिषदों में दृष्टिगोचर होता

-
- | | | |
|----|---------------------|---------------------------------------|
| १. | रामायण, बाल-काण्ड : | ३६, ६-१०। |
| २. | ,, | : ५२, १३। |
| ३. | ,, | : ३६, ८। |
| ४. | ,, | : ४५, २२-२६; ६६, ११-१२; ६, १; १६, २७। |
| ५. | ,, | : १३, २१ और आगे। |
| ६. | ,, | : ४५, २३ और आगे। |
| ७. | ,, | : ६, २। |
| ८. | ,, | : ४, २६। |

है, वह रामायण में अधिक रपष्ट हो जाता है। शिव की उपासना का और उनको प्रसन्न करने का सामान्य मार्ग अब तपश्चर्या ही है। 'भगीरथ' ने उनको इसी प्रकार तुष्ट किया १ और 'विश्वामित्र' ने भी ३। स्वयं देवताओं को भी शिव से वरदान पाने के लिए तप करना पड़ता है ५। असल में तपश्चर्या और योग भारतवर्ष में एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में विकसित हुए। भगवद्वर्ण और मोक्षप्राप्ति के लिए इनको अत्यन्त उपयुक्त समझा जाता था। यह भी विश्वास किया जाता था कि इनका अभ्यास करनेवाले को अनेक शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इसी कारण तपश्चर्या और योगाभ्यास को बड़ा गौरवमय पद दिया गया है। इनकी सहायता से मानव देवताओं से टक्कर लेते हैं, और दानव भी योगाभ्यास के बल से देवताओं से वरदान प्राप्त करते थे। योग का उत्कर्ष यहाँ तक हुआ कि शिव तक की, जो स्वयं योगाधिगम्य थे, योगाभ्यासी माना जाने लगा और वह महायोगी कहलाने लगे। इसको हम योग का चरमोत्कर्ष कह सकते हैं। रामायण के समय तक यह स्थिति आ चुकी थी, और एक स्थल पर हिमालय में योगाभ्यास करते हुए भगवान् शिव का उल्लेख भी किया गया है ५।

परन्तु रामायण में सबसे अधिक ज्ञान हमें शिवोपासना के लोकप्रचलित रूप का होता है। शिव अब एक कल्याणकारी देवता तो माने जाते ही थे, साथ ही रुद्रपत्नी का भी अब उनके साथ निरन्तर उल्लेख होता है, और उनका भी अब एक विकसित व्यक्तित्व बन गया है। उनका एक नाम 'उमा' है ६ और उनको हिमवत् अर्थात् हिमालय की पुत्री माना जाता था ७। यह वही देवता है, जिन्हें 'केन' उपनिषद् में 'उमा हैमवती' कहा गया है। हिमवत् से सम्बन्ध होने के कारण इनका नाम पार्वती भी पड़ गया और आगे चलकर यह सबसे प्रचलित नाम हो गया ८। एक बार इनको 'रुद्राणी' भी कहा गया है ९। परन्तु, 'भवानी' नाम को छोड़कर इस प्रकार के नामों का, जो रुद्र के अनेक नामों के स्त्रीलिंग रूप मात्र हैं, आगे चलकर बहुत कम प्रयोग होने लगा और इस स्त्री-देवता को सामान्यतः उनके अपने नामों से ही पुकारा जाने लगा। इससे भी पता चलता है कि अधिकतर अन्य देवियों की तरह यह देवी केवल अपने पति रूप पुरुष-देवता की छायामात्र ही नहीं थी, अपितु उनका एक स्वतंत्र व्यक्तित्व था। शिव के समान ही भक्तिवाद के नम्र प्रभाव से इनका भी आदिम भयावह रूप धीरे-धीरे लुत हो गया, ऐसा जान पड़ता है।

१. रामायण, बा० का० : ४२, २३-२४।
२. " " : ५५, १२।
३. " उ० का० : १३, २१-२२।
४. " बा० का० : ३६, २६।
५. " " : ३५, १६-२१; ३६, १४-२०; ४३, २; उ० का० ४, २८-३०; १३, २२; १६, ३२; ८७, १२-१६।
६. " बा० का० : ३५, १६; ३६, २१; उ० का० ८७, ११।
७. " उ० का० : ४, २७; १३, २३; ६, २६-३०।
८. " " : १३, २३।

कम से कम शिव की पत्नी के रूप में तो ऐसा अवश्य हुआ है, और तब यह देवी एक सौम्य कल्याणकारिणी और दयावती देवी बन गई^१। इसका यह अर्थ नहीं है कि उनका पद कुछ गिर गया हो। यद्यपि रामायण में इनका अधिक उल्लेख नहीं हुआ है, तथापि उनके उत्कृष्ट पद प्राप्त होने के अनेक संकेत रामायण में मिलते हैं। इसी कारण उनको प्रायः 'देवी'^२ कहा जाता है और समस्त सुष्ठु उनका सम्मान करती है^३। देवतागण भी उनके सामने आँख उठाने का साहस नहीं कर सकते। रामायण की एक कथा के अनुसार एक बार दैवयोग से 'कुबेर' की छिप उनके मुख पर पड़ गई, जिससे तत्क्षण कुबेर की आँख ही चली गई^४। एक बार जब कुद्ध होकर उन्होंने देवताओं को शाप दे दिया, तब देवता उनके शाप का निवारण करने में असमर्थ रहे^५। अतः जब कवि यह वर्णन करता है कि रावण के कैलास पर्वत को डुलाने पर पार्वती ने डरकर सहसा अपने पति का आलिंगन कर लिया, तब हँसी आती है। कवि की कल्पना नारी के स्वभाव-सुलभ भीरुपन को दिखाने में यथार्थता को पीछे छोड़ गई है^६।

रामायण में देवी की शिव के साथ ही उपासना होती है, और जिस प्रकार भक्तजन भगवान् शिव से कल्याण की प्रार्थना करते हैं, उसी प्रकार देवी से भी करते हैं। वह हमेशा शिव के साथ ही रहती है, और इन दोनों को लेकर जिस उपासना का उत्थान हुआ, वही वेदोत्तर काल में शैव धर्म का सबसे अधिक प्रचलित रूप बना।

रामायण में शिव और पार्वती-सम्बन्धी उन देवकथाओं और आख्यानों का चक्र भी प्रारम्भ हो जाता है, जो शिवोपासना के लोकप्रचलित रूप का एक प्रमुख अंग है, और जिसका पुराण-काल में भारी विस्तार हुआ है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि वैदिक काल में जो कथाएँ रुद्र के सम्बन्ध में प्रचलित थीं, उनमें से बहुत कम अब तक शेष रह गई^७। रुद्र का शिवरूप में परिवर्तन इतना पूर्ण था कि उनका नाम, स्वरूप और उपासना के तरीके तो बदल ही गये, इसके ताथ उनके सम्बन्ध में जिन देवकथाओं का प्रादुर्भाव हुआ, वे भी बदल गई^८। यद्यपि अब हमें एक नवीन देवकथा-चक्र का अध्ययन करना पड़ता है, तथापि इनमें कुछ कथाओं का बीज हमें वैदिक साहित्य में मिल सकता है। कुछ कथाओं का आधार तो वैदिक रुद्र का ही एक रूप विशेष है, जिसकी स्मृति तक शेष थी। ये ही कथाएँ वैदिक रुद्र और वेदोत्तरकालीन शिव में सम्बन्ध स्थापित करती हैं, और हमें इस बात का समरण कराती हैं कि ये दोनों मूल रूप से एक ही देवता थे। इसका एक प्रमुख उदाहरण है कैलास पर्वत पर शिव का आवास का होना^९। यह वैदिक रुद्र के, उत्तर दिशा के साथ, सम्बन्ध का

१. रामायण, बा० का० : ३६, ६; १०, २६; उ० का० १३, २२-३०; द७, १३।

२. , , : ३५, २१।

३. , , उ० का० : १३, २२-२५।

४. , , बा० का० : ३६, २१-२५।

५. , , उ० का० : १६, २६।

६. , , बा० का० : ३६, २६; उ० का० १६, १ और आगे।

विकासमात्र है। दुर्भाग्यवश कोई ऐसा अभिलेख उपलब्ध नहीं है, जिनके द्वारा हम इन देवकथाओं का पूर्व इतिहास जान सकें और इनके आदिम स्रोत तक पहुँच सकें।

रामायण में इन कथाओं में से अधिकतर अपने विकसित रूप में ही पाई जाती हैं, और कुछ का रूप तो लगभग वैसा ही हो गया है जैसा कि पुराणों में मिलता है। अतः हमको इन्हें पर ही संतोष करना पड़ेगा कि हम इन कथाओं का अध्ययन करें और इनके इसी रूप में ऐसे सुराग हूँड़े जिससे इनकी उत्पत्ति का पता चल सके।

इनमें से पहली कथा तो भगवान् शिव के विषपान की है^१। यह कथा देवताओं द्वारा सागर-मन्थन की बृहत् कथा का एक भाग है, जिसका रामायण में संक्षेप से ही उल्लेख किया गया है। देव और दानव, मन्दार पर्वत को रई (मथनी) बना कर और नाग वासुकि को रज्जु बनाकर जब दीर्घ काल तक सागर का मन्थन करते रहे, तब वासुकि के मुख से और मन्दार पर्वत का चट्टानों से हलाहल टपकने लगा, जिससे समस्त सृष्टि और स्वयं देवों तथा दानवों के भस्मसात् हो जाने का संकट उत्पन्न हो गया। भयभीत हो देवतागण शिव के पास गये, और देवताओं की ओर से विष्णु ने उनसे प्रार्थना की कि वह सागर-मन्थन के प्रथम फल के रूप में इस हलाहल को ग्रहण करें। इसपर भगवान् शिव उस भयंकर विष को इस प्रकार पी गये, मानों वह अमृत हो। कवि ने यहाँ यह वर्णन नहीं किया कि जब वह हलाहल शिव के कण्ठ में पहुँचा, तब देवताओं की विनती पर उन्होंने उसे वहाँ रोक लिया, जिससे उनका कंठ नीला पड़ गया। परन्तु कथा के इस भाग का ज्ञान उस समय भी अवश्य रहा होगा; क्योंकि महाभारत में इसका अनेक स्थलों पर विभिन्न प्रकार से उल्लेख किया गया है। इस कथा की उत्पत्ति निःसन्देह वैदिक रुद्र की 'नील-ग्रीव,' 'नील-कंठ' उपाधि का समाधान करने के फलत्वरूप हुई थी। इन उपाधियों के मूल अर्थ को लोग भूल गये थे; परन्तु चूँकि उपाधियाँ स्वयं अभी तक चली आ रही थीं, अतः उनको समझाने के लिए ही यह कथा रची गई।

एक अन्य कथा है—गंगावतरण की^२। इसकी उत्पत्ति का हम ऊपरवाले ढंग से समाधान नहीं कर सकते। भगीरथ अपने पूर्वज सगरपुत्रों के उद्धार के लिए गंगा को र्खण्ड से उतार कर पृथ्वी पर लाना चाहते थे। उनकी भक्ति और प्रार्थना से प्रसन्न होकर भगवान् शिव ने गंगा के प्रगत को रोकने के लिए, उसे पृथ्वी पर पहुँचने से पहले, अपने सिर पर लेना स्वीकार कर लिया। अपने अभिमान में गंगा ने चाहा कि भगवान् शिव को भी अपने साथ बहा ले जायें और पाताल लोक में पहुँचा दें। गंगा के अभिमान-मर्दन के लिए शिव ने उसकी धारा को अपनी जटाओं में ले लिया, और उन जटाओं के जंगल में गंगा ऐसी खोई कि लाख प्रयत्न करने पर भी बाहर निकलने का कोई मार्ग न पा सकी। इस प्रकार गंगा का अभिमान चूँ हो जाने पर, और भगीरथ के सानुरोध अनुनय करने पर, अन्त में शिव ने उसे मुक्त कर दिया। यहाँ इस कथा का प्रयोजन स्पष्ट रूप से शिव की महत्ता प्रदर्शन ही है; परन्तु वास्तव में इसकी उत्पत्ति कैसे हुई, इसका पता नहीं। संभव है कि जिस गंगा नदी को

१. रामायण, बा० का० : ४५, १८-२६।

२. „, „, : ४२-४३।

पृथ्वी पर देवतास्वरूप माना जाता है, और जिसके उद्गम का शायद उस समय तक ठीक ठीक ज्ञान नहीं था, उसका उचित स्थान-निर्देश करने के लिए इस कथा की रचना हुई हो।

शिव-सम्बन्धी अन्य कथाएँ शिव और पार्वती के साहचर्य के कारण बनीं। इनमें सबसे प्रमुख वह है—जो इसी साहचर्य का समाधान करती है। देवताओं के रूप का अत्यधिक मानवीकरण हो जाने के कारण यह आवश्यक था, और सहज व्यावहारिक तर्क की यह माँग भी थी कि किसी देवता को अगर पत्नी मिले तो वह सामान्य परिणय-विधि द्वारा ही उसे प्राप्त करे। जहाँ तक भगवान् शिव का सम्बन्ध है, उनके विषयान की कथा के समान ही उनके विवाह की कथा भी एक बृहत् कथा का भाग है; परन्तु उसका वास्तविक प्रयोजन विलकुल स्पष्ट है। उसकी उत्पत्ति का ज्ञान भी सहज ही हो सकता है; क्योंकि जब पार्वती को हिमवत् की पुत्री माना जाने लगा, और शिव का वास भी उसी पर्वत में, तब कथा के शेष अंशों की पूर्ति एक सहज-सी बात थी। रामायण में इस कथा का, केवल एक बार संक्षिप्त रूप में ही, उल्लेख किया गया है^१। इसमें कथानक इस प्रकार है कि उमा ने शिव को वर रूप में पाने लिए तपस्या की, और उसके पिता ने यथासमय उसका विवाह शिव से कर दिया। बाद में इस कथा का वित्तार हुआ और इसमें अनेक दूसरी बातों और घटनाओं का समावेश किया गया। यहाँ तक कि यह कथा महाकाव्यों का कथानक बनने के योग्य हो गई। इनमें से एक घटना है—मदन-दहन। इसकी सम्भवतः एक अपनी कथा थी, और इसकी रचना, शिव के आदर्शयोगी रूप पर जोर देने और शायद कामदेव की 'अनंग' उपाधि का समाधान करने के लिए की गई थी। इसका उल्लेख रामायण के एक अन्य रथल पर भी हुआ है^२। यहाँ शायद इसका आदिरूप भी है; क्योंकि इसमें वे नाटकीय अंश नहीं हैं, जो इस कथा के अन्य संरक्षणों में पाये जाते हैं। कुछ और बातों में भी यह कथा उनसे भिन्न है। इस कथा के अनुसार कामदेव ने, जो पहले सशरीर था, विवाह के उपरान्त अपनी पत्नी के साथ विचरते हुए शिव को रोकने की उद्देश्यता की। परन्तु शिव के तृतीय नेत्र के प्रचण्ड क्रोधानल से वह भरमसात् हो गया। इस कथा से शिव को 'कामारि' की एक नई उपाधि मिली^३।

शिव और पार्वती के विवाह की कथा के सिलसिले में ही इकन्द के जन्म की कथा भी रामायण में दी गई है। सूत्र-ग्रन्थों में इस देवता का उल्लेख हो चुका है। परन्तु वहाँ उसके और शिव के सम्बन्ध का कोई वर्णन नहीं किया गया। रामायण में इस कथा के दो भिन्न रूप हैं; परन्तु दोनों आपस में कुछ मिल जुल भी गये हैं। पहले रूप में कथा इस प्रकार है कि शिव और पार्वती की रति-लीला जब अतिरीक्षकाल तक चलती रही, तब देवतागण घबरा गये। वे ब्रह्मा को अग्रणी बना शिव के वास पर पहुँचे, और उनसे प्रार्थना करने लगे कि वह पार्वती से अपनी काई सन्तान उत्पन्न करें; क्योंकि ऐसी सन्तान के तेज को त्रिलोक में काई सहन नहीं कर सकेगा। शिव ने प्रार्थना स्वीकार की; परन्तु उनका जो बीज

१. रामायण, बा० का० : ३५, १३-२०।

२. „ „ : २३, १० और आगे।

३. „ उ० का० : ६, ३ इत्यादि।

विज्ञुव्य हो चुका था, उसके लिए कोई उपयुक्त पात्र माँगा। देवताओं ने पृथ्वी को इस कार्य के लिए राजी किया, और जब शिव के बीज ने समर्त पृथ्वी को व्यास कर लिया, तब अर्पिनदेव उस बीज में प्रवेश कर गये। इसपर उस बीज ने एक श्वेत पर्वत का रूप धारण कर लिया, जिसपर एक शर-वण था और इसी बन में स्कन्द का जन्म हुआ। परन्तु देवताओं के इस असामिक विभ्र डालने से पार्वती को बहुत रोप आ गया, और इन्होंने देवताओं को शाप दिया कि वे सदा निःसन्तान रहेंगे^१। इस कथा का दूसरा रूप अगले खंड में दिया गया है, और एक प्रकार से कथा के पहले रूप को ही आगे बढ़ाता है। क्योंकि, जब पार्वती के शाप से देवताओं की अपनी कोई सन्तान न हो सकी, तब उन्होंने गंगा को अग्नि से पुत्र उत्पन्न करने के लिए कहा, जो उनके शत्रु-दानवों का संहार कर सके। गंगा राजी हो गई; परन्तु अग्नि के बीज को सहन न कर सकी। उसने उसे हिमालय पर्वत पर डाल दिया, जहाँ वह भ्रूण रूप में बढ़ा रहा, और उचित समय पर 'स्कन्द' का जन्म हुआ। इस नवजात शिशु को कुत्तिकाओं ने पाया तथा पाला-पोसा, और इसी कारण उसका 'कार्तिकेय' नाम भी पड़ा^२। अब यहाँ देखना यह है कि कथा के दोनों ही रूपों में शिव का असली पुत्र 'स्कन्द' नहीं है। दूसरे रूप में तो उसका शिव से कोई सम्बन्ध ही नहीं है और उसको अग्नि का पुत्र माना गया है। पहले रूप में भी अग्नि ही 'स्कन्द' का अन्यवहित जनक है, यद्यपि जिस बीज से रकन्द का जन्म हुआ, वह शिव का ही था। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि जब रकन्द को, शिव का पुत्र नहीं, अपितु 'अग्नि-सम्भवः' अर्थात् अग्नि से उत्पन्न बतलाया गया है, तब ऐसा जान पड़ता है कि प्रारम्भ में 'स्कन्द' का शिव का पुत्र नहीं माना जाता था। वह अग्नि का पुत्र था और सम्भव है कि वह सूर्य-सम्बन्धी कोई देवता रहा हो। जब हम महाभारत का निरीक्षण करेंगे तब यह बात और भी रुप्त हो जायेगी और वहाँ हमें तो इस कथा का वह आदि रूप ही नहीं मिलता है। वहाँ इस कथा के विकास की विभिन्न अवस्थाओं से हमारा परिचय होता है, और हमें यह भी पता चलता है कि क्यों रकन्द को शिव के साथ सम्बद्ध करने का प्रयास किया गया?

इन कथाओं के अतिरिक्त रामायण में कई अन्य कथाओं के प्रसंग भी आये हैं। अतः इनका भी उस समय तक प्रादुर्भाव हो गया होगा। दक्ष-यज्ञ की कथा का एक बार उल्लेख किया गया है^३ और एक बार शिव द्वारा 'अन्धकवध' का भी उल्लेख हुआ है^४। इसके अतिरिक्त 'त्रिपुरारि' और इसकी पर्यायवाची शिव की अन्य उपाधियों के उल्लेख से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि शिव द्वारा दानवों के तीन पुरों के ध्वंस की कथा भी उस समय तक प्रचलित हो गई थी^५। श्री गोरेसियो

-
- | | | |
|----|-------------------|----------------------|
| १. | रामायण, बा० का० : | ३६, ५-२७। |
| २. | ,, | ३७, २३-२५। |
| ३. | ,, | ६६, ६। |
| ४. | ,, अर० का० : | ३५, ६२। |
| ५. | ,, बा० का० : | ७५, १२; ४, २८; ६, ३। |

द्वारा प्रकाशित रामायण में तो इस कथा के दो प्रत्यक्ष उल्लेख भी हैं^१। इन कथाओं का विस्तृत विवेचन हम 'महाभारत' का निरीक्षण करते समय करेंगे।

भगवान् शिव का एक प्रमुख और महत्वपूर्ण रूप अभी देखना शोष है। वह है— देवताओं और मनुष्यों द्वारा ही नहीं, अपितु इन दोनों के शत्रु मानेजानेवाले दानवों द्वारा भी शिव की उपासना। उदाहरणार्थ रावण का जब एक बार अभिमान टूट चुका, तब वह शिव का भक्त हो गया^२। विद्युत्केश दानव को पार्वती ने गोद लिया था और शिव ने उसे अमरत्व का वरदान दिया था^३। एक अन्य स्थल पर कहा है कि देवताओं के प्रार्थना करने पर भी शिव ने दानवों का संहार करने से इनकार कर दिया; यद्योंकि वह पहले ही दानवों का संहार न करने का वचन दे चुके थे^४। इससे शिव का दानवों के साथ कुछ निकट सम्बन्ध प्रतीत होता है, और इस बात में वह विष्णु से विलकुल विपरीत है। विष्णु ने कभी किसी दानव को कोई वर नहीं दिया और न किसी दानव ने ही कभी विष्णु की उपासना की। वह हमेशा देवताओं के पक्षपाती और दानवों के संहारक रहे हैं। शिव ने जब देवताओं की प्रार्थना को अश्वीकार कर दिया, तब विष्णु ने उनके कार्य को अपने ऊपर लिया। यह अन्तर इन दोनों देवताओं में एक मौलिक मेद का परिचायक है, यद्यपि इनकी उपासना का विकास समान प्रकार से हो रहा था, और आगे चल इन दोनों का तादात्म्य भी ही गया। यह अन्तर इन दोनों देवताओं के आदि-स्वरूप पर महत्वपूर्ण प्रकाश ढालता है। विष्णु प्रारम्भ से ही विशुद्ध रूप से आर्यों के देवता थे। प्रारम्भ से ही उनकी उपासना आर्य-जाति के उच्च वर्गों में होती थी और बहुत शीघ्र ही ब्राह्मणों के कर्मकारण से भी उनका यथेष्टु सम्पर्क हो गया। यहाँ भी उनका महत्व बढ़ता ही गया और उनको मानों यज्ञ का प्रतीक माना जाने लगा^५। जनसाधारण में विष्णु की उपासना अधिक नहीं होती थी। इसके अलावा विष्णु का ब्राह्मण पुरोहितों के कर्मकारण के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध ही जाने से विष्णु के स्वरूप में अथवा उनकी उपासना में किसी विदेशी अंश का समावेश न हो सका। कर्मकारण के उत्थान के साथ यज्ञ को उनका मूर्त-रूप माना जाने लगा और इसी से विष्णु की वह दशा नहीं हुई जो अन्य देवताओं की हुई। जैसे-जैसे अन्य देवताओं के महत्व का हास होता गया, विष्णु आर्यों के प्रधान देवता बनते गये, और इसी नाते उनके शत्रुओं के संहारक भी, जिनको देवकथाओं में दानवों का रूप दिया गया है, आर्यों के प्रधान देवता बन गये। परन्तु रुद्र की वह स्थिति नहीं थी। उनका लोकप्रिय स्वरूप और प्रचलित लोक-विश्वासों से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध हम देख ही चुके हैं। हमने यह भी देखा है कि अपने इस लोकप्रिय रूप के फलत्वरूप रुद्र ने आर्येतर जातियों के अनेक देवताओं को आत्मसात् कर लिया, और इन जातियों को आर्य जाति के साथ मिलाने

१. रामायण, (गोरेसियो संस्करण) : ४, ५, ३०; ६, ५१, १७।

२. „ ३० का० : १६, ३४ और आगे।

३. „ „ : ४, २६।

४. „ „ : ६, ३ और आगे।

५. 'विष्णुवै यज्ञः'।

की सुविधा के लिए इनको आर्य-देवता रुद्र का उपासक माना जाने लगा। इन जातियों का तो धीरे-धीरे आयों के साथ सम्मिश्रण हो गया; परन्तु इनके प्रारम्भ में आर्येंतर होने की स्मृति देवकथाओं में बनी रही। यही कारण था कि इन देवकथाओं में दानवों को शिव का उपासक माना गया है। रामायण में शिव दानवों की उपासना स्वीकार करते हुए और उन्हें वरदान देते हुए पाये जाते हैं। हमें इसको उस प्राचीन काल की स्मृति समझना चाहिए। जब दानव, विभिन्न आर्येंतर जातियों के अपने आदिम मानवरूप में, शिव की उपासना करते थे और उनसे कल्याण के लिए प्रार्थना करते थे। इस प्रकार शिव मनुष्यों और सुरों के ही देवता नहीं थे, अपितु दानवों के भी उपास्यदेव थे। शिव की इस अद्वितीय महत्त्व को लेकर उनके उपासकों ने उनका पदोत्कर्प किया। वही एक ऐसे देवता थे, जिन्हें सारी सृष्टि—देव और दानव—पूजते थे। स्वयं विष्णु भी यह दावा नहीं कर सकते थे। इसी कारण शिव-भक्तों ने शिव को ही देवाधिदेव और परम परमेश्वर माना। केवल एक देवता ब्रह्मा भी थे, जिनकी उपासना देव और दानव दोनों करते थे। परन्तु ब्रह्मा के इस प्रकार पूजे जाने के कारण विलकुल भिन्न और अपेक्षाकृत बड़े सरल थे। चराचर के स्थान के रूप में उनकी कल्पना की गई है। उहने जहाँ देवों की सृष्टि की, वहाँ दानवों और मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों की भी। इसी तथ्य को प्रजापति और उनकी दो पत्नियों, दिति और अदिति, की कथा में लक्षण रूप से दर्शाया गया है। दिति से दैत्य और अदिति से आदित्य और अन्य देवता उत्पन्न हुए। ईसाई देवकथाओं में भी इसी प्रकार का एक उदाहरण मिलता है कि शैतान और उसके अनुयायी प्रारम्भ में ईश्वर के दरवार के फरिश्ते थे। देवों और दानवों के समान स्थान होने के नाते, दोनों के द्वारा ब्रह्मा की उपासना होनी स्वाभाविक ही थी। परन्तु ज्योत्यों विष्णु और शिव का महत्त्व बढ़ने लगा, त्यों-त्यों ब्रह्मा का महत्त्व घटता गया और अन्त में लुपत्राय ही गया। यद्यपि प्राचीनता के नाते ब्रह्मा की गणना 'त्रिमूर्ति' में होती रही; परन्तु वास्तव में भगवान् शिव ही एक ऐसे देवता रह गये जिनको वयार्थ में 'सर्वेश' कहा जा सकता था।

रामायण में शिव के स्वरूप और उनकी उपासना के प्रमुख अंशों का उल्लेख मिलता है। साथ-साथ इन्हीं के सम्बन्ध में अनेक छोटी-मोटी बातों का भी पता चलता है। प्रथम तो रामायण में शिव की दो नई उपाधियाँ दी गई हैं, 'हर' ^१ और 'वृयधव्ज' ^२। पहले नाम की व्युत्पत्ति 'हृ' धातु से हुई है जिसका अर्थ है—'ले जाना'। जान पड़ता है कि प्रारम्भ में यह उपाधि अग्नि की थी; योंकि उसको देवताओं के लिए बलि ले जानेवाला माना जाता था। जब रुद्र और अग्नि का तादात्म्य हुआ, तब सम्भवतः यह उपाधि अग्नि से बदलकर रुद्र को दी जाने लगी और कालान्तर में यह उपाधि शिव के सबसे अधिक प्रचलित नामों में से एक हो गई। दूसरी उपाधि का इतिहास भी रोचक है। संहिताओं में हम देख आये हैं

१. रामायण, बा० का० : ४३, ६; उ० का० ४, ३२; १६, २७; ८७, ११। यह उपाधि 'आश्वलायन गृह्ण-स्वर' में भी एक बार शिव को दी गई है—४, १०।

२. ,, यु० का० : ११७, ३; उ० का० १६, ३५; ८७, १२।

कि 'वृषभ' अथवा 'वृप', रुद्र की एक सामान्य उपाधि थी। इन शब्दों का व्यावहारिक अर्थ 'बैल' है। ब्राह्मण ग्रन्थों और उत्तर वैदिक साहित्य में भी यह शब्द रुद्र की उपाधि मात्र ही रहा, और रुद्र के सम्बन्ध में इसका शान्तिक अर्थ 'वर्षयिता' अर्थात् वर्षा करनेवाला किया जाता था। परन्तु धीरे-धीरे ऐसा प्रतीत होता है कि इस शब्द का यह अर्थ लोग भूल गये, और इसके व्यावहारिक अर्थ को ही लेकर उन्होंने वृषभ को शिव का वाहन मानकर इस उपाधि का समाधान किया। तदनन्तर शिव के मन्दिरों पर जो पताकाएँ फहराई जाती थीं, उनपर सम्भवतः इस वृषभ के चित्र बनने लगे, और इस प्रकार, शिव को 'वृषभव्यज' की नई उपाधि मिली।

रामायण में ही प्रथम बार शिव के परिचर 'नन्दी' का भी उल्लेख किया गया^१। उसको कराल आकृतिवाला, कृष्ण पिंगल वर्ण का, वामनाकार, छोटी-छोटी बाहोंवाला, परन्तु महाबली, विकट रूप और मुण्डी कहा गया है। उसका यह रूप हूँवहूँ रुद्र रूप में शिव के प्राचीन अनुचरों-जैसा है, जो अब 'गण' कहलाते थे। नन्दी की एक उपाधि 'मुण्डी' से ऐसा जान पड़ता है कि शिव के कुछ उपासक ऐसे संन्यासी थे जो अपने केश मुड़ा देते थे। अपर काल में तो इस केश-मुँडन का आम प्रचलन हो गया। अतः नन्दी और गण हमें शिव के उस प्राचीन रूप की याद दिलाते हैं जब प्रचलित लोक-विश्वास के विचित्र स्वप्नांशी अलौकिक जीवों के वे दल-नेता थे। उनके स्वरूप में महान् परिवर्तन हो जाने पर भी इन जीवों का सम्बन्ध उनसे बना ही रहा।

शिव के इसी प्राचीन रूप की ओर रामायण में एक और स्थल पर भी संकेत किया गया है, जहाँ शिव के 'भैषज्य' को सर्वोत्तम माना गया है^२। एक अन्य स्थल पर हम शिव के स्वरूप का एक नया पहलू देखते हैं, जिसकी पहले कहीं चर्चा नहीं हुई है^३। यहाँ कहा गया है कि एक बार शिव पार्वती-सहित अपने अनुचरों को साथ ले बन में विहार करने गये। वहाँ पार्वती के विनोदार्थ शिव ने स्त्री-रूप धारण कर लिया और इसके फलाखरूप उस प्रदेश के प्रत्येक पुरुषसत्त्व का, यहाँ तक कि पुरुष नामवाले वृक्षों का भी, उसी प्रकार स्त्री-रूप हो गया। तब शिव, पार्वती और उनके सब अनुचर मस्त होकर बन-विहार और आमोद-प्रमोद करने लगे। उसी समय जब 'इल' नामक राजा दैवयोग से उस प्रदेश में आ गये तब तत्काल वे भी स्त्री-रूप ही गये। तभी से उनका नाम 'इशा' पड़ा। शिव के इस रूप की उत्पत्ति कैसे हुई, यह हम आगे चलकर देखेंगे।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि रामायण में 'लिंग' का कोई उल्लेख नहीं है। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उस समय लिंगोपासना का अस्तित्व नहीं था। वास्तव में रामायण से हमें शिव की उपासना के सम्बन्ध में, वह सच्ची भक्ति से प्रसन्न होते थे और तपश्चर्या द्वारा उनसे वरदान प्राप्त किये जा सकते थे, इसके सिवा बहुत-कुछ पता नहीं

१. रामायण, उ० का० : १६, ८।

२. „ „ : ६०, १२।ऋग्वेद में रुद्र को भिषक् और 'भिषकतम्' कहा गया है।

३. „ „ : ८७, १२-१५।

लगता। किसी शिव-मन्दिर का अथवा शिव की मूर्ति तक का रामायण में कोई उल्लेख नहीं है। परन्तु यह तो हम देख ही चुके हैं कि 'रामायण' भक्तिवाद का विकसित रूप है, और भक्तिवाद के प्रभाव से शिव का स्वरूप बिलकुल बदल गया था। पिछले अध्याय में हम यह भी देख चुके हैं कि भारत में मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण भक्तिवाद के विकास के साथ-ही-साथ हुआ, अतः हमारा यह मानना युक्तिसंगत ही होगा कि रामायण के समय तक मन्दिर में पूजा करने की प्रथा का प्रादुर्भाव हो चुका था, और शिव की मूर्तियाँ भी बनाई जाती थीं और उनकी उपासना होती थी।

रामायण-महाभारत युग में रुद्र और शिव के स्वरूप और उनकी उपासना के विषय में हमें रामायण की अपेक्षा महाभारत से बहुत अधिक जानकारी प्राप्त होती है। महाभारत के विभिन्न कालों में एक से अधिक संस्करण हो चुके हैं, अतः हो सकता है कि शिव-सम्बन्धी प्रसंग सब एक ही समय के न हों। परन्तु सब मिलाकर इन प्रसंगों से, उस युग में, रुद्र और शिव की उपासना के विषय में हमें अच्छा ज्ञान हो जाता है।

इस युग में रुद्र-शिव की उपासना के दो रूप हैं—एक दार्शनिक और दूसरा लोक-प्रचलित। यद्यपि महाभारत में इन दोनों रूपों को इस ठंग से पृथक् नहीं माना गया है, और यह भी सत्य ही है कि शिव की उपासना के लोकप्रचलित रूप पर उसके दार्शनिक रूप का भी काफी प्रभाव पड़ा है। फिर भी सुविधा इसी में होगी कि हम पहले इन दोनों रूपों का अलग-अलग निरीक्षण करें, और फिर समष्टि रूप से यह देखें कि उस काल में शिवोपासना का क्या रूप था?

दार्शनिक रूप में शिव को अब परंब्रह्म माना जाता था। वह असीम हैं, अचिन्त्य हैं, विश्वस्था हैं और विश्व को अपनेमें समाये हुए हैं। वह परम हैं और उनसे परे कुछ भी नहीं है। वह महाभूतों के एकमात्र उद्गम और एक मात्र आधार हैं, वह नित्य, अव्यक्त और कारण हैं^१। एक होते हुए भी उनके अनेक रूप हैं^२। वह सबमें व्याप्त हैं, और सबके उद्गम हैं। वह विश्व के आदि हैं, और उन्हीं में विश्व का विलय होता है। सृष्टि के विलयकर्ता के रूप में उनको 'लालरुद्र' कहा गया है^३। इस प्रकार जो स्थान उनको 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में दिया गया है, उसको यहाँ पूर्णरूप से मान्यता दी गई है, और शिव का पद अपने चरमोत्कर्ष को पहुँचता है। परन्तु अब तक भी इस सम्बन्ध में शिव और विष्णु में कोई प्रतिस्पर्द्धा नहीं थी और एक स्थल पर दोनों को स्पष्ट रूप से समान कहा गया है^४। हाँ, उनके अपने उपासकों ने अन्य सब देवताओं

१. महाभारत, द्वौण० : ७४, ५६, ६१, १६६, २६; और अनुशासनपर्व २२, १५८।

२. , , कर्ण० : २४, ६२, ६४।

३. , , अनु० : २२, १६६, २२, १८८, ६०।

४. , , अनु० : ११२, ५३।

को छोड़कर केवल उनको ही सर्वश्रेष्ठ मानना शुरू कर दिया था^१। स्वयं विष्णु अपने कृष्णावतार रूप में कई बार शिव की महिमा का गान और उनकी उपासना तक करते हुए दिखाये गये हैं^२। परन्तु विष्णु-भक्तों ने विष्णु के सम्बन्ध में भी यही किया और इस प्रकार इन दोनों देवताओं में एक साम्य-सा स्थापित हो गया था। जिस समय जिस देवता की उपासना होती थी, उस समय उसा को सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। बास्तव में यह वही संहिताओं वाली प्रथा है, जिसके अनुसार प्रत्येक देवता को उसका स्तवन करते समय सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। वैदिक देवतागण में से विष्णु और शिव इन्हीं दो देवताओं का, वेदोत्तर काल में, उत्कर्ष हुआ और अब यह प्राचीन प्रथा इन्हीं दो देवताओं के सम्बन्ध में प्रचलित थी। परन्तु अन्त में इस प्रथा का स्वाभाविक परिणाम इन दोनों देवताओं का तादात्म्य हो जाना ही था। शिव और विष्णु दोनों के उपासक, यद्यपि उनके मार्ग अलग-अलग थे, अब एक ही एकेश्वरवाद की स्थिति पर पहुँच गये थे और उसी एक ईश्वर को एक दल शिव और दूसरा दल विष्णु कहता था। इससे असली अवस्था—केवल इसी बात—को समझना था कि इन देवताओं के इस प्रकार सर्वश्रेष्ठ माने जाने पर दोनों में कोई बास्तविक अन्तर नहीं रह जाता। पुराणों के समय तक यह अवस्था भी आ गई थी; परन्तु रामायण-महाभारत में इन दोनों देवताओं का कभी स्पष्ट रूप से तादात्म्य नहीं किया गया है और साधारणतया इनको एक नहीं माना गया है। फिर भी उस समय उपनिषदों की परम्परा तो काफी प्रबल रही होगी और हम यह कह सकते हैं कि उस समय भी कम-से-कम कुछ लोग इन दोनों की एकता को समझते होंगे।

शिव के परंब्रह्म स्वरूप के प्रदुर्भाव के साथ-साथ उनका सांख्य से भी सम्बन्ध हुआ। इस सम्बन्ध की पहली झलक हमने उपनिषदों में देखी थी। महाभारत में इसकी स्मृति शेष है और अनेक बार शिव का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि वह सांख्य को अपने द्वारा जानते हैं^३। एक स्थल पर शिव को स्वयं सांख्य कहा गया है^४ और जो लोग सांख्य के सिद्धान्तों के विशेषज्ञ हैं तथा तत्त्वों और गुणों का ज्ञान रखते हैं, वही शिव को पाते हैं और मोक्ष प्राप्त करते हैं। शिव का सांख्य के साथ यह सम्बन्ध सम्भवतः किस कारण हुआ, यह हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं। परन्तु सांख्य के पुरुष का जो स्वरूप ‘वेताश्वतर उपनिषद्’ में है, वह वेदोत्तर-कालीन, सांख्य दर्शन के पुरुष से कुछ भिन्न है, और वेदान्त के ब्रह्म के अधिक निकट है। शिव का सांख्य से सम्बन्ध इस औपनिषदिक पुरुष के रूप में हुआ था। उनका यह रूप बाद में भी बना रहा और महाभारत में हम देखते हैं कि उनका स्वरूप वेदोत्तर-कालीन सांख्य के पुरुष की अपेक्षा वेदान्त के ब्रह्म से अधिक मिलता है। इसी कारण शिव का सांख्य के साथ, जो प्राचीन सम्बन्ध था, वह धीरे-धीरे दीण होता गया और अन्त में बिलकुल ही लुस हो गया।

१. महाभारत, अनु० : २२।

२. „ द्रोण० : ७४, १६, ५१, १६६, २६ और आगे।

३. „ कण० : २४, ६१—‘यः सांख्यमात्मना वैति’।

४. „ अनु० : २३, ४३।

महाभारत में इस सम्बन्ध की स्मृति तो अवश्य बनी है; परन्तु साथ-साथ इस सम्बन्ध के क्रमशः विच्छेद के भी संकेत मिलते हैं। उदाहरणार्थ एक स्थल पर यह कहा गया है कि शिव एक दार्शनिक जिज्ञासु का रूप धर सांख्य दर्शन और सांख्य पुरुष का ज्ञान प्राप्त करने 'सनत्कुमार' ऋषि के पास गये^१। यहाँ सांख्य को बड़ा ऊँचा पद दिया गया है। इसको वह सन्मार्ग बताया गया है, जिसपर चलकर सनत्कुमार-जैसे महर्षियों ने मोक्ष प्राप्त किया। शिव अपने सम्बन्ध में कहते हैं कि वह अबतक 'ऐश्वर्य' और 'आश्चर्य' के 'वैकृत' और 'क्षर' मार्ग का अनुसरण करते रहे हैं। 'ऐश्वर्य' का यहाँ अर्थ ईश्वर का मार्ग प्रतीत होता है और इसका आशय सम्भवतः भक्ति-मार्ग के एकेश्वरवाद से है, जिसका प्रचार शैव और वैष्णव दोनों मत कर रहे थे। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि सांख्य को यहाँ 'प्राकृत ज्ञान' अर्थात् प्रकृति का ज्ञान कहा गया है^२। इससे पता चलता है कि इस समय तक प्रकृति की कल्पना सांख्य शास्त्र का एक प्रमुख अंग बन गई थी, और इसकी एक विशेषता थी। इसी संदर्भ के अन्तिम दो पदों में कहा गया है कि शिव और अन्य देवताओं ने सांख्य का सच्चा मार्ग छोड़ दिया था तथा वे असत् मार्ग पर चलने लगे थे। शिव और सांख्य के इस विभेद से प्रसंगवश यह भी पता चलता है कि यह संदर्भ अपेक्षाकृत बाद का है।

शिव का योग के साथ जो सम्बन्ध था, वह भी उनके दार्शनिक स्वरूप का ही एक अंग माना जा सकता है। इस सम्बन्ध की उत्पत्ति हम पिछले अध्याय में बता ही चुके हैं। रामायण महाभारत के समय तक योग और तपश्चर्या भगवत्-प्राप्ति के प्रमुख साधन माने जाने लगे थे। महाभारत में तो इसको और भी स्पष्ट कर दिया गया है। शिव को तप और भक्ति द्वारा ही पाया जा सकता है^३। वह योगियों के परम पुरुष हैं^४। वह आत्मा का योग और समस्त तपश्चर्याएँ जानते हैं^५ और स्वयं महायोगी हैं^६। यह ध्यान देने योग्य बात है कि कई स्थलों पर विष्णु को भी 'योगेश्वर' कहा गया है^७। इससे पता चलता है कि महाभारत के समय तक विष्णु की उपासना में भी योगाभ्यास का समावेश हो गया था; क्योंकि कोई मत भी इसके बढ़ते हुए महत्व की उपेक्षा नहीं कर सकता था।

अब हम शैव धर्म के लोकप्रचलित रूप की ओर आते हैं। यहाँ हम देखते हैं कि शिव के विभिन्न अनुयायियों के विभिन्न आचार-विचारों के अनुसार शैव धर्म के भी अनेकानेक

१. महाभारत, अनु० : ६८, ८, २२।
२. „, अनु० : ६८, २०।
३. „, वन० : ८५, २५ और आगे। द्रोण० : ७४, १६ और आगे।
४. „, द्रोण० : ७४, ४१।
५. „, कर्ण० : २४, ६०।
६. „, द्रोण० : ५०, ४३ और आगे।
७. „, अनु० : ६८, ७४ इत्यादि। 'गीता' के अंतिम श्लोक में भी कृष्ण को योगेश्वर कहा गया है।

रूपों का विकास हो रहा था। इनमें से सबसे प्रमुख रूप वह है जिसको शिव के दार्शनिक स्वरूप की लोकप्रचलित व्याख्या कह सकते हैं। शिव को एक ईश्वर, जगत् का स्थान, पालनकर्ता और संहर्ता माना गया है। वह देवताओं, मानवों और दानवों—सभी के परम प्रभु हैं^१। उनकी ही प्राचीन काल से उपासना होती आई है, वर्तमान में होती है और भविष्य में होती रहेगी^२। वह असीम है, अचिन्त्य है और देवताओं द्वारा भी अनधिगम्य है^३। उनके साधारण नाम हैं—‘ईशान’, ‘महेश्वर’, ‘महादेव’, ‘भगवान्’ और ‘शिव’^४। उनको अन्य सब देवताओं से बड़ा माना गया है। सारे देवता ब्रह्मा-विष्णु के साथ, उनकी शरण में आते हैं^५। एक स्थल पर ब्रह्मा और विष्णु को भगवान् शिव के दोनों ओर खड़े हुए बताया गया है^६। एक अन्य स्थल पर यह वर्णन किया गया है कि यह दोनों देवता शिव के पाश्वों में से निकल रहे हैं। यहाँ ब्रह्मा और विष्णु को भगवान् शिव का ही अंश माना गया है। इसी वर्णन के पीछे त्रिमूर्ति की कल्पना है, जिसका बाद में इतना प्रचार हुआ। शिव की उपासना का सार ‘भक्ति’ है और रामायण की तरह यहाँ भी शिव की कल्पना सतत मानव जाति के कल्याणकारी और भक्तानुकम्भी देवता के रूप में की गई है^७। शिव का यह स्वरूप द्रोणपर्व की उस कथा से बहुत अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है, जहाँ शिव मानव-कल्याण के हित में ब्रह्मा से अपनी विध्वंसकारिणी अग्नि को शान्त करने के लिए अनुनय करते हैं। वह अग्नि उनके कोप से प्रज्वलित हुई थी और जिससे समस्त सृष्टि के भस्म हो जाने का भय था^८। प्राचीन काल में अनेक ऋषियों ने अपनी भक्ति के बल से शिव से अनेक वरदान पाये थे^९। महाभारत काल में इन्हीं ऋषियों का अनुकरण अर्जुन, उपमन्तु और अन्य लोगों ने किया था^{१०}। इसके अतिरिक्त एक विशेष उपासना भी थी, जिससे शिव प्रसन्न होते थे। यह ‘पाशुपत व्रत’ था, जिसका कर्णपर्व में उल्लेख किया गया है^{११}। व्रतकर्ता की परिस्थितियों और उसके उद्देश्यों के अनुसार इस व्रत की—वारह दिन से बारह वर्ष तक की—विभिन्न अवधियाँ होती थीं। परन्तु इस व्रत का विस्तृत वर्णन नहीं दिया गया है।

शैव धर्म का सबसे अधिक लोकप्रचलित रूप वह था, जिसमें शिव को पार्वती का

१. महाभारत, द्रोण० : ७४, ४१, ४३।
२. . . , कर्ण० : २४, ६८।
३. . . , अनु० : २३, १७।
४. . . , कर्ण० : २४, ६१, ६३ ; शत्य० ३६, ६ ; सौमित्र० ६, ३२।
५. . . , अनु० : २२, १४४-१५५।
६. . . , अनु० : २२, १४४-१५५।
७. . . , द्रोण० : ४१, १५, ७४, ६२ ; अनु० ११२, १६ इत्यादि।
८. . . , द्रोण० : ५०, ८० और आगे।
९. . . , अनु० : २४, १, ३८।
१०. . . , वन० : ३३, ८७ और आगे ; अनु० : २२, ८५-१०।
११. . . , कर्ण० : २५, २४।

पति माना जाता था और दोनों की साथ-साथ उपासना होती थी। दयानिधान, कल्याण-कारी शिव की पत्नी भी वैसी ही दया की मूर्ति और सौम्य स्वभाव की थीं और दोनों कैलास पर्वत पर अनन्त और परम आनन्द की अवस्था में रहते थे। प्रत्येक युग में मनुष्यों के लिए वे विवाहित प्रेम का आदर्श रहे हैं^१। शिव का यह स्वरूप भक्तिवाद के आराध्यदेव का सर्वोत्तम उदाहरण है। इसी रूप में शिव की प्रशंसा में स्तुतियाँ गाई जाती थीं। इनमें शिव को सदा परमेश्वर का पद दिया जाता था और शिव की दया तथा अनुग्रह के लिए उनसे प्रार्थना की जाती थी। देवताओं तक को शिव को इसी प्रकार प्रसन्न करना पड़ता था^२। जन-साधारण में अधिकांश शिव के इसी रूप की उपासना करते थे; क्योंकि शिव का यह रूप सुखद और सुगम था तथा मनुष्य की मृदु और ललित भावनाओं का इसके प्रति अत्यधिक आकर्षण था। शिव और पार्वती के रूप का मानवीकरण भी बहुत आगे बढ़ गया है। शिव को अब अत्यन्त सुन्दर आकृतिवाला माना जाता था और पार्वती का रूप एवं लावण्य स्त्री-जाति में सर्वोत्तम था। दोनों के वेश और अलंकारों का भी वर्णन किया गया है^३। विभिन्न कथाओं में उनकी मावनाएँ भी विलकुल मानवी हैं। वृपम अब नियत रूप से शिव का बाहन बन गया था^४। परन्तु जब शिव के देवत्व पर अधिक जोर दिया जाता था, तब फिर उनके इस मानवी रूप को छोड़ दिया जाता था। उनकी अपुरुषविव आकृति का सबसे प्रमुख लक्षण है—उनके तीन नेत्रों का होना^५। कई बार उनको सहस्राश्र, अष्टादशभुज इत्यादि भी कहा गया है। यह वर्णन वैदिक पुरुष के वर्णन के समान है और स्पष्ट ही शिव की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमता का प्रतीक है^६। शिव के गण भी उनके साथ रहते थे और महाभारत में उनको प्रायः ‘भूत’ कहा गया है। उनके बड़े विचित्र रूप थे—कुछ विकृतांग थे, किन्हीं के मानव शरीर और पशु-पक्षियों के सिर थे तथा किन्हीं के मानव-सिर थे; परन्तु शरीर पशुओं के थे^७। यह गण वैदिक रुद्र के स्वरूप की स्मृति-मात्र हैं। इस प्रसंग में शिव को ‘निशाचर-पति’ की उपाधि दिया जाना भी अर्थपूर्ण है^८।

यद्यपि अब शिव का स्वभाव अधिकतर सौम्य माना जाता था, फिर भी शिव-भक्त शिव के प्रकोप को भूलते नहीं थे। यदि पापियों के कुकमों से अथवा ईश्वरीय इच्छा को उल्लंघन के कारण शिव का क्रोध जागृत हो जाय, तो उनकी सौम्य आकृति बड़ा भयावह रूप धारण कर लेती है। महाभारत में शिव के इस रूप का वर्णन ‘कर्ण पर्व’ में किया गया है, जहाँ उनको ‘ब्रह्मदिट्-संहातिन्’ अर्थात् देवताओं और ब्राह्मणों के शत्रुओं का संहार करने

१. महाभारत, द्रोण० : ७४, ३५।
२. „ द्रोण० : २४, ५४ और आगे।
३. „ अनु० : २२, ११६ और आगे।
४. „ अनु० : ११३, ३२ और आगे।
५. „ वन० : २२६, २६, २७ इत्यादि।
६. „ अनु० : २२, ११६ इत्यादि।
७. „ वन० : ८६, ३ ; १८८, १३; द्रोण० ७४, ३७; कर्ण० २७, २४ और आगे।
८. „ द्रोण० : ४६, ४६।

वाला कहा गया है।^१ उनका 'पिनाक' नाम का धनुष और उनका 'शूल' नामक वज्र, उनके प्रिय अस्त्र हैं^२। इसी कारण उनको 'प्रवरायुधयोधी' भी कहा जाता है^३। उनकी शक्ति का कोई मुकाबला नहीं कर सकता^४। उनका जो विरोध करते हैं, उनके लिए तो वह साक्षात् काल हैं^५। इस रूप में वह कुपित, भयावह और महासंहारकर्ता हैं^६। उनकी समस्त आकृति भयंकर है और सम्भवतः इसी रूप में उनको कृष्णवस्त्रधारी माना गया है, यद्यपि साधारणतया वह श्वेतवस्त्रधारी ही थे^७।

इस प्रकार अपने लोकप्रचलित स्वरूप में शिव के दो रूप हो गये—एक सौम्य, दूसरा भयंकर। महाभारत काल में शिव के इस द्वयविध रूप का ज्ञान भली प्रकार था। एक स्थल पर रथष्ट रूप से यह कहा गया है कि शिव के यह दो भिन्न रूप हैं^८।

परन्तु इसके साथ-साथ जो लोग शिव की शरण में जाते हैं, उनकी सब बाधाएँ वे हर लेते हैं^९। इसी कारण जब-जब देवों और मनुष्यों पर कोई भीषण संकट आ पड़ता है, तब वे भगवान् शिव के पास जाकर परिचारण की प्रार्थना करते हैं। भगवान् सदा उनकी विनती सुनते हैं। उनके पास आये हुए याचकों की पुकार कभी व्यर्थ नहीं जाने पाती। इस रूप में शिव का सबसे प्रसिद्ध कार्य है—त्रिपुरदाह। इस कथा को हम आगे चलकर विस्तार-पूर्वक देखेंगे। रामायण में भगवान् शिव द्वारा अन्धक-वध की कथा का प्रसंग आया ही है। जैसे-जैसे समय बीतता गया, अनेक कथाएँ भी प्रचलित हो गईं।

भगवान् शिव की लोकप्रचलित उपासनाविधि के सम्बन्ध में जो कुछ हमने रामायण से जाना, उससे कुछ अधिक हमें महाभारत से पता चलता है। शिव को प्रसन्न करने का एक ही उपाय था और वह था—सज्जी भक्ति। जो उनको प्रसन्न करना चाहते थे और उनसे वरदान प्राप्त करना चाहते थे, वे इस भक्ति के अतिरिक्त कठोर तपस्या भी करते थे, और एकाग्र बुद्धि से शिव का ध्यान करते थे। जो विनाश और प्रलोभन इस अचल साधना में बाधक होते थे, उनका दमन करते थे। शिव के ऐसे अनन्य भक्तों में अर्जुन और उपमन्यु प्रमुख हैं। अर्जुन ने अपनी तपस्या द्वारा वांछित पाशुपत अस्त्र पाया^{१०}। उपमन्यु ने, जिसकी तपस्या अर्जुन से भी कठोर थी, शिव को छोड़ अन्य किसी देवता की आराधना करने से इनकार कर दिया। अन्त में जो कुछ उसने चाहा, उसे मिला। इसके अलावा शिव ने

१. महाभारत, कर्ण० : २४,७१।
२. „ वन० : ३३,८७,३५,१ ; उद्योग ११७,७।
३. „ कर्ण० : २४,७१।
४. „ „ : २४,७२।
५. „ „ : २६,२६।
६. „ „ : २४,६६ ७०।
७. „ „ अनु० : १५१,३।
८. „ „ : १५१,३।
९. „ कर्ण० : २४,७१।
१०. „ वन० : ३३, ८७ और आगे।

प्रसन्न होकर उसे अमरत्व का वरदान भी दिया और उपमन्यु संसार में एक आदर्श भक्त का उदाहरण रख गया^१। साधारण रूप से शिव की पूजा स्तुतिगान और प्रार्थनाओं द्वारा की जाती थी। इस प्रकार की अनेक प्रार्थनाएँ महाभारत में मिलती हैं^२। परन्तु शिव की साधारण दैनिक पूजाविधि के सम्बन्ध में हमें महाभारत से बहुत-कुछ पता नहीं चलता। रामायण की भाँति यहाँ भी शिव मन्दिरों का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है; परन्तु शिवमूर्तियों की चर्चा अवश्य की गई है। इसीसे हम अनुमान लगाते हैं कि उस समय शिव-मन्दिर भी होते होंगे। एक स्थल पर कहा गया है कि शिव अपनी मूर्तियों की उपासना से प्रसन्न होते हैं और ये मूर्तियाँ मानवाकार और लिंगाकार दोनों होती हैं^३। इससे स्पष्ट पता चलता है कि दोनों प्रकार की मूर्तियाँ उस समय बनती थीं और उनकी उपासना होती थी। लिंग-मूर्तियों के जननेन्द्रिय-सम्बन्ध की स्मृति अवतक शेष थी। परन्तु इन मूर्तियों की उपासना-विधि का प्राचीन तथा वास्तविक लिंगोपासना से कोई सम्बन्ध नहीं था। किन्तु इतना यह जरूर था कि केवल भगवान् शिव की ही लिंग रूप में उपासना होती थी और इसी कारण उपमन्यु ने उनको अन्य देवताओं से बड़ा माना है। इन्द्र, ब्रह्मा और विष्णु तक को शिव के लिंग रूप का उपासक कहा गया है, अतः वे इन सबसे बड़े थे। इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत के समय तक लिंग-मूर्तियों की उपासना का शैव धर्म में पूर्णरूप से समावेश हो गया था। यह भी एक रोचक बात है कि शिव के उपासकों ने एक निःश्वास प्रथा को किस कुशलता से अपने आराध्यदेव के उत्कर्ष का साधन बना लिया।

ऊपर शैव धर्म के जिन रूपों का विवरण दिया गया है, उसको हम शैव धर्म के प्रामाणिक और सबसे अधिक प्रचलित रूप कह सकते हैं। परन्तु इसके अतिरिक्त भी शैव धर्म के अन्य अनेक रूप थे, जिनका प्रचार विशेष सुदृढ़ाओं में था। ऐसा जान पड़ता है कि शिव-भक्तों पर किसी एक रीति विशेष के अनुसार उपासना करने के लिए कोई दबाव नहीं डाला जाता था। अतः विभिन्न लोग जिस रूप में शिव की कल्पना करते थे, उसी के अनुकूल उसकी उपासना भी करते थे। इसका फल यह हुआ कि शिवोपासना के इतने विविध रूप हो गये, जितने संभवतः अन्य किसी मत के नहीं हुए। महाभारत में इन विभिन्न रूपों में कम-से-कम दो का तो उल्लेख मिलता है, जिनका प्रचार अधिक नहीं था। परन्तु जिनको इस अर्थ में लोकप्रचलित कहाँ जा सकता है कि जनसाधारण के ही कुछ वर्गों में उनका प्रचार था, उनमें से एक में शिव की कल्पना 'कापालिक' के रूप में की गई है। हम यह देख चुके हैं कि वैदिक रुद्र को एक रूप में मृत्यु का देवता समझा जाता था। इस रूप में उनका सम्बन्ध पिशाचों, डाकिनियों और इसी प्रकार के

१. महाभारत, अनु० : २२, ८५, ६०।

२०. „ अनु० : १५१, १६ इत्यादि।

३०. „ अनु० : २२, ६७। शिव की लिंगमूर्तियों के अन्य उल्लेख महाभारत के उत्तरी संस्करण में निम्नलिखित स्थलों पर मिलते हैं:—द्रोण० २२ ; सौसिक० १७ ; अनु० १४, १६ ; अनु० १७२।

दूसरे अमंगल और अन्धकार-सम्बन्धी जीवों से था। सूत्र-ग्रन्थों में हमने यह भी देखा है कि रुद्र के इसी रूप के कारण सम्भवतः उनका सम्बन्ध शमशानों से हुआ। अतः शिव का 'कापालिक' स्वरूप भी वैदिक रुद्र के इसी रूप का विकास-मात्र प्रतीत होता है। भक्तिवाद के आराध्यदेव शिव की सौम्य आकृति के सर्वथा विपरीत यहाँ उनकी आकृति भयावह है। वह हाथ में कपाल लिये रहते हैं^१, और लोक-वर्जित शमशान प्रदेश उनका प्रिय आवास है, जहाँ वह राक्षसों, वेतालों, पिशाचों और इसी प्रकार के अन्य जीवों के साथ विहार करते हैं^२। उनके अनुचर वही गण हैं, और महाभारत में इन सबको 'नक्तंचर' और 'पिशिताशन' (मृत शरीरों का मांस खानेवाले) कहा गया है^३। एक स्थल पर स्वयं शिव को मांस खाते हुए और रक्त और मज्जा का पान करते हुए कहा गया है^४। जैसा कि हम ऊपर सूत्र-ग्रन्थों का अवलोकन करते हुए कह आये हैं, यह देवता निश्चय ही लोकप्रचलित अन्धविश्वासों और जादूटोंनों के क्षेत्र का देवता था। ऐसा जान पड़ता है कि कुछ लोग अभी तक रुद्र के इस रूप की उपासना करते थे और उसका विकास भी करते जाते थे। महाभारत के समय तक तो ऐसा प्रतीत होता है कि शिव के इस रूप के साधारण उपासकों के अतिरिक्त अन्य वर्गों में इसको कुछ मान्यता दी जाने लगी थी। हम ऊपर देख आये हैं कि सूत्र-ग्रन्थों में जो 'शूलगव' यज्ञ का विधान किया गया है, उसका अर्थ यह था कि विशेष परिस्थितियों में कभी-कभी कुछ जादूटोंने-सम्बन्धी कियाओं का भी विधिवत् विधान कर दिया जाता था। हो सकता है कि कापालिक रूप में शिव की उपासना की भी इसी प्रकार कभी-कभी अनुमति दे दी जाती हो। उदाहरणार्थ 'अश्वत्थामा' ने सब और से हताश हो, शिव के इसी रूप की आराधना की थी^५। शिव के इस रूप को कुछ-कुछ मान्यता मिल जाने के फल-स्वरूप ही सम्भवतः शिव की तद्रूपसम्बन्धी उपाधियों का उल्लेख होने लगा और महाभारत में ये उपाधियाँ शिव की अन्य उपाधियों के साथ विलक्षण मिल-जुल गई हैं। जहाँ शिव का किसी अन्य रूप में स्तवन होता है, वहाँ भी उन उपाधियों का उल्लेख किया जाता है^६। स्वभावतः, इसके विपरीत जहाँ शिव के 'कापालिक' रूप का वर्णन होता है, वहाँ शिव की अन्य उपाधियों का भी उल्लेख किया जाता है।

अर्थवेद में हमने देखा था कि जब रुद्र की भयावह मृत्यु देवता के रूप में उपासना की जाती थी, तब उनको नर-वलि दी जाती थी। ब्राह्मणों द्वारा इस प्रथा को गहित ठहराये जाने पर भी, जान पड़ता है कि कुछ वर्गों में रुद्र के कापालिक रूप की उपासना के सम्बन्ध में इस प्रथा का प्रचार बना रहा। इसका संकेत हमें महाभारत में

१. महाभारत, वन० : १८८, ५०।

२,३. „, वन० : ८३, ३। द्रोण० ५०, ४६। शल्य० ३६, २४। सौसिक० ६, ३३ इत्यादि

४. „, अनु० : १५१, ७।

५. „, सौसिक० : ६, और ७।

६. „, द्रोण० : ५०, ४६ इत्यादि।

मिलता है। उदाहरणार्थ 'जरासन्ध' नियमित रूप से युद्धबन्दियों को शिव पर बलि चढ़ा देता था^१। 'अश्वत्थामा' ने भी जब शिव के कापालिक रूप की आराधना की, तो अपने-आपको बलि चढ़ा दिया। इस प्रथा की कृष्ण ने घोर निन्दा की थी। उन्होंने जरासन्ध की, इसी प्रथा का अनुसरण करने पर जो प्रचलित विधियों के बिलकुल विपरीत थी, तीव्र भर्त्तना की। इससे सिद्ध होता है कि इस प्रथा को साधारणतया निन्द्य समझा जाता था; परन्तु लुके-छिपे शिव के कापालिक रूप के उपासकों में कुछ लोग इस प्रथा का अनुसरण करते थे। यह लोग योग-सिद्धान्त की दो-चार बारें सीख कर, जिसका रामायण-महाभारत काल में बहुत प्रचार और आदर था, तथा अपना वेश भी अपने आराध्यदेव-जैसा बना कर, अपने-आपको तपस्वी और योगी कहते थे। वे अपनी तपस्या से लोकोत्तर शक्तियाँ प्राप्त करने का दावा करते थे। यही लोग आगे चलकर कापालिक कहलाये, और इन्हीं में नर-बलि की प्रथा दीर्घकाल तक बनी रही। इनके सम्बन्ध में हम अगले अध्याय में कुछ और कहेंगे। महाभारत में उनका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। सम्भव है कि उस समय तक इनका एक अलग सम्प्रदाय न बना हो।

शिव का दूसरा रूप, जिसकी उपासना समुदाय विशेषों में ही होती थी, एक मध्य-प्रिय तथा विलास-प्रिय देवता का था। रामायण में हमने शिव के स्त्री रूप धारण करने की कथा में इस रूप की एक झलक देखी थी। महाभारत में यह रूप कुछ अधिक रपष्ट दिखाई देता है^२। जब अर्जुन ने पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति के लिए तपस्या की, तब पहले भगवान् शिव 'किरात' के रूप में प्रकट हुए। 'किरात' एक वन्य जाति विशेष का नाम था जो अबतक हिमालय की उपत्यकाओं में रहती है। भगवान् शिव ने एक साधारण किरात का वेश धारण किया था—अर्थात् वह खाल के वस्त्र पहने थे और उनके पीछे सहस्रों स्त्रियाँ और 'भूत'-गण हँसते-खेलते, नाचते-गाते और प्रमत्त विलास-क्रीडाएँ करते चले आ रहे थे। इस समय वैसे ही किरात वेश में भगवती उमा भी उनके साथ थी। इन स्त्रियों और भूतों के आमोद-प्रमोद के वर्णन से हमें सहसा पश्चिम एशिया में ग्रीस के मद्यदेवता बैचस (Bachchus) और उसके प्रमत्त अनुचरों की विलास-क्रीडाओं का स्मरण हो आता है। एक अन्य स्थल पर^३ कहा गया है कि एक बार शिव 'तिलोत्तमा' नाम की अप्सरा पर ऐसे मुख्य हुए कि वह सहसा चतुर्मुख हो गये, जिससे किसी दिशा में भी तिलोत्तमा उनकी दृष्टि से ओफल न हो सके। शिव के इस रूप के सम्बन्ध में और अधिक सामग्री पुराणों में मिलती है। इसका विवरण हम आगे चल कर करेंगे। निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि शिव के इस रूप की उत्पत्ति कैसे हुई? परन्तु उनके किरात वेश से हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि महाभारत काल से पूर्व किसी समय शिव ने इसी किरात जाति के एक देवता को आत्मसात् कर लिया था, जिसकी उपासना उस जाति में मध्यपान और विलास-क्रीडाओं द्वारा की जाती थी। 'नीलमत पुराण' में भी, जिसका

१. महाभारत, सभा० : २१, ६८ और आगे।

२. „ वन० : ३५।

३. „ अनु० : ११३,२ और आगे।

अवलोकन हम अगले अध्याय में करेंगे, यह प्रसंग आया है कि कश्मीर प्रदेश में इसी प्रकार की क्रीड़ाएँ शिव की उपासना का एक अंग थीं। इससे भी हमारी उपर्युक्त धारणा की पुष्टि होती है। सम्भवतः इसी रूप में शिव को एक नरक मी माना जाता था, और कालान्तर में जब शिव का विलास-प्रिय रूप दीण हो गया, तब भी नृत्य से उनका यह सम्बन्ध बना ही रहा। उसीका विकास होते-होते शिव की 'नटराज' के रूप में कल्पना होने लगी और उनको नृत्यकला का सर्वश्रेष्ठ साधक माना जाने लगा।

रामायण-महाभारत काल में शैव धर्म के लोकप्रचलित रूप के विवेचन में अब उन कथाओं का देखना शेष रह जाता है, जिनका प्रादुर्भाव इस समय तक हो गया था। इनमें कुछ कथाओं की चर्चा रामायण में हो चुकी है। महाभारत में भी वे कथाएँ मिलती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कथाएँ भी दी हुई हैं, जिनकी ओर रामायण में संकेत मात्र किया गया है। इनमें से कार्तिकेय के जन्म की कथा सर्वप्रमुख है। महाभारत में इसका विस्तृत उल्लेख किया गया है, और इससे शिव तथा स्कन्द के परस्पर सम्बन्ध पर भी बहुत प्रकाश पड़ता है। इसके साथ-साथ, देवकथाओं का क्रमिक विकास किस प्रकार होता है, इसका भी यह कथा एक बड़ा रोचक उदाहरण है। इस कथा का सबसे प्राचीन रूप वन पर्व में मिलता है^१। देवताओं की सेनाओं को कोई योग्य सेनापति नहीं मिलता था। इस कारण दानवों के विस्तृत संग्राम में उनकी बार-बार पराजय होती थी। इसपर इन्द्र ने सोचा कि यदि अग्नि की ऐसी सन्तान हो, जिसमें सब देवताओं की शक्तियाँ पुँजीभूत हो^२, तो वही देवसेनाओं का सेनापतित्व करने के लिए सबसे अधिक योग्य होगी। तदनन्तर देवता गण सप्तर्षियों द्वारा अनुष्ठित यज्ञ में गये और स्वभावतः अग्नि देवता भी उनके साथ गये। यहाँ अग्नि को सूर्यमण्डल में से प्रकट होते हुए कहा गया है। यज्ञ में अग्नि ऋषिपनियों के रूप पर सुख हो गये, और अपने इस अनुराग से आतुर हो, वनों में धूमने लगे। इसी धीच दक्ष-पुत्री 'स्वाहा' ने अग्नि को यज्ञ के समय देखा था और तभी से वह उनपर अनुरक्त हो गई थी। जब अग्नि वनों की ओर चले गये, तब स्वाहा उनके पीछे-पीछे गई और वहाँ उसने यह छल किया कि बारी-बारी से ऋषिपनियों में से छः का रूप धारण करके वह अग्नि के पास गई। अग्नि देवता बड़ी सुगमता से इस धोखे में आ गये। इस प्रकार छः बार अग्नि से समागम करके 'स्वाहा' ने उनके वीर्य को एक श्वेत पर्वत पर कुछ शरीरों के बीच डाल दिया। वहाँ पूरे समय बीतने पर एक शिशु ने जन्म लिया, जिसके सब संस्कार इन्द्र ने विधिवत् सम्पन्न किये। यहाँ हम देखते हैं कि स्कन्द को अग्नि का पुत्र माना गया है और शिव से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इस कथा में अग्नि का सूर्य से तादात्म्य किया गया है। अतः जान पड़ता है कि प्रारम्भ में स्कन्द एक सूर्य-सम्बन्धी देवता थे और सम्भवतः सूर्य के उस देवीप्यमान प्रकाश के प्रतीक थे, जिसके सामने समस्त अन्धकार दूर हो जाता है। इस कारण अन्धकार के प्रतीक

१. महाभारत, बन० : १८३।

२. वैदिक उक्ति भी है—‘अग्निः सर्वाः देवताः’।

दानवों के दमन के लिए स्कन्द ही उपयुक्त देवता थे। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि स्कन्द का विशेष वाहन मयूर है, जिसका प्राचीन काल से, अपनी पूँछ पर के सुनहले चिह्नों के कारण अथवा किसी और कारण, सूर्य से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। मयूर के सूर्य के साथ इस सम्बन्ध का एक उदाहरण सिन्धु-धाटी में 'चन्दुड़ो' स्थान पर हाल के निकले भाएँडावशेषों पर लिखित अनेक चित्रों में मिलता है। वहाँ सूर्य के प्रतीकों के साथ अनेक बार मयूर भी दिखाया गया है^१, अतः मयूर का स्कन्द का वाहन होना इस बात का एक और प्रमाण है कि प्रारम्भ में स्कन्द एक सूर्य-सम्बन्धी देवता थे। परन्तु जब इस नवजात शिशु को देवताओं के समुख लाया गया, तब उसको 'रुद्रपुत्र' कहा गया; क्योंकि अग्नि का एक नाम रुद्र भी था। यह है शिव को स्कन्द का पिता माना जाने का रहस्य। जब 'रुद्रपुत्र' के वास्तविक अर्थ को लोग भूल गये, तब शिव को ही स्कन्द का असली पिता माना जाने लगा। शिव के इस स्कन्दपितृत्व का समाधान करने के लिए ही स्कन्द के जन्म की कथा में कुछ फेर-बदल किया गया और उसे कुछ बढ़ाया भी गया। इस परिवर्तित कथा का पहला रूप स्वयं महाभारत में ही मिलता है। उसके वन-पर्व में एक अन्य स्थल पर स्कन्द-जन्म की कथा फिर कही गई है^२, और इसमें बताया गया है कि शिव और पार्वती ने क्रम से अग्नि तथा स्वाहा का रूप धारण किया था, अतः स्कन्द वास्तव में इन्हीं दोनों की सन्तान थे। कथा की इससे अगली अवस्था तब आई, जब इसको शिव और पार्वती के विवाह का उत्तर भाग बना दिया गया। अपने इस रूप में भी यह कथा महाभारत में मिलती है^३। देवताओं ने जब शिव और पार्वती की रतिकेलि का वृत्तान्त सुना, तब वह भय से काँप उठे। उन्होंने शिव के पास जाकर प्रार्थना की कि वह पार्वती से कोई सन्तान उत्पन्न न करें; क्योंकि ऐसे तेजस्वी माता-पिता की सन्तान का तेज कोई सद्य नहीं कर सकेगा, और अपने तेज से वह समस्त विश्व को ध्वस्त कर देगी। शिव ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली; परन्तु पार्वती असामिक विध्वन उत्पन्न कर देनेवाले देवताओं पर अति कुपित हो गईं और उन्होंने देवताओं को आप दिया कि उनके कभी कोई सन्तान नहीं होगी। शिव ने अपना वीर्य ऊपर खैंच लिया और तभी से वह 'उर्ध्वरेतः' कहलाते हैं। परन्तु उनके वीर्य का जो अंश क्लृप्त हो गया था, वह पृथ्वी पर गिर पड़ा और तत्क्षण ही उसने प्रचण्ड ज्वला का रूप धारण कर लिया। इसी कथा में आगे चलकर कहा गया है कि इस वीर्य को अग्नि ने, जो पार्वती के श्राप के समय देवताओं के साथ उपस्थित नहीं थे, धारण कर लिया। जब देवता अपनी सेनाओं के लिए एक सेनापति की खोज करने लगे, तब ब्रह्मा ने उन्हें यह परामर्श दिया कि वह अग्नि से कहें कि वह शिव के इस वीर्य को गंगा के गर्भ में डाल दे और इस प्रकार इन दोनों की जो सन्तान होगी, वह दानवों पर विजय पायगी। अग्नि और गंगा दोनों इस बात के लिए सहमत हो गये; परन्तु गंगा के गर्भ में इस वीर्य ने जब

१. मैकें—राथल सोसाइटी आफ आर्ट्स, इंडिया सेक्शन, १९३७।

२. महाभारत, बन० : १८८।

३. „ शत्य० : ३६; अनु० ७४, ४२ और आगे।

भ्रूण का रूप धारण किया, तब वह इसे सहन न कर सकी। गंगा उसे मेरु पर्वत पर शरों के मध्य रख आई, जहाँ पूरे समय पर एक शिशु का जन्म हुआ और जिसे कृतिकाओं ने पाया तथा पाला-पोसा। महाभारत के उत्तरी संस्करण में इस कथा के अन्तिम भाग का एक विचित्र और स्पष्ट ही अपरकालीन रूप अनुशासन पर्व में दिया गया है^१। इसमें कथा इस प्रकार है कि जब गंगा ने भ्रूण को फेंक दिया, तब छः कृतिकाओं ने उसे उठा लिया, और उसके छः भाग करके एक-एक भाग को अपने-अपने गर्भ में रख लिया। इस प्रकार विभक्त हुआ वह भ्रूण बढ़ता गया और पूरे समय पर प्रत्येक कृतिका ने एक शिशु के विभिन्न अंगों की जन्म दिया। परन्तु पैदा होते ही यह विभिन्न अंग जुड़ गये और इस प्रकार स्कन्द का जन्म हुआ।

कथा के इस रूप में भी, स्कन्द का वास्तविक पिता तो अग्नि को ही माना गया है और स्कन्द को अनेक बार 'अग्निसनु' कहा भी गया है। रामायण में इस कथा का जो रूप है, और वह महाभारत की कथा का ही एक अन्य रूप है। उसमें भी यही स्थिति है। इस कथा के विकास की अन्तिम अवस्था पुराणों में आती है और वहाँ उसका अवलोकन किया जायगा।

शिव-सम्बन्धी दूसरी प्रमुख कथा, जिसका इस समय तक प्रादुर्भाव हो गया था, शिव द्वारा दानवों के तीन पुरों के ध्वंस की कथा है। यह कथा भी देवकथाओं के क्रमिक विकास का एक अच्छा उदाहरण है, यद्यपि स्कन्द-जन्म की कथा की तरह पूर्ण रूप से नहीं। इस कथा का सूत्रपात सम्भवतः 'ऐतरेय ब्राह्मण' की उस कथा से होता है, जिसमें यह दिखाया गया है कि किस प्रकार देवासुर संघर्ष में असुरों ने पृथ्वी, आकाश और दौ को तीन दुर्गों में परिणत कर दिया—और जो क्रम से लोहे, चान्दी और सोने के थे—तथा किस प्रकार देवताओं ने 'उपसदी' द्वारा इन तीन दुर्गों को जीता^२। कथा लाक्षणिक है और ध्यान देने की बात यह है, इसमें कहाँ भी रुद्र की चर्चा नहीं की गई है। परन्तु इस कथा के फलस्वरूप असुरों के तीन दुर्गों अथवा पुरों की कल्पना देवकथाओं में स्थिर रूप से आ गई है। जब शिव की उपासना का विकास हुआ, तब इस 'त्रिपुर' की कल्पना को शिव के उत्कर्ष का साधन बना लिया गया और त्रिपुर-ध्वंस का ध्रेय उनको दिया जाने लगा। इस प्रकार धीरेधीरे इस कथा का निर्माण हुआ तथा रामायण-महाभारत काल में यह अपने विकसित रूप में पाई जाती है। महाभारत में इसका कई स्थानों पर उल्लेख है; परन्तु इन विभिन्न उल्लेखों में वैसा काल-मेद दण्डिगोचर नहीं होता, जैसा स्कन्द-जन्म की कथा में। यह सब उल्लेख एक ही कथा के विस्तृत अथवा संक्षिप्त रूप हैं और सार भाव से सब एक ही हैं। इस कथा का सबसे विस्तृत रूप 'कर्ण पर्व' में मिलता है^३। ब्रह्म का वरदान पाकर असुरपति ने सुवर्ण, रजत और लोहे के तीन नगरों का क्रम से दौ, आकाश और पृथ्वी में निर्माण किया। इन

१. महाभारत : (पी० सौ० राय का संस्करण) अनु० ७५, ५ और आगे।

२. ऐतरेय ब्राह्मण : १, ४, ६।

३. महाभारत, कर्ण० : ३३।

पुरों का ध्वंस केवल वही कर सकता था जो इन तीनों को एक ही बाण से भेद दे। इन नगरों में एक सरोबर बहता था, जिसके जल से युद्ध में मारे गये योद्धा फिर जी उठते थे। इस प्रकार सुसज्जित हो असुरों ने पृथ्वी पर और स्वर्ग में तबाही मचा दी, और बार-बार देवताओं को पराजित किया। इन्द्र भी इन पुरों पर अपने आक्रमण में असफल रहे। तब इस घोर संकट के समय वह और अन्य सब देवता ब्रह्मा के पास गये, जिन्होंने उनका भगवान् शिव से साहाय्य याचना करने का आदेश दिया। देवताओं ने तप करके शिव को प्रसन्न किया। तब ब्रह्मा ने उनसे असुरों का नाश करने की प्रार्थना की। शिव ने देवताओं की आधी शक्ति की सहायता से इस कार्य को पूरा करने का वचन दिया; परन्तु इसके साथ शर्त यह रखी कि उनको समस्त पशुओं अर्थात् समस्त प्राणियों का स्वामी माना जाय। विश्वकर्मा ने शिव के लिए एक दिव्य रथ का निर्माण किया—जिसका शरीर पृथ्वी थी, सूर्य-चन्द्र जिसके चक्रके थे, चारों वेद जिसके अश्व थे इत्यादि। जिस समय शिव रथारूप हुए, उस समय उनको साक्षात् काल कहा गया है। इसी कारण लक्षण रूप से कालरात्रि अर्थात् प्रलयकाल की निशा को शिव के धनुष की प्रत्यंचा कहा गया है। स्वयं ब्रह्मा इस रथ के सारथि बने और विष्णु उनका बाण। तब शिव ने उन पुरों की ओर प्रयाण किया और अपने अमोघ बाण से उनको बेधकर उनका ध्वंस किया। इस महान् कार्य के फलस्वरूप ‘त्रिपुरम्’ और इसीके पर्यायवाची शब्द शिव की उपाधियाँ बन गये। यही कथा दोण और अनुशासन पवाँ में भी कही गई है।

सागर-मन्थन और गंगावतरण की कथाएँ भी महाभारत में मिलती हैं^१ और इनका रूप वही है जो रामायण में है।

शैव धर्म के इतिहास की दृष्टि से सबसे अधिक महत्वपूर्ण कथा जो महाभारत में मिलती है, वह है—दक्ष-यज्ञ की कथा। ब्राह्मण-ग्रन्थों का अवलोकन करते समय हमने देखा था कि ब्राह्मण कर्मकाण्ड के अनुयायियों में रुद्र की उपासना के प्रति एक विरोध-सा उत्पन्न हो गया था; क्योंकि वह इस उपासना में बाह्य अंशों के समावेश के पक्ष में नहीं थे। बाद में जब शैव धर्म का विकास हुआ, तब भी दीर्घ काल तक उनके प्रति यह विरोध-भावना बनी रही, ऐसा प्रतीत होता है। सम्भवतः काफी संघर्ष के बाद ही, शैव धर्म, शिव के बढ़ते हुए महत्व के कारण, और परिस्थितियों की सहायता से, प्राचीन कर्मकाण्ड के समर्थकों की इस विरोध-भावना पर विजय पाने में और वेदोत्तर-कालीन धर्म में शिव को एक प्रमुख स्थान दिलाने में सफल हुआ था। देव-कथाओं में इस विरोध-भावना का संकेत इस प्रकार किया गया है कि रुद्र को देवताओं की संघति से अलग रखा गया है। इसके उदाहरण भी हम पहले अध्यायों में देख चुके हैं। उनमें से एक उदाहरण यह था कि जब देवताओं ने यज्ञ-भाग आपस में बाँटा, तब रुद्र के लिए कोई भाग नहीं छोड़ा। अपर-कालीन दक्ष-यज्ञ की कथा का बीज हम इस वैदिक कथा में पाते हैं। जैसे-जैसे समय बीतता गया, इस कथा का

१. महाभारत, द्रोण० : २०२; अनु० १६०।

२. „ आदि० : १३, २२, और आगे। बन० ८५, ८६। अनु० ११३, १५ और आगे।

विकास होता गया । यहाँ तक कि इसने वह रूप धारण किया, जिसे हम प्राचीन धर्मावल-
म्बियों पर शैव धर्म की अन्तिम विजय का देवकथारूप कह सकते हैं । इस विजय के बाद
शैव धर्म की स्थिति दृढ़ हो गई, और शिव सर्वमान्य हो गये । यह सब रामायण-महाभारत
काल से बहुत पहले ही हो गया होगा ; क्योंकि इन ग्रन्थों में शैव-मत ब्राह्मण धर्म के एक
मुख्य अंग के रूप में दिखाई देता है, और दक्षयज्ञ की कथा का अपने पूर्ण विकसित रूप में
उल्लेख किया गया है । महाभारत में इसके दो रूप हैं—एक प्राचीन और दूसरा अपर-
कालीन । प्राचीन रूप के अनुसार^१ दक्ष ने यज्ञ का अनुष्ठान किया, जिसमें शिव को छोड़
कर शेष सब देवताओं को यज्ञ-भाग दिया गया । शिव को इस प्रकार जान-बूझकर यज्ञ भाग
से वंचित रखा गया था । यह रामायण के उस रथल से स्पष्ट हो जाता है, जहाँ कहा गया है
कि शिव के अपना भाग माँगने पर भी देवताओं ने उन्हें यज्ञ-भाग नहीं दिया । महाभारत में
देवताओं द्वारा शिव की इस प्रकार समाधान किया गया है कि देवताओं ने
भगवान् शिव को पूरी तरह से पहचाना नहीं था, और इसी कारण उन्हें यज्ञ-भाग नहीं
मिला । परन्तु इस अपमान से कुपित हो शिव ने अपना धनुष उठाया और उस स्थान पर
आ गये, जहाँ यज्ञ हो रहा था । जब शिव ने इस प्रकार कुद्ध होकर प्रवाण किया, तब
समरत विश्व में प्रलय-सा मच गया । जब वह यज्ञ-स्थल के समीप पहुँचे तब यज्ञ
हिरन का रूप धारण कर भाग निकला, और अपने देवता भी उसके साथ ही चले गये ।
अन्य सब देवता, जो उस समय वहाँ एकत्र थे, भय के कारण निश्चेष्ट हो गये । अपने
क्रोध में शिव ने सविता की भुजाएँ तोड़ दीं, भग की आँखें निकाल लीं, और अपने धनुष
से पूषा के दाँत तोड़ दिये । इसपर देवताओं ने भी भाग निकलने का प्रयत्न किया;
परन्तु शिव ने उन्हें वहाँ रोक लिया । इस प्रकार जब देवताओं का अभिमान पूरी तरह
चूर हो गया, तब उन्होंने शिव के पराक्रम को पहचाना और उनको तुष्ट किया तथा यज्ञ
का उचित भाग उनको दिया । इस प्रकार महान संघर्ष में विजय पाकर शैव-धर्म ने
सर्वमान्यता प्राप्त की । कथा का दूसरा रूप इस तथ्य पर और भी अधिक प्रकाश डालता
है^२ । इसमें ऋषि दधीचि नये शैवधर्म के समर्थक हैं । दक्ष-यज्ञ में जब शिव को नहीं
बुलाया गया तब वह कुद्ध होकर इसका कारण पूछते हैं । इसका उत्तर दक्ष देते हैं कि
वह एकादश रुद्रों को छोड़ कर, जो यज्ञ में उपस्थित थे, अन्य किसी रुद्र अथवा शिव को
नहीं जानते । इससे साफ पता चलता है कि शिव को ब्राह्मण कर्मकारण का देवता नहीं
माना जाता था और जो इस कर्मकारण के दृढ़ अनुयायी थे, वे शिव को मान्यता नहीं
देते थे । अन्य छोटी-छोटी बातों में भी यह कथा पहली कथा से कुछ भिन्न है ।
उदाहरणार्थ इस कथा में उमा शिव से अनुरोध करती है कि वे देवताओं से अपना यज्ञ-
भाग माँगें, और वे देवताओं को इस अपमान का दण्ड दें । शिव स्वयं नहीं जाते; परन्तु
अपने मुख से एक विकराल जीव को उत्पन्न करते हैं, जो 'वीरभद्र' कहलाता है, और इस

१. महाभारत, सौसिक : १८ ।

२. महाभारत (कलकत्ता संस्करण) अनु० : १५० ।

शैव मत

६०

बीरभद्र को शिव दक्ष-यज्ञ भंग करने का काम सौंपते हैं। उमा स्वयं महाकाली का रूप धरती हैं और बीरभद्र के साथ जाती हैं।

शैव-धर्म के प्रति प्रारम्भ में जो विरोध-भावना थी, उसका संकेत महाभारत में केवल दक्षयज्ञ की कथा से ही नहीं मिलता। ग्रन्थ-भर में इंधर-उधर फैले हुए अन्य कई उल्लेख ऐसे हैं, जो दक्ष-यज्ञ की इस कथा को देखते हुए अर्थ-पूर्ण ही जाते हैं। उदाहरणार्थ उपमन्यु की कथा में शिव पहले इन्द्र का रूप धर कर प्रकट होते हैं और उपमन्यु को उसकी शिवोपासना से विरक्त करना चाहते हैं^१। यह संदर्भ काफी बाद का और स्पष्ट ही किसी शिव-भक्त का रचा हुआ है; क्योंकि इसमें शिव की उपासना के विरुद्ध जो तर्क दिये गये हैं, उनके महत्व को जितना ही सके, कम करने का प्रयास किया गया है। परन्तु यह सहज में ही देखा जा सकता है कि शिवोपासना की यह आलोचना एक समय शिव-भक्तों के लिए एक वास्तविक और प्रबल चुनौती थी। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि शिवोपासना के विरुद्ध, जो तर्क दिये गये हैं, वे सब उन्हीं आपत्तिजनक अंशों को लेकर किये गये हैं, जिनका शैवधर्म के अन्दर समावेश हो गया था। इससे उस कथन की पुष्टि होती है कि शैवधर्म के प्रति विरोध-भावना का आधार ही उसके ये आपत्तिजनक लक्षण थे, जिन्हें हम पहले के एक अध्याय में कह चुके हैं। अनुशासन पर्व में ही एक अन्य स्थल पर यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है^२। पार्वती की समझ में यह नहीं आता कि भगवान शिव जैसे महान् देवता शमशान भूमि में क्यों घूमते हैं, और उन्होंने कुछ उल्लहने के स्वर में शिव से इसका कारण भी पूछा। इस संदर्भ में शिव के इस रूप का समाधान करने का प्रयास किया गया है। यह प्रयास यहाँ तक पहुँचता है कि शमशान भूमि को ही एक पुण्य स्थान मान लिया गया है। इसी पर्व में एक दूसरे स्थल पर त्रिपुरदाह की सारी कथा कही गई है, और यहाँ फिर यह कहा गया है कि जब त्रिपुरदाह के उपरान्त शिव देवताओं के समक्ष पार्वती की गोद में एक शिशु के रूप में आये, तब देवताओं ने उन्हें पहचाना नहीं^३। स्पष्ट कहा गया है कि इन्द्र शिव से ईर्ष्या करते थे और वे इस शिशु पर उस समय अपना वज्र फेंकने को तैयार हो गये; परन्तु उसी क्षण उनकी भुजा पर 'सन्निपात' गिरा और उनकी पूर्ण पराजय हुई। इस कथा में इन्द्र के इस प्रकार आचरण करने का कोई कारण नहीं प्रतीत होता। परन्तु दक्ष-यज्ञ की कथा के प्रसंग में हमने जो कुछ ऊपर देखा है, उसका ध्यान रखते हुए, इस घटना में हमें प्राचीन और नवीन धर्मों के बीच जो संघर्ष हुआ था, उसकी एक झलक मिलती है। रामायण-महाभारत के समय तक यह नवा धर्म पूर्ण रूप से स्थापित हो चुका था, और पुराने धर्म की जड़ें उखड़ चुकी थीं। शिव और उनकी उपासना के प्रति जो प्राचीन विरोध भावना थी, वह तबतक मिट चुकी थी; परन्तु उसकी स्मृति देवकथाओं में अभी तक शेष थी।

१. महाभारत, अनु० : २२, ६२ और आगे।

२. „, अनु० : ११४, १० और आगे।

३. „, अनु० : १६०, ३२-३३।

रामायण-महाभारत काल में शैव-धर्म के लाक-प्रचलित रूप की एक और बात अभी शाप है। वह है—उनकी पत्नी की उपासना का विकास। महाभारत में इसपर कुछ प्रकाश पड़ता है। सिन्धुधाटी के बाद सूत्रग्रन्थों में हमें पहली बार इस देवी की उपासना का उल्लेख मिला था। उसके स्वरूप और उसकी उपासना विधि के विषय में भी हमें वहाँ कुछ-कुछ पता चला था। रामायण में इस देवी का स्वतन्त्र उपासना का कोई उल्लेख नहीं है; परन्तु महाभारत में कई बार इसका उल्लेख हुआ है। देवी की स्तुति में दो पूरे स्तोत्र कहे गये हैं, जिनसे उसके स्वरूप और उसकी उपासना का हमें अच्छा ज्ञान हो जाता है^१। विष्णु और शिव के समान ही इस देवी की भी जब आराधना होती थी, तब इसको सर्वश्रेष्ठ देवता माना जाता था, और एक स्थल पर उसे विश्व की परम सम्मानी कहा गया है। साधारणतया उसको शिव के क्रूर रूप में उनकी सहधर्मिणी माना जाता था। वह कृष्ण-वर्णी अथवा कृष्ण तथा बभ्रु रंग की है, यद्यपि एक बार उसका वर्ण ‘श्वेत’ भी कहा गया है। सर्व उसके वस्त्र हैं, वह बदुमुखी और बदुमुजी है और विभिन्न अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित है। युद्ध से पहले विजय-प्राप्ति के लिए उसका आह्वान किया जाता है और उसको ‘जया’ और ‘विजया’ कहा गया है। इस रूप में वह वैबीलोन की देवी ‘इश्तर’ और असीरिया की देवी से भी बहुत मिलती-जुलती है; क्योंकि उसको भी एक रूप में युद्ध की देवी माना जाता था^२। इस देवी की उपासना को शिव की उपासना के ढंग पर ढालने का प्रयत्न किया गया था, जिसके फलस्वरूप देवी को भी अपने भक्तों की रक्षिका और उनके शत्रुओं की संहार करनेवाली माना जाता था। इस सम्बन्ध में उसका सबसे प्रसिद्ध कृत्य ‘महिपासुर’ का वध है। राक्षस ‘कैटम’ का वध भी इसी देवी ने किया था। लोक-विश्वास के अनुसार इसी देवी ने उस कन्या के रूप में अवतार लिया था, जिसे वसुदेव अपनी और देवकी की वास्तविक सन्तान कृष्ण के बदले गोकुल से ले आये थे।

इन सबसे यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि रामायण-महाभारत काल तक देवी की उपासना भी वेदोत्तर-कालीन ब्राह्मण धर्म का एक अंग बन गई थी। शिव के साहचर्य के कारण ही इस काल तक इस देवी को भी मान्यता मिल गई थी और महाभारत में हम देखते हैं कि युधिष्ठिर और अर्जुन—दोनों देवी की आराधना करते हैं तथा अर्जुन को तो स्वयं कृष्ण ने देवी की आराधना करने के लिए कहा था। इसके अतिरिक्त इस समय तक देवी के उपासकों ने अपनी उपासना के लिए प्राचीन श्रुतियों में ही प्रमाण ढूँढ़ने के प्रयत्न करने शुरू कर दिये थे, और इन प्रारम्भिक प्रयत्नों के कुछ संकेत हमें महाभारत में ही मिलते हैं। उदाहरणार्थ देवी की स्तुति में जो स्तोत्र कहे गये हैं, उनमें से एक में इस देवी का सरस्वती से, वेद माता सावित्री से, स्वयं श्रुति से और वेदान्त से तादात्म्य किया गया है। इसका सम्भवतः अभिप्राय यह था कि इन सबमें इसी देवी का माहात्म्य गान किया गया है। एक अन्य स्थल पर^३, शिव की सहचरी के रूप में, उसको स्पष्ट रूप से शिव की शक्ति कहा गया

१. महाभारत : (कलकत्ता संस्करण) — विराट० ६; भीष्म० २३।

२. जैरद्वी : सिविलाइजेशन आफ वैबीलोनिया प्रण ऐसीरिया, पृ० २३४।

३. महाभारत : अनु० २२, १४६।

है। इससे सिद्ध होता है कि इस समय तक उसको शिव की वह शक्ति अथवा माया माना जाने लगा था, जिसका उपनिषदों में उल्लेख किया गया है। यहाँ से शाक्तमत का प्रारम्भ होता है।

जिन दो स्तोत्रों की ऊपर चर्चा की गई है, उनमें देवी के कुछ और गुणों तथा लक्षणों का भी वर्णन किया गया है, जिनपर ध्यान देना आवश्यक है। यद्यपि एक ओर देवी को शिव की पत्नी और स्कन्द की जननी माना गया है; परन्तु दूसरी ओर उसको कुमारी कहा गया है जिसने सतत कौमार्य का व्रत ले रखा था। उसका आवास विन्ध्य पर्वत है और मद्य, मांस तथा पशु-बलि—विशेष कर भैंसे का रक्त—उसे अतिप्रिय हैं। उसकी आकृति अति कुरुप है और जिन दानवों का वह वध करती है, उन्हें अपने वृक्ष मुख से खा जाती है। ये लक्षण जहाँ तक हमें ज्ञात हैं, न तो वैदिक अभिव्यक्तिका में हैं, न सिन्धु-घाटी की स्त्री देवता में पाये जाते हैं। परन्तु आजतक भी विन्ध्याचल के आस-पास की आदिवासी जातियाँ ऐसी स्थानीय स्त्री देवताओं की उपासना करती हैं, जिनका स्वरूप और जिनके गुण सर्वथा वही हैं—जैसे इस देवी के^१। अतः यहाँ हम उस प्रक्रिया का प्रारम्भ देखते हैं, जो रुद्र की सहचरी की उपासना के विकास के साथ-साथ चलती रही और जिसके द्वारा अन्त में इस देवी ने देश-भर की समस्त स्थानीय स्त्री देवताओं को आत्मसात् कर लिया, और वे सब इस देवी की ही विभिन्न अभिव्यक्तियाँ मानी जाने लगीं।

इन दो स्तोत्रों के अतिरिक्त महाभारत में कुछ अन्य स्थलों पर भी इस देवी का उल्लेख किया गया है। सौसिंह पर्व में प्रलय निशा की प्रतीक ‘कालरात्रि’ के रूप में उसका वर्णन किया गया है। वह कृष्णवर्णी है, उसका मुख रक्त वर्ण है और आँखें लाल हैं, वह रक्तपुष्पों की माला पहनी है और उसके शरीर पर रक्त वर्ण का लेप है—केवल एक रक्तवस्त्र उसका आवरण है। संज्ञेप में उसकी वेश-भूपा उसके स्वरूप के अनुकूल ही है। उसकी आकृति प्रौढा नारी की-सी है और वह एक हाथ में पाश लिये हुई है।

शान्ति पर्व में एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि स्वयं उमा ने महाकाली का रूप धारण किया था, और दक्ष-यज्ञ का विध्वंस करने वह ‘वीर-भद्र’ के साथ गई थीं^२। यही बात अनुशासन पर्व में भी कही गई है जैसा कि हम ऊपर देख आये हैं।

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि इस समय तक इस देवी को पूर्ण रूप से शिव की सहचरी माना जाने लगा था, यद्यपि शिव के समान ही, उसकी भी कुछ लोग उसके आदि कूर रूप में उपासना करते थे। परन्तु जहाँ शिव के क्रूर रूप की उपासना उनके कुछ इनें-गिने ही भक्त करते थे, और इस पर भी इन लोगों का कुछ समय बाद एक गुप्त सम्प्रदाय-सा बन गया तथा इनके आचार-विचार भी समाज-विरोधी हो गये, वहाँ दुर्गा अथवा काली के रूप में देवी की उपासना बराबर बढ़ती और फैलती ही गई। इसने शीघ्र ही एक स्वतंत्र मत का रूप धारण कर लिया, जो अपने अनुयायियों की संख्या

१. महाभारत : (कलकत्ता संस्करण) सौसिंह० ८।

२. , : (,,) शान्ति० २८४।

की दृष्टि से शैव और वैष्णव मत से कम नहीं था। उसका क्रूर रूप बराबर बना रहा, और पशुओं एवं रक्त की बलि आज तक उसकी उपासना का एक आवश्यक अंग बना हुआ है।

इस अध्याय को समाप्त करने से पहले एक बात और देखनी शेष रह जाती है। वह यह है कि न तो 'रामायण' में और न 'महाभारत' में ही गणेश का कहीं विस्तृत वर्णन किया गया है। उनका इतना उल्लेख तो अवश्य हुआ है कि महाभारत की रचना के समय जो कुछ महर्षि व्यास बोलते जाते थे, उसे गणेश जी लिखते जाते थे। परन्तु इसके अतिरिक्त उनके विषय में और कुछ नहीं कहा गया है। वह इस समय तक एक स्वतंत्र देवता बन गये थे, यह तो सूत्र ग्रन्थों से ही स्पष्ट हो जाता है; परन्तु रामायण-महाभारत के समय तक वह एक प्रमुख देवता नहीं थे। फिर भी यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि महाभारत में एक-दो बार शिव को गणपति कहा गया है, और उनके अनुचर 'गण' कहलाते हैं। एक बार उनको 'गणेश्वर' की भी उपाधि दी गई है, जो गणेश का ही पर्यायवाची शब्द है और जिसका प्रयोग सूत्रग्रन्थों में 'विनायक' के लिए किया गया है। यह शिव और गणेश के मूल तादात्म्य का एक और प्रमाण है।

इस प्रकार रामायण-महाभारत में हम देखते हैं कि शैव मत सार रूप से वे ही लक्षण ग्रहण करता जा रहा था, जो हमें पौराणिक युग में दिखाई देते हैं। उपनिषद्-काल के धार्मिक परिवर्तन और विकास के फलस्वरूप, वेदोत्तर-कालीन ब्राह्मण धर्म में, शिव एक प्रमुख देवता बन गये और अपने उपासकों द्वारा सर्वश्रेष्ठ देवता माने जाने लगे। उनकी उपासना के दो रूप थे - एक दार्शनिक और दूसरा लोकप्रचलित। उनकी उपासना के प्रति जो विरोध-भावना प्राचीन काल में थी, वह अबतक सर्वथा लुप्त हो चुकी थी, यद्यपि उसकी स्मृति देवकथाओं में अभी तक विद्यमान थी। शिवोपासना के जिन आपत्तिजनक रूपों को लेकर इस विरोधभावना का जन्म हुआ था, उनका भी अभी तक अस्तित्व था ही और कुछ लोग उन्हीं रूपों में शिव की उपासना भी करते थे। भक्तिवाद का भी अब पूर्णरूप से प्रचार हो गया था और यह विष्णु तथा शिव—इन्हीं दो देवताओं में केन्द्रित था। उनकी उपासना का साधारण ढंग प्रार्थना और उनकी प्रशंसा में स्तुति-गान करना था। यह प्रार्थना अथवा स्तुतिगान आम तौर पर मन्दिरों में किया जाता था, जहाँ शिव की मूर्तियाँ होती थीं। उनकी लिंग मूर्तियाँ भी अब उनकी मानवाकार मूर्तियों के समान ही प्रचुर संख्या में बनती थीं; परन्तु उनका जननेन्द्रिय-उपासना से अब कोई सम्बन्ध नहीं था, यद्यपि यह ज्ञान लोगों को अवश्य था कि इन मूर्तियों का आकार जननेन्द्रिय-सम्बन्धी है। शिव का अब अपनी सहचरी से भी स्पष्ट सम्बन्ध था, जो उमा अथवा पार्वती कहलाती थी। शिवोपासना का सबसे अधिक लोक-प्रचलित रूप वह था, जिसमें दोनों की साथ उपासना होती थी। इस रूप में दोनों का आदि स्वरूप बहुत बदल गया था और भक्तिवाद के प्रभाव से वह अति सौम्य हो गया था। उनको अब दयाशील, कल्याणकारी और कृपालु देवता माना जाता था, जो सदा मानवजाति के हित में लगे रहते थे, यद्यपि मर्यादा

उल्लंघन करनेवाले को वह दण्ड भी देते थे। योगाभ्यास और तपस्या का मान अब बहुत बढ़ गया था, और इन्हीं के द्वारा शिव में सच्ची और अचल भक्ति रख कर उन्हें प्रसन्न किया जा सकता था। अनेक भक्तों ने इस प्रकार उनसे वरदान पाये थे। इन भक्तों में 'उपमन्तु' सबसे प्रमुख है और उसको एक आदर्श भक्त माना गया है। शिव की सहचरी की देवी के रूप में स्वतंत्र उपासना का भी विकास हो रहा था और उसको कुछ मान्यता भी दी जाने लगी थी, यद्यपि इस रूप में देवी का प्राचीन क्रूर स्वरूप ही बना रहा तथा कुछ स्थानीय स्त्री देवताओं को आत्मसात् कर लेने के कारण उसका विकास भी हो रहा था। देवी के कुछ भक्त प्राचीन वैदिक श्रुतियों से उसका उपासना को प्रामाणिकता देने का और उनका एक दार्शनिक आधार बनाने की चेष्टा भी कर रहे थे। इन प्रयासों से शाकधर्म का जन्म हुआ।

शैव धर्म के विकास का हमारा निरीक्षण अब इसा संबंध के प्रारम्भ से कुछ पहले तक पहुँच जाता है। अब इसको हम इस काल की कुछ अन्य उपलब्ध सामग्री का अवलोकन करके समाप्त करेंगे। जो कुछ सामग्री उपलब्ध है, उससे रामायण और महाभारत के प्रमाणों की पुष्टि होती है। इस सामग्री में से सबसे पहले लघु उपनिषद् ग्रन्थ हैं, जिनकी रचना लगभग रामायण-महाभारत के अपरकालीन भागों के समय में ही हुई थी। इन उपनिषदों में बहुत-सी सामग्री है, जिससे रामायण-महाभारत के आधार पर जो निष्कर्ष हमने निकाले हैं, उनकी पुष्टि होती है। उदाहरणार्थ 'कैवल्य उपनिषद्'^१ में शिव की दार्शनिक 'पुरुष' के रूप में कल्पना की गई है, जिसका न आदि है, न मध्य, न अन्त; जो एक है, चित् है तथा आनन्द है; जो साक्षी है और जिनके स्वरूप को पहचान कर ऋषियों ने सद-ज्ञान प्राप्त किया है। यहाँ 'सदाशिव' उपाधि का भी पहली बार प्रयोग किया गया है और बाद में इसी उपाधि से शिव के दार्शनिक स्वरूप का भी निर्देश किया जाने लगा। अपने लोक-प्रचलित स्वरूप में शिव को परमेश्वर, त्रिनेत्र, नीलकंठ तथा उमापति कहा गया है। इन सब लक्षणों को हम रामायण-महाभारत में देख चुके हैं^२। 'शतरुद्रिय सूक्त' में शिव का स्तवन किया गया है, इसी कारण इस सूक्त का जाप करने से मनुष्य की ऐसी परिशुद्धि हो जाती है जैसे अग्नि से धातु की, और वह कैवल्य की अवस्था को पहुँच जाता है^३। 'जावाल उपनिषद्' में कहा गया है कि शिव ने 'तारकासुर' को ब्रह्मज्ञान दिया था^४। 'शतरुद्रिय सूक्त' के माहात्म्य का यहाँ भी वर्णन किया गया है और उसको अमरत्व-प्राप्ति का साधन माना है। 'नारायण उपनिषद्' में, जो 'तैत्तिरीय आरण्यक' का अन्तिम अध्याय है, विभिन्न देवताओं का 'तत्पुरुष' से तादात्म्य किया गया है और यहाँ हमें वह श्लोक मिलता है, जिसकी हमने पहले

१. कैवल्य उपनिषद् : ७, १८।

२. , , : ७।

३. , , : ४।

४. जावाल उपनिषद् : ३।

एक अध्याय में भी चर्चा की है और जिसमें 'वक्रतुण्ड' और 'दन्ति' का उल्लेख है^१। इसी प्रसंग में स्कन्द और गरुड़ का भी उल्लेख किया गया है, जिससे इस उपनिषद् का अपरकालीन होना सिद्ध होता है। इसी उपनिषद् में एक दूसरे स्थल पर दुर्गा के नाम से देवी का आहान रामायण-महाभारत के ढंग पर ही किया गया है^२। अन्त में 'अर्थवैशिशस उपनिषद्' है, जिसमें केवल शिव की महिमा का गान है। शिव की विश्वदेवतात्मक ब्रह्म के रूप में कल्पना की गई है और विभिन्न देवताओं से उनका तादात्म्य किया गया है, जिनमें विनायक और उमा भी हैं^३। इस उपनिषद् में शिव का जो स्वरूप दिखाई देता है, उससे स्पष्ट पता चलता है कि शिव का दार्शनिक स्वरूप अब 'सांख्य' के 'पुरुष' की अपेक्षा 'विदान्त' के 'ब्रह्म' के अधिक निकट आता जा रहा था।

इन लघु उपनिषदों के बाद हमें 'पतंजलि' का महाभाष्य मिलता है, जो ईसा से दो शताब्दी पूर्व का है। पतंजलि शुंग पुष्यमित्र के समकालीन थे। महाभाष्य में शिव के अनेक नामों का उल्लेख तो है ही^४, इसके साथ-साथ शिव और स्कन्द की मूर्तियों का भी वर्णन है, जो स्पष्ट ही पूजा के लिए बनाई जाती थीं^५। इसी ग्रन्थ में यह भी कहा गया है कि मौर्य सम्राट् इस मूर्ति-निर्माण और मूर्तियों की उपासना को सरकारी आय का साधन बनाते थे^६। इस प्रकार इस ग्रन्थ से 'कौटिल्य के अर्थशास्त्र' की पुष्टि होती है और यह भी सिद्ध होता है कि पतंजलि के समय तक मूर्तिपूजा एक बड़ी प्राचीन प्रथा हो गई थी। इसके अतिरिक्त एक स्थल पर पतंजलि ने 'शिव-भागवतों'^७ का भी उल्लेख किया है, जो सम्भवतः शिवोपासकों का एक सम्प्रदाय थे। एक अगले अध्याय में हम इनकी फिर चर्चा करेंगे। पतंजलि ने न तो देवी का या न गणेश का ही कोई उल्लेख किया है।

इसी समय के कुछ सिक्के भी हमें मिलते हैं, जिनसे शिव और उनकी उपासना के विषय में हमें कुछ प्रासंगिक बातें पता चलती हैं। इनमें से सबसे प्राचीन कुछ चाँदी और ताम्बे के ठप्पेदार सिक्के हैं, जो लगभग तीसरी शताब्दी ईसा-पूर्व के हैं। उनपर अनेक चिह्न अंकित हैं, जिनमें वृषभ कई बार पाया जाता है^८। यह कहना कठिन है कि इस वृषभ का शिव से कोई सम्बन्ध था या नहीं। यह वृषभ चिह्न, दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व के हिन्द-यूनानी राजाओं के कुछ सिक्कों पर भी मिलता है^९। इन राजाओं ने भारतीय संस्कृति को

१. नारायण उपनिषद् : ५, ८।

२. " " : १६।

३. अर्थवैशिशस उपनिषद्।

४. महाभाष्य " : सूत्र १,४६; ३, ६६; १,६३; ४, ७७ के नीचे।

५. " " : सूत्र ३, ६६ के नीचे।

६. " " : सूत्र ३, ६६ के नीचे।

७. " " : सूत्र ३, ७६ के नीचे।

८. Catalogue of Indian Coins. Br. Museum : Introd. p. 18, Pl. I,

Nos. 20-23.

९. Coins of Alexander's successors in the East. Cunningham, Pl. VIII, Nos. 7-12 PC. IX, No. 4.

ग्रहण कर लिया था—जैसा कि इनके सिक्कों के लेखों से स्पष्ट है, जो संस्कृत भाषा में थे। हो सकता है कि कुछ ने शैव मत भी ग्रहण कर लिया हो। तीसरी से दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व तक के कुछ चाँदी के सिक्कों पर एक देवता का चित्र अंकित है। अपरकालीन उज्जयिनी के सिक्कों पर फिर वैसा ही चित्र दिखाई देता है, और वहाँ निश्चित रूप से वह कार्तिकेय का ही चित्र है^१। अतः वहाँ भी यह संभव है कि यह कार्तिकेय का ही चित्र हो। आर उस समय तक उसकी उपासना भी की जाने लगी हो। इससे महाभाष्य के उस उल्लेख की पुष्टि होती है, जहाँ स्कन्द की मूर्तियों की चर्चा की गई है। उसी समय का एक सिक्का और है जिसके जारी करनेवाले राजा का पता नहीं; परन्तु जिसपर पहली बार ‘शिवलिंग’ का एक चित्र अंकित किया गया है^२। वह एक पीठिका पर रखा हुआ है, लगभग उसी ढंग से जैसे अपर काल में लिंग-मूर्तियाँ रखी जाती थीं। अतः वह उपासना के लिए ही बनाया गया होगा। इससे यहसूत्रों और महाभारत के प्रमाणों की बड़े विशद् ढंग से पुष्टि हो जाती है। अन्त में राजा गोंडोफारेज के सिक्कों पर हमें प्रथम बार स्वयं शिव का चित्र अंकित मिलता है^३। अपरकालीन सिक्कों में तो यह चित्र अति साधारण हो गया था। इस चित्र में शिव द्विवाहु, खड़े हुए और अपने दक्षिण हाथ में त्रिशूल लिये हुए दिखाये गये हैं। यही चित्र बाद में सब सिक्कों के चित्रों के लिए एक नमूना बन गया, ऐसा मालूम होता है। इन सब सिक्कों में वह सदा इसी प्रकार खड़े हुए, द्विवाहु अथवा चतुर्वाहु और अपने हाथों में विभिन्न वस्तुएँ लिये दिखाये गये हैं।

इन सब अभिलेखों से पता चलता है कि इस काल में उत्तर भारत में शैव धर्म के उसी स्वरूप का प्रचार था जो रामायण-महाभारत में हमने देखा है और कभी-कभी इसको राजाश्रम भी मिल जाता था। इस शैव धर्म का प्रचार केवल उत्तर भारत में ही नहीं था, दक्षिण में 'गुड़ीमल्लम्' नामक स्थान पर एक लिंग-मूर्ति मिली है, जिसका समय दूसरी शताब्दी ईसापूर्व निर्धारित किया गया है^५। कई दृष्टियों से यह एक बड़ी महत्वपूर्ण खोज है। यह केवल इसी बात का प्रमाण नहीं है कि इस समय तक शैव धर्म का और उसके अन्तर्गत लिंगोपासना का प्रचार दक्षिण भारत तक पहुँच गया था; परन्तु इस लिंग-मूर्ति का आकार जननेन्द्रिय से इतना मिलता-जुलता है कि इस धारणा में किसी संदेह की कोई गुंजाई ही नहीं रह जाती कि प्रारम्भ में ये लिंग-मूर्तियाँ जननेन्द्रिय का प्रतीक ही थीं। इसी मूर्ति पर शिव की मानवाकार मूर्ति भी खुदी हुई है, अतः यह लिंग-मूर्तियों की उस श्रेणी का प्रथम उदाहरण है जिसे 'मुखलिंग' कहा जाता है। इसके अतिरिक्त 'भीता' नामक स्थान पर पहली शताब्दी ईसा पूर्व की एक और लिंग-मूर्ति मिली है^६। यह उत्तनी यथार्थपूर्ण

8. Catalogue of Indian Coins Br. Museum (Ancient India) Class I,
Group 3. variety 'f' and 'g' Pl. XII.

3. " " " " 22

४. गणपति राव : हिन्दू आइकानोग्राफी, भाग २, पृ० ६३-६६

4. " " : " " " " " | 3000.00

तो नहीं है; परन्तु इसपर पंचमुख शिव की मानवाकार मूर्ति खुदी हुई है और शिव का पाँचवाँ सुख मूर्ति के शिरोभाग पर है। एक तीसरी लिंग-मूर्ति मध्य ट्रावनकोर में 'चेमी हलई' नामक स्थान पर मिली है। इसका आकार लगभग रूढिगत है और इसको अपरकालीन लिंग-मूर्तियों का आदि रूप माना जा सकता है।

इस प्रकार ईसा-संवत् के प्रारम्भ तक शैवधर्म का प्रचार समस्त भारत में हो गया था, और उसका स्वरूप सारतः वही था, जो रामायण-महाभारत काल में था। आगामी शताब्दियों में शैव धर्म के इन्हीं रूपों और लक्षणों का अधिक विकास होता गया और अन्त में शैव धर्म का वह स्वरूप बना जो हम पुराणों में पाते हैं तथा जिसको शैव धर्म का प्रामाणिक स्वरूप कह सकते हैं। अतः अगले अध्याय में हम इसी विकास का और फिर पौराणिक शैव धर्म का अध्ययन करेंगे।

पञ्चम अध्याय

ईसा-संवत् की प्रारम्भिक कुछ शताब्दियाँ भारतीय धर्म के इतिहास का निर्माण-युग हैं। इस युग में उपनिषद्-काल के बाद जिन विभिन्न मतों का प्रादुर्भाव हुआ था, उनका विकास हुआ और उन्होंने अपना निश्चित रूप धारण किया। दुर्भाग्य से इस युग के निश्चित धर्मसम्बन्धी अभिलेख, विशेषतः ऐसे अभिलेख जिनका शैवधर्म से सीधा सम्बन्ध हो, अब नहीं मिलते। इस कारण हमें इस युग के धार्मिक इतिहास के लिए उन प्रासंगिक उप-सूचनाओं का सहारा लेना पड़ता है, जो इस समय के अन्य लौकिक अभिलेखों से मिलती हैं। ये अभिलेख साहित्यिक भी हैं और पुरातत्त्व-सम्बन्धी भी। यद्यपि इन अभिलेखों की संख्या अधिक नहीं है, फिर भी इस युग में विभिन्न मतों के विकास का एक साधारण ज्ञान कराने के लिए वे पर्याप्त हैं। अतः पहले हम इन्हीं का अध्ययन करेंगे और यह देखेंगे कि ईसा की इन प्रारम्भिक शताब्दियों में शैवधर्म के इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने में इनसे कहाँ तक सहायता मिलती है।

साहित्यिक अभिलेखों में सबसे पहले 'अश्वघोष' की कृतियाँ हैं। 'अश्वघोष' एक बौद्धमतावलम्बी कवि और विद्वान् थे, जो ईसा के प्रथम शती में हुए और राजा कनिष्ठ के समकालीन थे। उन्होंने अपने 'बुद्धिचरित' नामक काव्य में भगवान् शिव का कई बार उल्लेख किया है और इन उल्लेखों से हमें पता चलता है कि उस समय शिव का स्वरूप सारभाव से वैसा ही था, जैसा रामायण-महाभारत में। उदाहरणार्थ एक श्लोक में 'वृषभज' नाम से उनका उल्लेख किया गया है^१, और एक अन्य स्थल पर^२ उनको 'भव' कहा गया है, तथा स्कन्द को (जिसे यहाँ 'पण्मुख' कहा गया है) उनका पुत्र माना गया है। एक तीसरे श्लोक में देवी कहकर पार्वती का उल्लेख किया गया है और उनको स्कन्द की माता माना गया है^३। परन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिए कि स्वयं स्कन्द को यहाँ 'अभिसूनुः' कहा गया है। 'अश्वघोष' की दूसरी कृति 'सौन्दरानन्द' में शिव अथवा उनकी उपासना के सम्बन्ध में कोई विशेष उल्लेख नहीं किया गया है। एक श्लोक में 'आम्बिक' शब्द अवश्य आया है, जिससे स्कन्द अथवा गणेश अभिप्रेत हो सकते हैं^४। परन्तु इस श्लोक का पाठ निश्चित नहीं है। अश्वघोष की जो अन्य कृतियाँ बताई जाती हैं, उनमें शिव अथवा शैव-धर्म के विषय में कोई विशेष उल्लेख नहीं है।

ईसा की पहली अथवा दूसरी शताब्दी का शायद 'शूद्रक' कवि रचित 'मृच्छकटिक' नामक रूपक भी है। इसके उपोद्घात को छोड़कर, जो बाद का है, इस ग्रन्थ में शिव

-
- १. बुद्धचरित : १०, ३।
 - २. „ : १, ६३।
 - ३. „ : १, ६६।
 - ४. सौन्दरानन्द : १०, ६।

और शैवधर्म-सम्बन्धी अनेक उल्लेख मिलते हैं। एक स्थल पर शिव के विभिन्न नाम—शिव, ईशान, शंकर और शंभु दिये गये हैं^१। एक अन्य स्थल पर शिव द्वारा दक्ष-यज्ञ-विघ्वंस की ओर संकेत किया गया है^२। महादेवी के रूप में पार्वती का भी एक बार उल्लेख हुआ है और इनके द्वारा शुभ-निशुभ के वध की कथा की ओर भी संकेत किया गया है^३। यहाँ तक तो शिव और पार्वती का स्वरूप विलकुल वैसा ही है, जैसा रामायण-महाभारत में। परन्तु कुछ अन्य स्थलों पर इस स्वरूप में हम कुछ विकास पाते हैं और इसको शैवधर्म के पौराणिक स्वरूप की ओर बढ़ते हुए देखते हैं। उदाहरणार्थ छठे अंक के एक श्लोक में ब्रह्मा, विष्णु और शिव की त्रिमूर्ति के सारलपेण ऐक्य की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है^४। इस ऐक्य की केवल एक धुंधली-सी झलक ही 'महाभारत' के सबसे अपरकालीन भागों में मिलती है; परन्तु पुराणों में इसको स्पष्ट रूप से माना गया है। इसके अतिरिक्त तीसरे अंक में स्कन्द को चोरों का संरक्षक देवता माना गया है^५। यह कहना कठिन है कि स्कन्द ने यह रूप कब धारण किया? परन्तु, यहाँ यह याद करना शायद रुचिकर होगा कि वैदिक 'शतरुद्रिव' स्तोत्र में स्वयं रुद्र को चोरों का संरक्षक देवता माना गया है। एक अन्य स्थल पर शिव द्वारा कौच-वध का उल्लेख किया गया है, जो एक नई कथा है। अन्त में एक स्थल पर मातृकाओं का भी उल्लेख हुआ है, जिनकी जनसाधारण द्वारा चतुष्पथों पर पूजा की जाती थी^६। इन स्त्री देवताओं की उपासना बाद में स्कन्द की उपासना का एक अंग बन गई। इनके सम्बन्ध में कुछ अधिक कहने का हमें आगे चलकर अवसर मिलेगा।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त हमें तीन और ग्रन्थ मिलते हैं, जिनकी रचना भी सम्भवतः इसा की पहली या दूसरी शताब्दी में हुई थी। ये ग्रन्थ हैं—'मनुस्मृति', 'भारतीय नाट्य-शास्त्र' और वात्स्यायन का 'कामसूत्र'। मनुस्मृति में कई बार देवताओं की मूर्तियों का और उनकी उपासना का उल्लेख किया गया है^७, और कुछ ऐसे लोगों की चर्चा भी की गई है जो देवमूर्तियों को पूजार्थ लिये चलते थे। उनकी जीविका का यही साधन था^८। अनेक देवताओं का नाम लेकर भी उल्लेख किया गया है, जिनमें विष्णु भी हैं। परन्तु न तो शिव का, न उनकी सहधर्मिणी का कहीं उल्लेख हुआ है। हाँ, रुद्रों (एकादश रुद्रों) का एक बार उल्लेख हुआ है^९। परन्तु एक स्थल पर शिव पर चढ़ाये नैवेद्य (भौज्य-नस्तु) को ग्रहण करने का निषेध किया गया है। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि इस समय शिव की

१. सूचकांकिक : १, ४१।
२. „ : १०, ४५।
३. „ : ६, २७।
४. „ : ६, २७।
५. „ : ३, ५ के आगे का गव भाग।
६. „ : २, २५, „, „
७. मनुस्मृति : अध्याय ६, ३६, १३०, १५३।
८. „ : „, ३, १५२, १८०।
९. „ : „, ३, २६४।

अर्चना इन वस्तुओं से की जाती थी। इनके ग्रहण करने के निषेध के पीछे सम्भवतः शिव के प्रति प्राचीन विरोध-भावना की स्मृति है।

‘भारतीय नाट्य-शास्त्र’ में शिव का पूर्ण रूप से सत्कार और सम्मान किया गया है। प्रारम्भ में ही ब्रह्म के साथ ही उनका भी आह्वान किया गया है और उनको ‘परमेश्वर’ कहा गया है^१। अन्य स्थलों पर उनको ‘त्रिनेत्र’, ‘वृषांक’, ‘नीलकंठ’ आदि उपाधियाँ दी गई हैं और उनके गणों की चर्चा भी की गई है^२। इसी ग्रन्थ में शिव का ‘नटराज’ रूप प्रसुख है। वह नृत्यकला के महान् आचार्य हैं और ‘कैशिकी वृत्ति’ सदा उनका सेवा में रहती है^३। उन्होंने ही नाट्यकला को ‘ताएडव’ दिया^४। इस समय तक सम्भवतः उनको महान् योगाचार्य भी माना जाने लगा था और ग्रन्थ में कहा गया है कि उन्होंने ही भरत-पुत्रों को ‘सिद्धि’ सिखाई^५। अन्त में शिव के त्रिपुरध्वंस का उल्लेख भी किया गया है और बताया गया है कि ब्रह्म के आदेश से ‘भरत’ ने ‘त्रिपुरदाह’ नाम का एक ‘डिम’ (रूपक का एक प्रकार) भी रचा था और भगवान् शिव के समक्ष उसका अभिनय हुआ था^६।

‘काम सूत्र’ में शिव का, केवल एक बार आदि के मंगल श्लोक में, उल्लेख किया गया है^७। इसमें कहा गया है कि भगवान् शिव के अनुचर नन्दी ने ब्रह्म द्वारा रचित एक बृहदाकार विश्वकोप के कामशास्त्र-सम्बन्धी भाग की व्याख्या की थी।

ईसा की प्रथम तीन शताब्दियों के हमें अनेक सिक्के भी मिलते हैं, जिनसे इस काल के भारत के राजनीतिक इतिहास की खोज में हमें अमूल्य सहायता मिली है। हमारे मतलब के लिए भी उनका वैसा ही मूल्य है जैसा कि उन प्राचीन सिक्कों का था, जिनकी चर्चा हम पहले कर आये हैं। इन सिक्कों से भी हमें तत्कालीन शैव-धर्म-सम्बन्धी अनेक प्रासंगिक उपसूचनाएँ मिलती हैं। ईसा का प्रथम शताब्दी के प्राचीन कुशान-राजाओं के सिक्के हैं। ‘वेम कैडफासिस’ के दो सोने के सिक्कों के पिछले भाग पर शिव का चित्र अंकित है^८। दोनों में शिव को खड़े हुए दिखाया गया है और उनके दक्षिण हाथ में त्रिशूल। पहले सिक्के में शिव का बाहन वृषभ उनके पास हा खड़ा हुआ दिखाया गया है। दूसरे सिक्के में त्रिशूल के अतिरिक्त भगवान् एक कमण्डल और व्याघ्रचर्म भी हाथ में लिये हुए हैं। दोनों में शिव द्विवाहु हैं। रामायण-महाभारत में शिव के जिस स्वरूप की

१. नाट्य-शास्त्र : १, १।

२. „ : १, ४५, २४, ५, १०।

३. „ : १, ४५।

४. „ : ४, १७ और आगे।

५. „ : १, ६०।

६. „ : ४, ५-१०।

७. कामसूत्र : मंगल श्लोक।

८. Lahore Museum Catalogue of Coins. (white head) Plate XVII,

Calcutta „ „ „ nos. 31, 33.

(Smith) P. 68, nos. 1-12.

कल्पना की गई थी, यह चित्र उसा का प्रतिरूप है। इसके अतिरिक्त इन सिक्कों पर जो लेख हैं, उनसे भी पता चलता है कि यह राजा शैवमतावलम्बी था; क्योंकि इनमें उसको 'महीश्वर' की उपाधि दी गई है। इसी राजा के ताँबे के सिक्कों पर भी सोने के सिक्कों के सदृश ही शिव का चित्र अंकित है; किन्तु इसकी विशेषता यह है कि इसके सिर के चारों ओर प्रकाशमण्डल विद्यमान है^३। इन सिक्कों के बाद हमें 'कनिष्ठ' के सिक्के मिलते हैं। इसके एक सोने के और अनेक ताँबे के सिक्कों की पीठ पर भगवान् शिव का चतुर्भुज चित्र अंकित है। यहाँ भी शिर के चारों ओर प्रकाश-मण्डल है, और चार हाथों में, त्रिशूल, डमरू, कमण्डल और पाश हैं^४। इस चित्र के साथ जो लेख है, वह यूनानी लिपि में है जिसे 'ohpo' पढ़ा जाता है और जिसका संस्कृत रूप 'ईश' होता है। कनिष्ठ के कुछ अन्य सिक्कों पर शिव के पास ही एक हिरन खड़ा हुआ दिखाया गया है^५। इसका संकेत सम्भवतः शिव के 'पशुपति' रूप की ओर है और हमें सिन्धु घाटी की उन मुद्राओं की याद दिलाता है, जिनके अधीभाग में पुरुष देवता की पीठिका के नीचे दो हिरन दिखाये गये हैं। कनिष्ठ के ही कुछ और सिक्कों पर द्विमुज शिव का चित्र भी है, जिनमें भगवान् एक हाथ में त्रिशूल और दूसरे में कमण्डल उठाये हुए हैं^६।

कनिष्ठ का उत्तराधिकारी हुविष्ट था, जिसका समय ईसा की पहली शती के अन्त में और दूसरी के शुरू में पड़ता है। इसके सिक्कों पर भी हमें इसी प्रकार के द्विमुज और चतुर्भुज शिव के चित्र मिलते हैं^७। यूनानी लिपि में उनपर भी वही लेख है। कुछ सिक्कों में हिरन फिर दिखाई देता है और शिव अपने हाथ उसके सींगों पर रखे हुए हैं^८। एक सिक्के पर शिव शशांक-भूषित है^९। इस चित्र को चन्द्रदेवता का चित्र माना जाता है; परन्तु इसपर जो लेख खुदा हुआ है, वह सम्भवतः वही है जो ऊपर के सिक्कों पर।

१.	Lahore Museum Catalogue of Coins : (white head)	Plate XVII,
		nos. 31, 33.
Calcutta	„ „ „	: (Smith) P. 68, nos. 1-12
२.	Lahore „ „ „	: (white head) Plate XVII, no. 36.
३.	„ „ „	: („ „) Plate XVII no. 65, Pl. XVIII, nos. 106-108.
Calcutta	„ „ „	: (Smith) P. 74, nos. 64-77.
४.	„ „ „	: („ „) P. 70, nos. 9-10.
५.	Lahore „ „ „	: (white head) Pl. XVIII, nos. 110-114.
६.	„ „ „	: (white head) Pl. XIX, nos. 150-52, 153-156.
७.	Calcutta „ „ „	: (Smith) P 78, nos. 16-17.
८.	„ „ „	: („ „) P. 80, no. 31.

अतः सम्भावना इस बात की अधिक है कि यह चित्र भगवान् शिव का ही है और यह उनका 'चन्द्रमौलि' रूप है। 'हुविष्ट' का एक दूसरा सिक्का एक समस्या है^१। इसपर चित्र तो लगभग वैसा ही है जैसा अन्य सिक्कों पर; परन्तु यहाँ शिव धनुर्धरी हैं और उनका मुख दाईं ओर सुड़ा हुआ है। सम्भवतः यह शिव के 'पिनाकी' रूप का चित्रण है; परन्तु इस सिक्के पर एक अरपष्ट लेख भी है। डॉ० रिमथ ने इस लेख को अनुमान करके 'गणेश' पढ़ा था। यदि यह पाठ निश्चित रूप से प्रामाणिक सिद्ध हो जाय, तो यह चित्र शिव और गणेश के प्रारम्भिक तावात्म्य का एक असंदिध्य प्रमाण हो जायगा। परन्तु जबतक लेख का पाठ निश्चित रूप से निर्धारित न किया जाय, इस विषय में कुछ और नहीं कहा जा सकता।

हुविष्ट का एक और सिक्का भी महत्त्व का है; क्योंकि इसमें पहली बार शिव की बहुमुख आकृति का चित्रण किया गया है^२। चित्र में शिव खड़े हुए हैं, उनका एक मुख सामने की ओर है और अन्य दो मुखों की पार्श्वाकृति दायें और बायें चित्रित है। इसको शिव के 'त्रिमूर्ति' रूप का चित्रण माना गया है। परन्तु यह चित्र शिव के चतुर्मुख रूप का चित्रण भी हो सकता है, जिसका उल्लेख महाभारत में अप्सरा तिलोक्तमा के प्रसंग में किया गया है। चौथा मुख चूँकि पीछे की ओर है, इसलिए वह अदृश्य है।

अपरकालीन कुशान राजाओं के सिक्कों में जो दूसरी और तीसरी शती के हैं, इनमें हम पहले हुविष्ट के उत्तराधिकारी वासुदेव के सिक्कों को ले सकते हैं। इनपर द्विमुज शिव का चित्र अंकित है और उसके सब वैसे ही लक्षण हैं, जैसे पुराने सिक्कों पर^३। एक सिक्के पर फिर शिव का बहुमुख चित्र दिखाई देता है^४, जो हुविष्ट के सिक्के के चित्र के समान ही है। वासुदेव के अन्य सिक्कों पर सिंहासनारूढ़ एक स्त्री देवता के चित्र भी पाये जाते हैं, जो अपने हाथों में वेशबन्ध और सीधी लिए हुई है^५। यह किस स्त्री देवता के चित्र हैं, इसका निर्णय अभी नहीं किया जा सकता।

वासुदेव के बाद 'कनेस्को' के सिक्के हैं, जो दूसरी शताब्दी के अन्त में राज करता था। हुविष्ट के सिक्कों-जैसा उसके सिक्कों पर भी द्विबाहु शिव का चित्र अंकित है^६। इसी राजा के कुछ अन्य सिक्कों पर यूनानी लिपि में 'ap Δoxpq' यह लेख मिलता

१. Calcutta Museum Catalogue of Coins : (Smith) P. 80, no. 46.

२. " " " : (,,) P. 78 no. 15.

३. " " " : (,,) P. 84 f. nos.

1-34.

" Lahore " " : (white head) Pl. XIX. nos.

209-226.

४. " " " : (,,) Pl. XX, no. 11.

५. " " " : (,,) Pl. XIX, nos.

227-230.

६. " " " : (,,) Pl. XIX, nos.

231-235.

है^१। इसका संस्कृत रूपान्तर 'अर्धाक्ष' किया जा सकता है; परन्तु इस शब्द का अर्थ पूर्ण स्पष्ट नहीं होता।

इसके उपरान्त ईसा की तीसरी शती में कुशान राजा सासानी वसु के सिक्के मिलते हैं। उनके सिक्कों पर भी स्त्री देवता के चित्र अंकित हैं, और यूनानी लिपि का लेख कुछ अधिक पूर्ण 'ap△oxpq' है^२। वसु के उत्तराधिकारी वासुदेव के सिक्कों पर फिर द्विवाहु शिव का चित्र अंकित है, और लेख भी वही परिचित 'ohpo' है^३। अन्त में 'होगमोज्ज्व' द्वितीय और बराहन के सिक्कों पर शिव का वृषभ सहित चित्र अंकित है।

इस प्रकार इन सिक्कों से पता चलता है कि ईसा का पहली तीन शताब्दियों में शैवधर्म सारे उत्तर भारत में फैला हुआ था। शिव के जो चित्र इन सिक्कों पर अंकित हैं, उनसे ज्ञात होता है कि शिव के स्वरूप में रामायण-महाभारत से लेकर तबतक कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था।

अब हम ईसा की चौथी शती में आते हैं, जब उत्तर भारत में गुप्त साम्राज्य की नींव पड़ी। इस समय के साहित्यिक अभिलेख और शिलालेख हमें प्रचुर मात्रा में मिलते हैं, और उनसे तत्कालीन शैवधर्म का हमें अच्छा ज्ञान प्राप्त हो जाता है। समुद्रगुप्त-कालीन प्रश्नाग के अशोक-स्तम्भ पर हरिषेण की प्रशस्ति में गंगावतरण की कथा का उल्लेख किया गया है^४। शिव को यहाँ पशुपति कहा गया है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय की उदयगिरि गुफा के शिलालेख में, उस गुफा का एक शैव-भक्त द्वारा संन्यासियों (सम्भवतः शैव) के विश्राम के लिए समर्पित किये जाने की चर्चा है^५। इसी शिला-लेख में यह भी कहा गया है कि गुफा के समर्पण समारोह के अवसर पर स्वयं चन्द्रगुप्त समर्पण-कर्ता के साथ गये थे। इससे पता चलता है कि चन्द्रगुप्त शैवों को अपना संरक्षण प्रदान करते थे, यद्यपि वह स्वयं शायद वैष्णव थे; दर्योकि 'गढवा'-शिलालेख में उनको 'परम भागवत' कहा गया है^६। साँची शिलालेख में इसी समाट् की शिलालेख के लिखनेवाले 'अमरकदेव' का संरक्षक कहा गया है, जो सम्भवतः बौद्ध था। इससे ज्ञात होता है कि यद्यपि समाट्-चन्द्रगुप्त स्वयं वैष्णव थे, फिर भी वह अन्य मतों का भी संरक्षण करते थे। धार्मिक सहिष्णुता और उदार दृष्टिकोण की यह प्रथा आगे चलकर एक सामान्य प्रथा हो गई और अधिकांश भारतीय नरेशों ने अपनी धार्मिक नीति में इसीका अनुसरण किया। चन्द्रगुप्त ईसा की चौथी शती के उत्तर भाग में राज करते थे। उनके बाद पाँचवीं शती के आरम्भ

-
१. Calcutta Museum Catalogue of Coins : (Smith) : P. 88, nos. 5-8.
 २. Lahore , , , : (white head) : Pl. XIX,
: no. 236.
 ३. , , , , , : Pl. XIX,
nos. 238-239.
 ४. C. I. I. : Pl. I, p. 1.
 ५. „ „ : Pl. II, b. p. 21.
 ६. „ „ : Pl. IV, b. p. 36.

में उनके पुत्र कुमारगुप्त गदी पर बैठे। इनको भी 'गढवा' और 'विलसाड़' के शिलालेखों में 'परम भागवत' की उपाधि दी गई है^१। इससे प्रतीत होता है कि अपने पिता के समान यह भी वैष्णव थे और अपने पिता के समान ही सब धर्मों के संरक्षक बने रहे। मानकुंवर शिलालेख में एक बौद्ध भिजु बुधमित्र ने बड़े सम्मान से सम्राट् कुमारगुप्त का नाम लिया है^२। परन्तु कुमारगुप्त के शिलालेखों में शिव अथवा शैव-धर्म के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता।

चन्द्रगुप्त द्वितीय और कुमारगुप्त के राज्यकाल में ही कविवर कालिदास भी हुए थे। उनकी कृतियों से यह स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है कि ईसा की पहली चार शताब्दियों में शैव-धर्म ने कहाँ तक प्रगति की थी। उनके काव्यों के आदि मङ्गल श्लोकों में और नाटकों की नान्दियों में भगवान् शिव की ही स्तुति की गई है। इससे पता चलता है कि वह स्वयं शैव थे। इन्हीं पद्यों से शिव के विकसित स्वरूप का भी ज्ञान होता है। इनमें सबसे छोटा पद रघुवंश में है^३। यहाँ शिव, जिनको 'परमेश्वर' कहा गया है, और पार्वती की इकट्ठी स्तुति की गई है। वे जगत् के माता-पिता हैं और इस प्रकार एक दूसरे से संसक्त हैं जैसे शब्द और अर्थ। जैसा कि आगे चलकर हम देखेंगे, शिव का यह स्वरूप विलकूल वही है जिसकी व्याख्या बाद में शैव सिद्धान्त-दर्शन में की गई है। 'विक्रमोर्वशी' नाम के रूपक की नान्दी में उन्होंने भगवान् शिव को एक पुरुष के रूप में देखा है। वह वेदान्त का ब्रह्म भी है तथा पृथ्वी और द्युमें व्यास है, जिसको मोक्षाभिलाषी ध्यान तथा योग के साथनों से पाने की चेष्टा करते हैं; परन्तु भक्ति के योग द्वारा जिनको सहज ही जाना जा सकता है^४। यहाँ वेदान्त का उल्लेख महत्वपूर्ण है; क्योंकि यह एक बार फिर इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि एकेश्वरवादी शैव-धर्म वेदान्त के सिद्धान्तों के अधिक अनुकूल था, न कि सांख्य के, जिसके साथ उसका प्रारम्भ में सम्बन्ध था। 'मालविकाग्निमित्र' और 'शाकुन्तल' नाटकों की नान्दियों में कवि ने शिव के आठ प्रत्यक्ष रूपों का उल्लेख किया है, जिनमें वह स्वयं को अभिव्यक्त कहते हैं। ये हैं—पंचमहाभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश), सूर्य, चन्द्रमा और होता। तदनन्तर शिव की इस अष्टमूर्ति का उल्लेख धार्मिक और लौकिक साहित्य में अनेक बार होता है।

शैव-धर्म के लोकप्रचलित रूप का चित्र हमें 'कुमार-सम्भव' और 'मेघदूत' काव्यों में भी मिलता है। 'कुमार-सम्भव' में शिव-पार्वती-परिणय, मदन-दहन और स्कन्द-जन्म की कथा अपने पूर्ण विकसित रूप में दिखाई देती है और कवि ने उनको लेकर एक महाकाव्य की रचना की है। इस महाकाव्य में सबसे सुन्दर ढंग से भगवान् शिव के उस लोकप्रिय स्वरूप का चित्रण किया गया है, जिसमें वह पार्वती सहित कैलास पर्वत पर शाश्वत परम

१. C. I. I. : Pl. IV. c. p. 36.

२. „ : Pl. VI. a. p. 45.

३. रघुवंश : १, १।

४. विक्रमोर्वशी : १, १।

५. शाकुन्तल : १, १; मालविकाग्निमित्र : १, १।

आनन्द की अवस्था में निवास करते हैं। 'मेघदूत' में शिव को कैलास-निवासी^१ कहने के साथ अति उग्र अथवा 'भैरव' रूप में उनके ताएँडव नृत्य करने की भी चर्चा की गई है^२। इसके साथ-साथ इस काव्य में शिव की उपासना किस प्रकार की जाती थी, इसकी भी एक फलक मिल जाती है। उज्जयिनी में महाकाल नाम से शिव का एक प्रख्यात मन्दिर था^३। इस मन्दिर को उज्जयिनी की प्रमुख विभूति माना गया है। इसी से पता चलता है कि यह एक बड़ा प्रसिद्ध मन्दिर था। इसमें प्रतिदिन सन्ध्या के समय भगवान् शिव की आरती होती थी। इसी प्रसंग में यहाँ एक प्रचलित प्रथा का भी कवि ने उल्लेख किया है, जिसको हमें ध्यान में रखना चाहिए। सन्ध्या की आरती के समय मन्दिर में वारविलासिनियाँ आकर नृत्य करती थीं। इन्हीं के ऊपर अपनी शीतल फुहार बरसाने और इसके पुरस्कार-स्वरूप उनकी कृतज्ञता-भरी दृष्टियों का सुख उठाने के लिए यह ने मेघ से उज्जयिनी के ऊपर सन्ध्या समय तक रुके रहने को कहा था^४। शिव-मन्दिर में वारविलासिनियों के इस नृत्य के उल्लेख का यह अभिप्राय नहीं है कि यह अवश्य ही 'देवदासी' प्रथा का एक उदाहरण है, जैसा कि कुछ लोगों की धारणा है। इन नर्तकियों का मन्दिर के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था। वे नगर की साधारण गणिकाएँ थीं। कामसूत्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन गणिकाओं का, उस समय के समाज में, एक सुनिश्चित स्थान था, जिसको किसी प्रकार भी निकृष्ट नहीं कहा जा सकता था। इन गणिकाओं का एक कार्य यह भी था कि वे मन्दिरों और अन्य सार्वजनिक स्थानों पर जनता के मनोरंजन के लिए अपनी नृत्य-कला का प्रदर्शन करें। प्राचीन भारत में इस प्रथा का सारे देश में बहुत प्रचार था। अतः अधिक सम्भावना इस बात की है कि 'मेघदूत' के इस उल्लेख का संकेत इस प्रथा की ओर है; न कि 'देवदासियों' के धार्मिक नृत्य की ओर, जिसका स्वरूप बिलकुल भिन्न था।

कालिदास के ग्रन्थों और गुप्तवंश के पहले दो तीन राजाओं के शिलालेखों के समय तक पौराणिक युग प्रारम्भ हो चुका था। परन्तु हमारे अध्ययन का क्रम न टूटने पाये और इसलिए भी कि पौराणिक युग छठा शताब्दी के अन्त तक चलता है, हम पहले गुप्त-कालीन अन्य अभिलेखों का अध्ययन समाप्त कर लेते हैं। इसके बाद हम पुराणों का अवलोकन प्रारम्भ करेंगे। समाट् 'कुमारगुप्त' के उत्तराधिकारी 'स्कन्दगुप्त' के समय के विहार-शिलालेख में मातृकाओं का फिर उल्लेख किया गया है और पहली बार उनका स्कन्द के साथ साहचर्य किया गया है^५। इन मातृकाओं का 'मृच्छकटिक' में उल्लेख है। सम्मवतः ये स्थानीय देवता थीं, जिनकी उपासना का ब्राह्मण-धर्म में समावेश हो गया था। इनका स्कन्द के साथ साहचर्य कसे हुआ, इसका निश्चित रूप से पता नहीं चलता।

१. उत्तर मेघ : १०-२।
२. पूर्व मेघ : ३६।
३. पूर्व मेघ० : ३४।
४. पूर्व मेघ० : ३५।
५. C. I. I. : Pl. VI. b. p. 47.

सम्भव है कि इनका उन कृतिकाओं के साथ तादात्म्य कर दिया गया हो, जिनको स्कन्द-जन्म की कथा में नवजात स्कन्द को पाने और उसे पालने का श्रेय दिया गया है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि इन कृतिकाओं की संख्या छः थी; परन्तु ये मातृकाएँ सात हैं। इसलिए इनके तादात्म्य के लिए हमारे पास कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। परन्तु, मातृ-काओं का स्कन्द के साथ साहचर्य चाहे जैसे भी हुआ हो, वह साहचर्य स्थायी हो गया और बाद में स्कन्द की उपासना का एक प्रमुख अंग बन गया।

स्कन्दगुप्त के समय के बाद हमें छठी शताब्दी में 'मंडासोर'-स्तम्भ पर 'यशोधर्म' का लेख मिलता है। इसके आदि में जो मंगल श्लोक है, उसमें शिव की स्तुति की गई है। यहाँ भयावह और शक्तिशाली देवता के रूप में शिव की कल्पना की गई है, जिसके प्रचारण सिंहनाद से दानवों के दिल दहल जाते हैं। मंडासोर स्थान पर ही इसी राजा का एक शिलालेख भी मिलता है। इसमें शिव के सौभ्य रूप का ध्यान किया गया है और उनको 'शम्भु' कहा गया है। उनको देवाधिदेव माना गया है। उन्हीं के आदेश से ब्रह्मा विश्व के सूजन, पालन और संहार का क्रम चलाते हैं और इसी कारण परमपिता का पद पाते हैं।

इस समय के अन्य अभिलेखों से कोई और महत्व की बात पता नहीं लगती। अतः अब हम पुराणों का अवलोकन प्रारम्भ करते हैं।

उपनिषदों के समय से भारतीय धार्मिक विश्वासों और आचार-विचार में जो एक नई धारा चली थी तथा जिसके प्रमुख अंग ध्यान और भक्ति थे, उसका पूर्ण विकास पुराणों के समय में हुआ। जिस रूप में पुराण-ग्रन्थ आजकल हमें मिलते हैं, वे बहुविषयक हैं। उनमें विषय, विचार और शैली की ही विविधता नहीं है, अपितु समय की भी विविधता है। उनका रचना-काल एक काफी लम्बे अरसे के वितान पर फैला हुआ है। पुराण-साहित्य स्वतः काफी प्राचीन है और अथर्ववेद तक में पुराण एवं इतिहास का उल्लेख किया गया है। यह माना जा सकता है कि उत्तर वैदिक काल में और रामायण-महाभारत के युग में तथा उसके बाद भी बरावर पुराणों की रचना होती रही है, जिनमें ऐतिहासिक विषयों अथवा यों कहना चाहिए कि राजवंश-सम्बन्धी ऐतिहासिक विवरणों का संग्रह रहता था। आजकल जो पुराण-ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे अधिकांश पूर्वकालीन पुराण-ग्रन्थों के ही नवनिर्मित संरकरण हैं; परन्तु उनमें बहुत सी नई बातों का भी समावेश कर दिया गया है, जिनका सम्बन्ध समकालीन धार्मिक व्यवस्था और देवकथाओं से है। तथ्य तो यह है कि इन ग्रन्थों में इस नई सामग्री की मात्रा इतनी अधिक है कि इसके कारण पुराणों का प्राचीन ग्रन्थों का प्रायः लोप ही हो गया है। अधिकांश पाठकों के लिए वह शुद्ध रूप से धार्मिक आदेश-ग्रन्थ हैं। जो लोग किसी कारण वैदिक साहित्य का परिचय प्राप्त करने से अवैध हैं, उनके लिए तो यह पुराण ग्रन्थ ही श्रुतिसमान माने जाते हैं। अतः भारतीय धर्म के किसी भी अध्येता के लिए इन ग्रन्थों का अध्ययन अनिवार्य है। एक-आध ग्रन्थ को छोड़कर लगभग समस्त वड़े पुराणों—जो आजकल उपलब्ध हैं—की रचना ईसा की चौथी से छठी शती तक ही गई थी। अतः इन ग्रन्थों में धार्मिक विश्वासों और आचार-

विचारों का जो चित्र हमें दिखाई देता है, वह इसी समय का है। उससे यह पता लगता है कि रामायण-महाभारत काल से लेकर तबतक इनमें कितना विकास हुआ था।

पुराणों में हमें वेदोत्तर-कालीन शैव धर्म का पूर्ण विकसित रूप दिखाई देता है। रामायण-महाभारत में जो कुछ निहित था, वह अब व्यक्त हो गया है और जिसका वहाँ संकेत मात्र था, उसका अब अधिक विस्तृत विवरण दिया गया है। रामायण-महाभारत के समान ही पुराणों में भी शैव धर्म के दो स्पष्ट रूप हैं—दार्शनिक और लोक-प्रचलित। रामायण-महाभारत की तरह ही यहाँ भी इन दोनों का अलग-अलग अध्ययन हमारे लिए अधिक सुविधाजनक होगा।

शैव धर्म के दार्शनिक रूप की सबसे प्रमुख बात शिव का पद है। उनको अब स्पष्ट रूप से परम मुरुप अथवा परब्रह्म माना जाता है, और किसी देवता को नहीं। केवल वही एक स्थान है, विश्व के आदि कारण है, और उन्हीं की महिमा का चारों वेदों में गान किया गया है^१। वह दार्शनिकों के ब्रह्म है, आत्मा है, असीम है और शाश्वत है^२। वह अव्यक्त भी है और जीवात्मा के रूप में व्यक्त भी है^३। वह एक आदि पुरुष है, आत्मतत्त्व है, परमसत्य है और उपनिषदों तथा वेदान्त में उनकी ही महिमा का गान किया गया है^४। स्मृति, पुराण और आगम भी उन्हीं की महिमा गाते हैं^५। जो बुद्धिमान और मोक्षाकामी हैं, वे सब-कुछ छोड़कर इन्हीं का ध्यान करते हैं^६। वह सर्वज्ञ है, सर्वस्थित है, चराचर के स्वामी हैं और सब प्राणियों में आत्मरूप से बसते हैं^७। वह एक स्वयंभू है, जो विश्व का स्वजन, पालन और संहार करने के कारण तीन रूप धारण करते हैं^८। वह विश्व में व्याप्त हैं और साररूप से एक होते हुए भी अपने-आपको अनेक रूपों में अभिव्यक्त करते हैं^९।

शिव के स्वरूप के उपर्युक्त वर्णन से रपष्ट हो जाता है कि इस समय तक शैवधर्म निश्चित रूप से एकेश्वरवादी हो गया था, अर्थात् वह केवल एक ही देवता की उपासना का प्रचार करता था। अन्य देवताओं को देवकथाओं में भले ही मान्यता दी जाती हो, उपासना में उनके लिए कोई स्थान नहीं था। अब शैव-धर्म के साथ-साथ वैष्णव धर्म का भी इसी ढंग पर विकास हो रहा था। पुराणों में वैष्णवों ने विष्णु को भी विलकुल

१. सौ० : ७, ३०; ३८, १; ३८, ६०; लिंग० २१, १६; अर्णि० ८, ब्रह्म० १, २६;
मर्त्य० : १३२, २७; १५४, २६०-२७०; वायु० ५४, १०० इत्यादि।

२. लिंग० : भाग २, २१, ४६, वायु० ५५, ३ गल० १३, ६-७ इत्यादि।

३. वायु० : २४, ७१; ५४, ७४; अर्णि० ७४, ८२ इत्यादि।

४. सौ० : २६, ३१; ब्रह्म० १२३, ११६ इत्यादि।

५. सौ० : ३८, ६१-६२; ब्रह्म० ३६, ३६ इत्यादि।

६. सौ० : २, ८३; ब्रह्म० ११०, १०० इत्यादि।

७. वायु० : ३०, २८३-८४ इत्यादि।

८. वायु० : ६६, १०८; लिंग० भाग १, १, १ इत्यादि।

९. सौ० : २, २ इत्यादि।

वही पद दिया है जो शैवों ने शिव को दिया था। इस स्थिति और रामायण-महाभारत काल की धार्मिक स्थिति में केवल इतना ही अन्तर है कि अब विष्णु और शिव के उपासक अपने-अपने धर्म में, अपने आराध्यदेव के सिवा और किसी देवता को मान्यता देना या कम से कम उसे सर्वश्रेष्ठ मानना, अपने एकेश्वरवादी सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं समझते थे। ऐसी अवस्था में पहुँच जाने पर अब उनके लिए केवल दो ही मार्ग थे। एक मार्ग था (जो त्वभावतः उन्हें पहले सूक्षा होगा) कि प्रत्येक दल केवल अपने आराध्यदेव को ही एक ईश्वर माने और अपने धर्म को ही सच्चा धर्म समझे। दूसरा मार्ग, जो अधिक सत्य और अधिक बुद्धिमत्ता का भी था, वह इस तथ्य को पहचानना था कि इन दोनों देवताओं के उपासक वास्तव में एक ही देवता की उपासना करते थे, और इनके अपने-अपने आराध्य-देव उस एक ईश्वर के दो रूप थे अथवा उनके दो नाम थे। पुराणों से पता चलता है कि इन दोनों दलों में जो बुद्धिमान् और विचारशील थे, उन्होंने इस दूसरे मार्ग को ही अपनाया। विष्णु और शिव की एकता पर सभी वडे पुराणों में प्रायः जोर दिया गया है, अपनाया। विष्णु और शिव की स्पष्ट रूप से विष्णु से अभिन्न माना गया है^१ और अनेक स्थलों पर पत्न का है, शिव को स्पष्ट रूप से विष्णु से अभिन्न माना गया है^२ या उनको विष्णु की विशिष्ट या तो उनको विष्णु के नाम दिये गये हैं (जैसे 'नारायण')^३, या उनको विष्णु की विशिष्ट उपाधियाँ दी गई हैं (जैसे 'लक्ष्मीपति')^४। सौर पुराण भी शैव पक्ष का है और उसमें उपाधियाँ दी गई हैं^५। वैष्णवपक्ष के स्पष्ट रूप से कहा गया है कि विष्णु और शिव में कोई अन्तर नहीं है^६। वैष्णवपक्ष के पुराणों में भी यही बात दीखती है। उदाहरणार्थ पुराण में शिव को 'विष्णुरूपिन्' कहा गया है और विष्णु को प्रायः 'रुद्रमूर्ति' कहा जाता है^७। ब्रह्म पुराण में स्वयं विष्णु कहा गया है और विष्णु को प्रायः 'रुद्रमूर्ति' कहा जाता है^८। एक दूसरी जगह उल्लेख को 'पिनाकधृक्' कहा गया है, जो शिव की विशिष्ट उपाधि है^९। एक दूसरी जगह उल्लेख है कि दोनों एक ही हैं^{१०}। 'वराह पुराण' में शिव और विष्णु का एक-सा रूप है^{११} और कहा गया है कि वे तो युग में विष्णु ने शिव का रूप धारण किया था^{१२}। एक अन्य

-
१. वायुः : २५, २१ और आगे।
 २. , : ५४, ७७।
 ३. , : २४, ११।
 ४. सौरः : २४, ६८।
 ५. मत्स्यः : १५४, ७; २४६, ३८; २५०, ३०।
 ६. ब्रह्मः : २०६, ४७।
 ७. विष्णुः : ८, २१।
 ८. , : ६, ६८।
 ९. , : ३३, ४७-४८।
 १०. वराहः : ६, ७।
 ११. , : १०, १६।

स्थल पर मिलता है कि परमपुरुष को विष्णु भी कहा जाता है और शिव भी^१, तथा दार्शनिकों के अव्यक्त को उमा या श्री^२। दूसरी ओर शिव को परमपुरुष माना गया है और विष्णु से उनका तादात्म्य किया गया है^३। इसी प्रकार अन्य पुराणों में भी है। इन दो देवताओं के इस तादात्म्य के कारण और इसलिए भी कि शैव और वैष्णव मत दोनों नये ब्राह्मण धर्म के दो अंग थे और उनके मुख्य लक्षण एक-से ही थे। ये दोनों स्वतन्त्र धर्म न रह कर, एक ही धर्म के दो सम्प्रदाय हो गये। इन दोनों देवताओं के तादात्म्य के फलस्वरूप जनसाधारण में भी सब धर्मों का आदर करने और उनके श्रेष्ठांश ग्रहण करने की भावना का जन्म हुआ, जो उस समय से देश के धार्मिक जीवन का एक प्रमुख लक्षण बन जाती है। सामान्य भाव से जनसाधारण विष्णु और शिव की उपासना में कोई भारी अन्तर नहीं करते थे और नृपतिगण साधारणतया दोनों मतों को अपना संरक्षण प्रदान करते थे। अन्त में विष्णु और शिव के इस तादात्म्य को समझ जाने के फलस्वरूप ही, हम यह भी देखते हैं कि कभी-कभी एक की मूर्ति सामने रखकर दूसरे देवता की उपासना की जाती थी^४।

इस एकेश्वरवादी विचारधारा की स्वभावतः विष्णु और शिव की अभिन्नता स्थापित करके ही इति नहीं हुई, न हो सकती थी। यदि एकेश्वरवाद को सार्थक होना था तो त्रिमूर्ति के तीसरे देवता ब्रह्मा को इसी ऐक्य के अन्तर्गत करना आवश्यक था। दूसरे शब्दों में इस त्रिमूर्ति को एकमूर्ति बनाना था। इस प्रक्रिया का भी प्रारम्भ तो महाभारत काल में ही हो गया था, जहाँ हमने देखा है कि एक बार ब्रह्मा और विष्णु को शिव के पाश्वों में से निकलते हुए कहा गया है, जिससे यह पता चलता है कि ये दोनों शिव के अन्दर ही समाविष्ट माने जाते थे। ऐसी धारणा उस समय भी अवश्य रही होगी। इसी से त्रिमूर्ति की कल्पना का जन्म हुआ, जिसमें अन्य दो देवताओं को शिव की अभिव्यक्ति माना जाने लगा। पुराणों के समय तक त्रिमूर्ति के पीछे इस एकता की भावना पूर्णरूप से विकसित और मान्य हो चुकी थी। इसका संकेत पहले तो इस बात से मिलता है कि बहुधा तीनों देवताओं के लक्षण एक ही देवता को दे दिये जाते हैं। उदाहरणार्थ जैसा हम अभी ऊपर देख आये हैं, शिव को विश्व का स्थान, पालक और संहर्ता तीनों माना गया है जबकि प्रारम्भ में ये ब्रह्मा, विष्णु और शिव के कार्य थे^५। अन्य स्थलों पर विष्णु का इसी प्रकार वर्णन किया गया है। दूसरे कुछ स्थलों पर इन तीनों देवताओं की अभिन्नता पर स्पष्ट रूप से जोर दिया गया है। उदाहरणार्थ 'वायु पुराण' में कहा गया है कि केवल अज्ञानवश ही लोग ब्रह्मा, विष्णु और शिव में भेद करते हैं। वास्तव में वह एक ही परमात्मा है जो इन तीनों रूपों में व्यक्त ही, लोगों को भ्रम में डालता है और जिसकी एकता वेदों, धर्मशास्त्र और

१. वराह० : २५, ४।

२. „ : २५, ४।

३. „ : २५, १६।

४. इस प्रथा के उल्लेख कुछ बाद के पुराणों में मिलते हैं, जैसे—गङ्गा० ७, ५२।

५. इसके अन्य उदाहरणों के लिए देखिए—ब्रह्म० १२६, ८।

शैव धर्म

१०३

अन्य पुण्य ग्रन्थों में मानी गई है। 'सौर पुराण' में शिव को एक देवता माना गया है जो ब्रह्मा और विष्णु के रूप में व्यक्त होते हैं। वराह पुराण के एक संदर्भ में भी इसी विचार को लेकर कहा गया है कि शिव के शरीर में ब्रह्मा और हृदय में विष्णु का वास है।

शैव धर्म के दार्शनिक रूप के अन्य लक्षण जो हमने रामायण-महाभारत में देखे थे, वे पुराणों में भी पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, आत्म-संयम और तपश्चर्या करनेवालों के ध्यान का विषय होने के नाते, शिव का योग से घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनको स्वयं 'महायोगी'^१ और योग-विद्या का प्रमुख आचार्य^२ माना जाता है। इसके अतिरिक्त इस समय तक शिव की उपासना के सम्बन्ध में योगाभ्यास की एक विशेष विधि का भी विकास हो गया था, जिसे 'माहेश्वर योग' कहा जाता था। इसका वर्णन सौर^३ और वायु^४ पुराणों में किया गया है। इसी रूप में शिव को 'यती' आत्मसंयमी, 'ब्रह्मचारी'^५ और 'ऊर्ध्वरेता'^६ भी कहा गया है। इसी कारण वह योगाभ्यासियों के लिए एक आदर्श भी है। सांख्य के साथ उनके प्राचीन सम्बन्ध की स्मृति भी पुराणों में है। उदाहरणार्थ, जैसा कि महाभारत में है, यहाँ भी उनको सांख्य, सांख्यात्मा^७ और सांख्य का उद्भव^८ कहा गया है। वह सांख्य के पुरुष हैं जिन्हें जान कर लोग सुक्ति प्राप्त करते हैं^{९ ३}। परन्तु यह उल्लेख केवल एक प्राचीन कल्पना की स्मृति मात्र है; क्योंकि इस समय तक शिव का सांख्य दर्शन से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था। वह दर्शन तो शैव-धर्म से अलग बिलकुल एक भिन्न मार्ग पर चल रहा था और इस समय तक लगभग अनीश्वरवादी हो गया था। यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि जिस स्थल पर सांख्यवादियों को पुरुष रूप में शिव का ध्यान करते हुए कहा गया है, वहाँ उन लोगों को 'मौलिक सांख्य' कहा गया है, अर्थात् यहाँ संकेत उन प्राचीन सांख्यवादियों की ओर है जो परमपुरुष की एकता और प्रकृति की अनेकता को मानते थे, न कि आधुनिक सांख्यवादियों की ओर, जिन्होंने प्रकृति की एकता और पुरुषों की अनेकता के सिद्धान्त को अपनाया था।

पुराणों में शैवधर्म के दार्शनिक रूप के एक और लक्षण का भी विकास दिखाई देता

१. वायु० : ८६, १०६-१६ इत्यादि।
२. सौर० : २, ४; २३, ५३।
३. वराह० : ७१, २-७।
४. वायु० : २४, १५६ इत्यादि।
५. ब्रह्मवै० : भाग १, ३, २०; ६, ४ इत्यादि।
६. सौर० : अध्याय १२।
७. वायु० : अध्याय १०।
८. मर्त्य० : ४७, १३८; वायु० १७, १६६।
९. , : ४७, १३८; १३२, ३६; वायु० २४, १६२।
१०. , : ४७, १४६; वायु० १०, ६४; २४, १३४; ब्रह्माण्ड० ८, ८८।
११. ब्रह्म० : ४०, ३७; वायु० ५४, ७४, इत्यादि।
१२. वायु० : २४, ६५।
१३. , : २४, १६३।

है जो बाद में बड़ा महत्वपूर्ण हो गया। वह था—शिव के साहचर्य में उनकी पत्नी के दार्शनिक रूप का विकास। उपनिषदों में हमने एक परम पुरुष और उसकी प्रकृति अथवा माया का परिचय पाया था जिसके द्वारा वह सृष्टि का कार्य सम्पन्न करता है। इन्हीं उपनिषदों में हमने इस पुरुष का शिव के साथ तादात्म्य होते भी देखा था। अतः जब देवी के उपासकों ने अपनी उपासना के लिए दार्शनिक आधार की खोज प्रारम्भ की, तब स्वभावतः उन्होंने इस देवी का इस औपनिषदिक प्रकृति अथवा माया से तादात्म्य कर दिया और इस प्रकार शिव तथा शक्ति की सहोपासना के दार्शनिक आधार की नींव डाली, जिसकी पूर्ण भित्ति शैव सिद्धान्त में जाकर खड़ी हुई। देवी को इस प्रकार शिव की शक्ति मानने की स्थिति लगभग सब पुराणों में पाई जाती है। उदाहरणार्थ—‘सौर पुराण’ में उनको शिव की ‘ज्ञानमयी शक्ति’ कहा गया है^१, जिसके साथ और जिसके द्वारा वे सृष्टि को रचते हैं तथा अन्त में उसका संहार करते हैं। यह शक्ति शिव के इस कार्य में विभिन्न अवसरों में विभिन्न रूप धारण करती है^२। एक अन्य स्थल पर उनको ‘परा’ अथवा ‘परमशक्ति’ कहा गया है, जो सर्वत्र व्याप्त है और जो ‘मायिन्’ महेश्वर की ‘माया’ है^३। शिव की शक्ति अथवा माया के रूप में वह वास्तव में शिव से भिन्न नहीं है। इन दोनों के सारलुपेण इस अमेद को भी स्पष्ट कर दिया गया है^४। जो अज्ञानी हैं, वे ही इनमें भेद करते हैं, न कि जो सत्य को जानते हैं। उनका परस्पर सम्बन्ध ऐसा ही है जैसा अग्नि और उसकी ज्वलन शक्ति का। एक स्थल पर स्वयं पार्वती ने अपने-आपको शिव से अभिन्न बताया है^५ और यह भी कहा है कि उन दोनों की एकता वेदान्त के अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है। वेदान्त का उल्लेख यहाँ फिर महत्वपूर्ण हो जाता है; वर्णकि इससे पता चलता है कि देवी की उपासना का विकास भी एकेश्वरवादी वेदान्त-सिद्धान्तों के अनुकूल ही हो रहा था।

अपने लोक-प्रचलित रूप में शैवधर्म सारभाव से अब भी वैसा ही था जैसा कि रामायण-महाभारत काल में। केवल उसका एक अधिक विस्तृत चित्र हमें दिखाई देता है और अनेक बातें जो उस समय बीजरूप में ही थीं, अब विकसित और स्पष्ट हो जाती हैं। शिव और पार्वती की सहोपासना ही अब भी शैवधर्म के लोक-प्रचलित रूप का सबसे प्रमुख अंग है। शिव का स्वरूप भी वैसा ही है जैसा कि रामायण-महाभारत काल में था, अन्तर केवल इतना ही है कि शैवधर्म के अधिक स्पष्ट रूप से एकेश्वरवादी हो जाने के फलस्वरूप अब शिव की सर्वश्रेष्ठता और उनके ‘एकोहं न द्वितीयः’ भाव पर अधिक जोर दिया जाता है। उनको एकेश्वर, सर्वप्रभु माना जाता है और उन्हें ‘महेश्वर’, ‘महादेव’ और ‘देवदेव’ कहा जाता है^६। मामूल के मुताबिक उनकी एक कृपालु और कल्याणकारी देवता के रूप में

१. सौर० : २, १६।
२. „ : २, १८; ५५, ८, १४।
३. „ : २, १४, १६।
४. „ : २, १७।
५. „ : २, १८-१९।
६. „ : ५५, ७।
७. मर्त्य० : १३६, ५; सौर० ७, १७; ३८, १; ३८, १४।

कल्पना की जाती है, जिनकी दया से भक्तजन मोक्ष को प्राप्त होते हैं। भक्ति की भक्ति पर बहुत अधिक जोर दिया जाता है; क्योंकि भगवान् को प्रसन्न करने और उनसे वरदान पाने का वही एक मात्र उपाय है^१। कोई कितना भी बाह्य आडम्बर करे, अध्ययन करे अथवा तर्क करे, भक्ति के बिना यह सब व्यर्थ है। भक्ति के महत्व को यहाँ तक बढ़ाया है कि एक स्थल पर तो स्पष्ट कह दिया गया है कि भगवान् के सूक्ष्म रूप को तो केवल भक्त ही देख सकता है। देवता और साधारण मानव तो केवल उनके स्थूल रूप के ही दर्शन कर पाते हैं^२। इसी रूप में शिव को सदाचार का देवता भी माना गया है, जो प्राणिमात्र के कृत्यों को देखते रहते हैं और देवताओं अथवा मानवों में जो कोई भी मर्यादा का उल्लंघन करता है अथवा कोई पाप करता है, उसी को दण्ड देते हैं। शिव का यह रूप बड़ा प्राचीन है और 'ऐतरेय ब्राह्मण' में हमने इसकी पहली फलक देखी थी। रामायण-महाभारत में यह कुछ स्पष्ट नहीं है; परन्तु पुराणों में इस रूप का विस्तृत वर्णन किया गया है और 'सोम' तथा 'तारा' की कथा इसी के उदाहरणस्वरूप दी गई है। ऐतरेय ब्राह्मणवाली प्रजापति के पाप की कथा के समान यहाँ भी, जो सोम के अतिक्रमण से कुपित हो, उसको यथोचित दण्ड देने वाले शिव ही हैं। अन्य देवताओं में यह सामर्थ्य नहीं है^३।

शिव के साहचर्य में पार्वती के गुण भी वैसे ही हो जाते हैं। रामायण-महाभारत के समान यहाँ भी, उनकी एक सौम्य और दयाशील स्त्री देवता के रूप में कल्पना की गई है, जिनका सारा विश्व सत्कार करता है और जिनके अनुग्रह के लिए प्रार्थना करता है^४। एक नई बात जो उनके स्वरूप में हमें पुराणों में दिखाई देती है—जो सभ्वतः शिव के सहचरी का रूप और महादेवी रूप के परस्पर प्रभाव का फल था—वह है, उनके स्वरूप का सौम्यीकरण। इस प्रक्रिया का प्रारम्भ तो हम रामायण-महाभारत में ही देख चुके हैं, जब शिव की सहचरी के रूप में उनको 'देवी', 'महादेव' और 'देवकन्या' कहा गया है। पुराणों में इसी प्रक्रिया का और अधिक विकास दृष्टिगोचर होता है। जैसे शिव परमपिता थे, वैसे ही यह अब महामाता मानी जाती हैं, और अनेक स्तुतियों में उनके इस रूप का गान हुआ है। उनमें उनको जगत् का नियंत्री, सर्वशक्तियों की जननी, विश्वमाता और संसार की कल्याण-कारिणी आदि कह कर उनकी आराधना की गई है। उनको आदि प्रकृति और वेदान्त का उद्गम माना गया है। परन्तु कहाँ भी उनके शिव के घनिष्ठ साहचर्य को दृष्टि से ओङ्कल नहीं होने दिया गया है और सदैव ही उनको 'शिवपिंशा' मानकर ही स्मरण किया जाता है।

पार्वती को शिव की शक्ति माने जाने के फलस्वरूप शिव और पार्वती का जो तादात्म्य हुआ, इस विचार की अभिव्यक्ति जनसाधारण में एक नई कल्पना द्वारा हुई। यह शिव

१. मत्स्य० : १८३, ५१; सौर० २, १४, इत्यादि।

२. सौर० : २४, ४३-४४।

३. मत्स्य० : अध्याय २३; अविन० अध्याय २७४; यही कथा कुछ परिवर्तित रूप में 'ब्रह्मैवर्त पुराण' में भी मिलती है—भाग ३, अध्याय ५८।

४. अविन० : ६६, १००-१०६; सौर० २५, १३-२३ इत्यादि।

५. सौर० : २५, १३-२३; मत्स्य० १३, १८ इत्यादि।

के 'आर्धनारीश्वर' रूप की कल्पना थी, जो शिव और पार्वती के वास्तविक ऋभेद का प्रतीक बन गया। इस रूप में शिव को पुरुष और स्त्री दोनों माना जाता था और उनका रूप आधा पुरुष और आधा स्त्री का था। पुराणों में शिव के इस रूप की अनेक बार चर्चा होती है, विशेषकर शिव और पार्वती—दोनों की सहोपासना के प्रसंग में। उदाहरणार्थ 'मत्स्य पुराण' में जब शिव की पार्वती के साथ उपासना की गई है तब शिव को यही उपाधि दी गई^१। इसी पुराण में आगे चलकर यह भी कहा गया है कि ब्रह्मा के वरदान से पार्वती शिव के साथ स्थायी रूप से संयुक्त हो गई थी^२। 'वायु पुराण' में शिव को पुरुष और स्त्री रूपधारी कहा गया है^३। शिव का यह रूप बड़ा लोकप्रिय हो गया और प्रायः चित्रों और मूर्तियों में इसी को मूर्तरूप दिया जाता था।

शिव और पार्वती की उपासना विधि का भी पुराणों में विस्तृत वर्णन किया है और सारल्पेण यह वैसी ही थी जैसी रामायण-महाभारत काल में। शिव और पार्वती से प्रार्थनाएँ की जाती थीं, जिनमें उनके प्रति पूर्ण भक्ति प्रकट की जाती थी और उनकी कृपा तथा उनके अनुग्रह के लिए विनती की जाती थी। उनकी प्रशंसा में बड़े-बड़े रत्नों का पाठ किया जाता था^४। शिव और पार्वती की सार्वजनिक उपासना साधारणतया मन्दिरों में ही होती थी, जिनमें इनकी मूर्तियों की स्थापना की जाती थी। पुराणों में जिन शिवमूर्तियों की चर्चा की गई है, वे तीन प्रकार की हैं। एक तो साधारण मानवाकार प्रतिमाएँ, जो साधारण रूप से पत्थर अथवा धातु की बनी होती थीं, और इनमें शिव की आकृति सुन्दर, उनके वस्त्र इवेत और भुजाएँ दो अथवा चार होती थीं। नव चन्द्र आदि भी कभी-कभी इन मूर्तियों में दिखाये जाते थे। कुछ अन्य मानवाकार मूर्तियों में शिव का क्रूर रूप भी चित्रित होता था। 'मत्स्य पुराण' में इन मूर्तियों के निर्माण के लिए विरत्तुत आदेश दिये गये हैं^५। परन्तु इन मानवाकार मूर्तियों से भगवान् शिव की लिंगकार मूर्तियों की संख्या कहीं अधिक थी और इन लिंग-मूर्तियों की सब पुराणों में खूब चर्चा की गई है^६। वास्तव में यह लिंग अब भगवान् शिव का एक पुनीत प्रतीक बन गया था और इसको बड़ी आदर की दृष्टि से देखा जाता था। पुराणों में कहा गया है कि समस्त देवतागण, यहाँ तक कि ब्रह्मा और विष्णु भी, इस लिंग की उपासना करते हैं^७। तथा 'लिंग पुराण' तो इसीके महिमागान के लिए रचा ही गया है।

परन्तु पुराणों में शिव की लिंग-मूर्ति का जिस प्रकार वर्णन किया गया है, और

१. मत्स्य० : ६०, २२।

२. ,, : १२७, १२।

३. वायु० : २४, १४१।

४. ऐसे स्तोत्र प्रायः सभी पुराणों में मिलते हैं।

५. मत्स्य० : २६१, २३ इत्यादि।

६. मत्स्य० : १८३, ६; १८५, ५७; १९३, १०; सौर० ४, ३; अग्निं० ५३, १।

७. सौर० : ४१, ६; लिंग० ७३, ७; ७४, २०५।

शैव मत

१०४

उस समय की लिंगमूर्तियों को देखते हुए यह सिद्ध होता है कि पुराण काल तक लिंग-मूर्तियों का आकार नितांत रुद्धिगत हो गया था, और उनको देखकर किसी को यह विचार आ ही नहीं सकता था कि 'लिंग-मूर्तियाँ' प्रारम्भ में जननेन्द्रिय का चिह्न होती थीं। उनकी उपासना में भी जननेन्द्रिय उपासना-सम्बन्धी कोई लक्षण नाम मात्र का भी नहीं है। यह उपासना विलकुल वैसे ही की जाती थी, जैसी शिव की मानवाकार मूर्तियों की। पुराणों में ऐसे अनेक मन्दिरों का उल्लेख है, जिनमें लिंग-मूर्तियों की स्थापना की गई थी और इन उल्लेखों से पता चलता है कि उस समय तक लिंग-मूर्तियों की उपासना समस्त भारतवर्ष में होती थी। इनमें से कुछ मन्दिर ऐसे स्थानों पर थे, जहाँ शिव-सम्बन्धी कोई घटना घटी है, ऐसा माना जाता था। ऐसे मन्दिर बड़े प्रसिद्ध हो गये थे और दूर दूर से लोग वहाँ हैं, ऐसा माना जाता था। इन स्थानों की एक सूची सौर पुराण में दी हुई है और वहाँ तीर्थ-यात्रा की आते थे। इन स्थानों की एक सूची सौर पुराण में दी हुई है और वहाँ शिव की आरावना करने से क्या पुण्य मिलता है, उसका विस्तृत वर्णन भी दिया गया है^१। अग्निपुराण में लिंग-मूर्तियों के निर्माण और प्रतिष्ठापन के लिए विस्तृत आदेश दिये गये हैं^२। और अनेक प्रकार की लिंग-मूर्तियों का उल्लेख भी किया गया है^३। कुछ तो छोटी-छोटी होती थीं, जिनको आसानी से इवर-उभर ले जाया सकता था और जिनकी लिंग-मूर्तियों की बनाई जाती थीं। मन्दिरों में वृहदाकार अचल मूर्तियों का प्रतिष्ठापन उपासना प्रायः धरों में होती थी। मन्दिरों में वृहदाकार अचल मूर्तियों का प्रतिष्ठापन किया जाता था। यह दोनों ही प्रकार की मूर्तियाँ किंचित् शंखाकार और खूब गोलाई लिए होती थीं। वे पकी मिट्टी, कच्ची मिट्टी, लकड़ी, पत्थर, स्फटिक, लोहे, ताँबे, पीतल, चाँदी, सोने अथवा रत्नों की बनाई जाती थीं^४। लिंग-पुराण में भी इन विभिन्न प्रकारों की लिंग-मूर्तियों का वर्णन किया गया है^५। लिंग-मूर्तियों के निर्माण के सम्बन्ध में 'मुखलिंगों' की भी चर्चा की गई है। इन मूर्तियों में लिंग पर शिव की पूरी या आंशिक आकृति खुदी रहती थी^६। इस प्रकार के अनेक लिंग मन्दिरों में विद्यमान थे।

भगवान् शिव की मानवाकार और लिंगाकार मूर्तियों के अतिरिक्त उनके अर्धनारीश्वर रूप की मूर्तियाँ भी बनाई जाती थीं, यद्यपि इनकी संख्या इतनी अधिक नहीं थी। इन मूर्तियों के निर्माण के आदेश 'मत्स्य पुराण' में दिये गये हैं^७। इन मूर्तियों का दायाँ पक्ष जो पुरुषाकार होता था, उसमें भगवान् शिव के जटाजट, वासुकि सर्प, हाथ में कमरडल अथवा नर-कपाल और त्रिशूल चित्रित रहते थे। वस्त्र या तो 'कृति' अथवा पीत वसन तथा सामान्य द्वियोपयोगी वस्त्र। इन मूर्तियों के सामने शिव-पार्वती की सहोपासना की जाती थी।

-
१. सौर० : ४ और ८।
 २. अग्नि० : ५३, १ और आगे।
 ३. „ : ५४, ८ और आगे।
 ४. „ : ५४, १ और आगे।
 ५. लिंग० : अध्याय ७४।
 ६. अग्नि० : ५४, ४१-४८।
 ७. मत्स्य० : अध्याय २६०।

इन तीन प्रकारों की मूर्तियों के अतिरिक्त 'मत्स्य पुराण' में एक बार शिव और विष्णु की संयुक्त मूर्ति का भी उल्लेख किया गया है, जिससे इन दोनों देवताओं का तादात्म्य सिद्ध होता है^३। इस प्रकार की मूर्तियाँ अपर काल में भारत से बाहर उन देशों में बहुतायत से पाई जाती हैं, जिनपर भारतीय सभ्यता का प्रभाव पड़ा था। परन्तु स्वयं भारतवर्ष में इनकी संख्या बहुत कम ही रही और इसका कारण सम्भवतः यह था कि यहाँ शैव और वैष्णव दोनों मतों में जो साम्प्रदायिकता की भावना कुछ समय बाद उत्पन्न हो गई, वह शिव और विष्णु की संयुक्तोपासना के विकास के अनुकूल नहीं थी।

शिव के 'त्रिमूर्ति' स्वरूप को लेकर जो प्रतिमाएँ बनाई जाती थीं, उनके सम्बन्ध में पुराणों में कुछ नहीं कहा गया; परन्तु ऐसी मूर्तियाँ सम्भवतः इस समय भी बनती रही हाँगी; क्योंकि अपर काल में हमें इस प्रकार की अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं।

पार्वती की प्रतिमाओं के निर्माण के सम्बन्ध में भी पुराणों में आदेश दिये गये हैं, और भगवान् शिव की मूर्तियों के समान इन मूर्तियों की उपासना भी उसी प्रकार होती थी।

सामान्यतः शिव और पार्वती की उपासना प्रतिदिन की जाती थी और 'अग्नि' तथा अन्य पुराणों में इसके सम्बन्ध में आदेश भी दिये गये हैं^४। परन्तु वर्ष में कुछ दिन, शिव की उपासना के, विशेष दिन माने जाते थे, जब यह उपासना विशेष विधियों द्वारा संपन्न होती थी। उदाहरणार्थ 'मत्स्य पुराण' में^५ 'कृष्णाष्टमी' के दिन गो, भूमि, सुवर्ण और वस्त्रों का ब्राह्मणों को दान करने का विधान किया गया है और इसके उपरान्त सायंकाल को भगवान् शिव की पूजा होती थी। इस पूजा में अनेक उपहार भगवान् को चढ़ाये जाते थे, और छः पुण्य वृक्षों के पत्रों की अपेक्षा होती थी। पूजा के उपरान्त ब्राह्मणों को कुछ और दान भी दिया जाता था। इस दिन भगवान् शिव की विधिवत् उपासना करने से बड़ा पुण्य मिलता था, देवता तक ऐसे भक्त का आदर करते थे और वह रुद्र लोक में जाकर परमानन्द को प्राप्त होता था। प्रत्येक मास में शिव की विभिन्न नाम से उपासना की जाती थी। एक और तिथि थी, जब शिव की विशेष उपासना की जाती थी; वह थी—'अनंग त्रयोदशी'। इस दिन भगवान् शिव ने 'काम' को भस्म किया था और पुराण में इस दिन की उपासना विधि का वर्णन दिया गया है^६। कृष्णाष्टमी की पूजा के समान इस पूजा में भी विभिन्न महीनों की त्रयोदशी पर शिव की विभिन्न नामों से उपासना होती थी। परन्तु यह नाम कृष्णाष्टमी की पूजा से भिन्न है। 'अनंग त्रयोदशी' की पूजा अपेक्षाकृत सरल थी। इस दिन केवल प्रार्थना की जाती थी और शिव-मूर्ति की पूष्प, फल और धूपादि से अर्चना की जाती थी। इस पूजा की एक विशेष बात यह थी कि इसमें शिव को 'नैवेद्य' दिये जाते थे।

१. मत्स्य० : अध्याय २३०।

२. ,,: २६०, २१ और आगे।

३. अग्निन० : अध्याय ७४।

४. मत्स्य० : अध्याय ५६।

५. सौर० : अध्याय १६।

परन्तु शिवोपासना का सबसे बड़ा दिन था—‘शिव-चतुर्दशी’। इस दिन जो पूजा होती थी, उसका विस्तृत वर्णन ‘मत्स्य पुराण’ में दिया गया है^१। इस दिन पूर्ण उपवास रखा जाता था और इससे पहले दिन भी केवल एक बार ही भोजन किया जाता था। प्रातः-काल शिव की उमा के साथ कमल, पुष्पमालाओं, धूप, चन्दनलेप आदि से पूजा की जाती थी। एक वृत्तभ, सुवर्ण घट, श्वेत वत्र, पंचरत्न, विविध प्रकार के भोजन, वस्त्र आदि ब्राह्मणों को दान दिये जाते थे और शिव से उनके अनुग्रह के लिए प्रार्थना की जाती थी। अन्त में कुछ योग्य शैव भक्तों को आमंत्रित किया जाता था और उनका विविवत् संस्कार किया जाता था। यह इस दिन की पूजा का सामान्य ढंग था; परन्तु जब यह तिथि कुछ विशेष महीनों में पड़ती थी, तब कुछ अन्य संस्कार भी किये जाते थे और उनमें विशेष उपहार चढ़ाये जाते थे। इस दिन भगवान् शिव की विविवत् उपासना करने का पुण्य वार्षतव में बहुत अधिक होता था। यह सहस्र अश्वमेघ यज्ञों के संचित पुण्य के बराबर होता था और भक्त को ब्रह्महत्या के पाप से भी मुक्त कर सकता था। इस पूजा के पुण्य से भक्त ‘गणाधिप’ के पद को पा सकता था और असंख्य युगों का स्वर्ग भोगकर अन्त में शिव के सामीप्य को प्राप्त होता था।

उपर्युक्त सारे संस्कार घरेलू हैं, जो व्यक्तिगत रूप से घरों में सम्पन्न किये जाते थे। पुराणों में प्रथानतया इन्हीं घरेलू संस्कारों का विस्तृत वर्णन किया गया है। मन्दिरों में भगवान् शिव की सार्वजनिक उपासना के विषय में उनसे हमें बहुत कुछ पता नहीं चलता। जिस प्रकार की सामुदायिक उपासना का विकास ईसाई और इस्लाम धर्मों में हुआ, उसका वेदोन्तर कालीन ब्राह्मण धर्म में कुछ अधिक महत्व नहीं था। इस प्रकार की उपासना सदा ही औपचारिक रही और किसी के लिए उसमें सम्मिलित होना अनिवार्य नहीं था, यद्यपि इससे पुण्य अवश्य मिलता था और मन्दिरों में भगवान् के दर्शनार्थ जाना भी धर्म-कार्य माना जाता था।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, शिव की सहधर्मिणी की उपासना भी उन्हीं के साथ की जाती थी। परन्तु इसके अतिरिक्त एक विशेष विधि भी थी जिसमें वह दोनों साथ-साथ पूजे जाते थे और वह थी—‘उमामहेश्वर ब्रत’ की विधि। इसका विवरण सौर पुराण में दिया गया है^२। यह ब्रत पूर्णिमा, अमावस्या, चतुर्दशी अथवा अष्टमी को किया जा सकता था। दोनों देवताओं की प्रार्थना और उपहारों के साथ-साथ पूजा होती थी और इसके उपरान्त कुछ सच्चे शिव-भक्तों को भोज दिया जाता था। जो व्यक्ति इस ब्रत को श्रद्धापूर्वक करता था, वह ‘शिव-लोक’ को पाता था और फिर सदा आनन्द में रहता था। ‘मत्स्य पुराण’ में एक और संस्कार की चर्चा की गई है, जिसमें भी शिव और पार्वती की एक साथ ही पूजा होता थी^३। यहाँ पार्वती को ‘भवानी’ कहा गया है। यह संस्कार भी लगभग वैसा ही था जैसा ‘उमामहेश्वर ब्रत’ और यह वसन्त ऋतु में शुक्ल पक्ष की तृतीया को सम्पन्न होता था।

१. मत्स्य० : अध्याय ६५।

२. सौर० : अध्याय ४३, और लिंग० अध्याय ८४।

३. मत्स्य० : अध्याय ६४।

इसी दिन सती का भगवान् शिव से विवाह हुआ था। यह संस्कार वास्तव में सती के सम्मान के लिए ही था और शिव की उपासना उनके साथ, उनके पति होने के नाते की जाती थी। पूजा में फल, धूप, दीप और नैवेद्य चढ़ाये जाते थे^१। पार्वती की प्रतिमा को, जिसका यहाँ स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है, दूध और सुगन्धित जल से स्नान कराया जाता था और तदनन्तर देवी का अभिवादन किया जाता था।

रामायण-महाभारत में शिव के जो दो अन्य रूप हमने देखे थे, उनका भी पुराणों में वर्णन किया गया है। यहाँ जो कुछ बताया गया है, उससे हमें केवल इन रूपों के विकास का ज्ञान तो होता ही है, साथ ही इनकी उत्पत्ति और इतिहास को और अधिक अच्छी तरह समझने में भी सहायता मिलती है। इनमें से पहला तो शिव का 'कपाली' रूप है। इस रूप का अधिकांश पुराणों में रामायण-महाभारत की अपेक्षा अधिक विस्तृत वर्णन है। इस रूप में शिव की आकृति भयावह है। उनको 'कराल', 'स्वर्द' और 'कूर' कहा गया है, उनकी जिहा और दंष्ट्र बाहर निकले हुए हैं और वे सब प्रकार से 'भीषण' हैं^२। वह सर्वथा बख्तिहीन हैं और इसी से उनको 'दिग्म्बर' की उपाधि मिली है^३। उनके समस्त शरीर पर भूत मली हुई है और इस कारण उनकी 'वायु पुराण' में 'भस्मनाथ' भी कहा गया है^४। ऐसी आकृति और ऐसी वेश-भूपा में वह हाथ में कपाल का कमण्डल लिये विचरते हैं^५। उनके गले में नरमुण्ड की माला है^६। यह नरमुण्ड-माला एक नई चीज़ है और इससे उनके 'कपालित्व' को और अधिक व्यक्त किया गया है। श्मशान उनकी प्रिय विहारभूमि है^७। यहाँ से वह अपने कपाल और भस्म लेते हैं और यहाँ वह भूत, पिशाच आदि अपने अनुचरों के साथ विहार करते हैं। इन अनुचरों की आकृति भी ठीक शिव-जैसी ही है^८। एक-दो रथों पर स्वयं शिव को 'निशाचर' कहा गया है^९। इस रूप में शिव को बहुधा 'कपालेश्वर' भी कहा जाता है।

शिव के इस रूप की उपासना जन-साधारण में सामान्य रूप से प्रचलित नहीं थी। यह बात ऊपर शिव के इस रूप की उपासना की विधि का जो हमने वर्णन दिया है, उसीसे नितान्त स्पष्ट हो जाती है। जैसा हमने पिछले अध्याय में कहा था, जनता का एक वर्ग विशेष प्रारम्भ से ही शिव की इस कापालिक रूप में उपासना करता था और बाद में भी करता रहा। यह वर्गविशेष अब एक निश्चित सम्प्रदाय बन गया था, जिसको 'कापालिक' कहते थे। यह लोग रमता साधु होते थे, जिनका दावा था कि तथाकथित योगम्ब्यास और

१. मत्स्य० : ६०, १४-४४।
२. „ : ४७, १२७ और आगे; अचिन० ३२४, १६।
३. „ : १५५, २३; ब्रह्माण्ड० भाग १, २७, १०; सौर० ४१, ६६।
४. वायु० : ११२, ५३।
५. ब्रह्म० : ३७, ७; वायु० २४ १२६; ५४, ७०; ५५, १४; मत्स्य० ४७, १३७।
६. वायु० : २४, १४०; वराह० २५, २४; सौर० ५३, ५, ब्रह्म० ३७, ७।
७. „ : २४, १४०; वराह० २५, २४; अचिन० ३२२, २; ब्रह्म० ३७, १३; ३८, ३६।
८. मत्स्य० : ८, ५; ब्रह्म० ३८, ३७।
९. सौर० : ४१, ५३; वायु० १०, ४६।

तंत्रचर्या से उन्हें मानवोत्तर शक्तियाँ प्राप्त हो गई हैं। इन्होंने अपनी वेश-भूषा भी ऐसी बना ली थी कि उसके असाधारणपन से ही लोगों पर प्रभाव पड़ता था। पुराणों के समय तक इन 'कापालिकों' ने रुद्र के प्राचीन उग्र रूप का विकास करके उसको 'कपालिन्' का विचित्र और भयोवह रूप दे दिया था। इन लोगों ने अपना वेश भी अपने उपास्यदेव जैसा ही बना लिया था और प्रायः दिग्म्बर अवस्था में कपाल-कमण्डल हाथ में लिये और शरीर पर भस्म मले ये विचरते थे। जहाँ कहीं भी ये जाते श्मशान-भूमि में ही निवास करते। इन लोगों की उपासना को व्यवस्थित रूप से कोई मान्यता नहीं दी जाती थी और साधारण रूप से इसकी निन्दा भी की जाती थी; परन्तु इसको दबाने के लिए भी कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया था। सौर पुराण में कापालिकों की विधर्मियों में गणना की गई है। परन्तु जैसा कि हमने महाभारत में देखा था, जैसे-जैसे समय बीतता गया, शिव की कपालिन् रूप में उपासना नहीं करनेवाले भी कुछ-कुछ इसकी मान्यता देने लगे—अर्थात् वे शिव के अन्य रूपों में उनके 'कपालिन्' रूप को भी गिनने लगे तथा इस कारण इस रूप पर आधारित शिव की अनेक उपाधियों का, उनकी अन्य उपाधियों के साथ, सर्वत्र उल्लेख होने लगा। पुराणों में यह बात महाभारत की अपेक्षा अत्यधिक स्पष्ट है। परन्तु शिव के 'कपालिन्' रूप को मान्यता देने से ही, एक प्रकार से कापालिक सम्प्रदाय को भी मान्यता मिल ही गई, और सम्भवतः इसी कारण उसको दबाने के लिए कोई निश्चित कदम नहीं उठाया गया। यह सम्प्रदाय अभी हाल ही तक विद्यमान था। तथापि जनसाधारण की ओर से इसके प्रति विरोध बढ़ता ही गया और इसीके फलस्वरूप इसके अनुयायियों की संख्या घटती गई। इसके साथ-साथ कापालिकों ने भी अपने विचारों और आचार की एक तर्क-संगत व्याख्या करने का और अपने मत को सम्मानित बनाने का प्रयत्न किया। पुराणों में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। उदाहरणार्थ 'ब्रह्माण्ड पुराण' में ऋषियों के एक प्रश्न के उत्तर में स्वयं भगवान् शिव अपने कपालिन् रूप के विभिन्न लक्षणों की व्याख्या करते हैं^१। वह अपने शरीर पर भूमूल इसलिए मलते हैं कि वह एक ऐसा पदार्थ है जो अग्नि द्वारा पूर्णतया भस्म किया जा चुका है और अग्नि के सर्व परिशोधक होने के कारण यह भी परिशुद्ध है। अतः भूमूल के परम पूर्त होने के कारण जो उसे अपने शरीर पर लगाता है, उसके समस्त पाप कट जाते हैं। जो व्यक्ति भूमूल से 'स्नान' करता है, वह विशुद्धात्मा, जितकोष और जितेन्द्रिय होकर भगवान् शिव के धाम को प्राप्त होता है। नग्न रहने के सम्बन्ध में भगवान् शिव ने कहा है कि सब प्राणी नग्न ही पैदा होते हैं, अतः नग्नता में स्वतः कोई दोष नहीं है। इससे तो मनुष्य के आत्म-संयम की जाँच होती है और इसीसे व्यक्ति विशेष का आत्म-संयम प्रतिविम्बित भी होता है। जिनमें आत्म-संयम नहीं हैं, वे ही वास्तव में नग्न हैं, चाहे वे कितने भी बस्त्र धारण क्यों न करें। जो आत्मसंयमी हैं, उनको वाह्य आवरणों से क्या वास्ता? इसी प्रकार श्मशान-भूमि में विचरने से भी व्यक्ति अपनी प्राकृतिक भावनाओं पर कितना नियंत्रण रख सकता है,

१. सौर० : ३८, ५४।

२. ब्रह्मा० : भाग १, २७, १०५ और आगे।

इसकी जाँच होती है। जो इस प्रकार नियंत्रण रख सकते हैं और दक्षिण-पथ के अनुसार श्मशान भूमि में निवास करते हैं। वे अपनी इच्छाशक्ति की उत्कृष्टता का प्रमाण देते हैं और इसी कारण उनको अमरत्व और 'ईशत्व' प्राप्ति का अधिकारी माना गया है। इस प्रकार कापालिक सम्प्रदाय ने अपने मत की तार्किक पुष्टि करने की ओर अपने वृण्डित कृत्यों पर धार्मिक पवित्रता का आवरण ढालने की चेष्टा की है। उनकी युक्तियाँ ऊपर से कुछ तर्कसंगत जान भी पड़ती हैं, और यह सम्भव है कि कुछ लोग उनसे कायल भी ही गये हों। कापालिकों ने वहाँ तक संतोष नहीं किया। उन्होंने अपनी जीवन-चर्या को एक 'ब्रत' बताना भी प्रारम्भ कर दिया। कोई भी व्यक्ति किसी घोर पाप का प्रायशिच्छत करने के लिए यह ब्रत धारण कर सकता था। इसका एक उदाहरण हमें भगवान् शिव द्वारा ब्रह्मा का सिर काट लेने की कथा में मिलता है, जहाँ स्वयं शिव ने यह 'ब्रत' किया था^१। ब्रह्म-हत्या का पाप मिटाने के लिए भगवान् शिव ने कापालिक का रूप धारण किया, अर्थात् दिगम्बर हो, शरीर में भस्म लगाये, उन्होंने सब प्रमुख तीर्थ-स्थानों की यात्रा की और उसके पश्चात् ब्रह्मा का कणाल, जो उनके हाथ से संलग्न हो गया था, छूट कर गिर गया। इस प्रकार शिव ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हुए। परन्तु अपने मत को मान्यता दिलवाने की कापालिकों की यह चेष्टा कुछ अधिक सफल नहीं हुई। इसका जादूटोने के साथ इतना गहरा सम्बन्ध था और इसका समाज-विरोधी रूप इतना स्पष्ट था कि यह कभी भी सर्वमान्य नहीं हो सकता था। कापालिकों का सदा ही एक छोटा-सा सम्प्रदाय रहा, जिससे जनसाधारण सामान्यतः कतराते थे।

शिव का दूसरा रूप, जिसकी उपासना अपेक्षाकृत कम ही लोग करते थे, एक विलास-प्रिय देवता का रूप था। रामायण-महाभारत में हमने देखा था कि इस रूप में शिव का किराती के साथ सम्बन्ध था और इसी जाति के किसी आदि देवता को आत्मसात् करने के फलस्वरूप शिव के इस रूप की उत्पत्ति हुई थी। पुराणों में शिव के इस रूप के सम्बन्ध में हमें और भी वहुत-कुछ ज्ञात होता है। ब्रह्माएङ्ग पुराण^२ में एक कथा इस प्रकार है कि एक बार भगवान् शिव वन में ऋषियों के आश्रम में गये। इस अवसर पर उनकी वेशभूपा पूर्णरूप से एक विलासप्रिय देवता की-सी थी। उनका शरीर भोंडा और सर्वथा आवरण-हीन था और उनके केश बिखरे हुए थे। वन में पहुँचते ही वे बड़े उच्छ्वस्त्र ढंग से आमोद-प्रमोद करने लगे। कभी अद्वाहस करते थे, कभी खण्डिल ढंग से गते थे, कभी कामातुर पुरुष के समान नृत्य करते थे और कभी जौर-जौर से रोने लगते थे। आश्रम की महिलाएँ शिव के इस आमोद-प्रमोद पर पूर्णरूपेणा मुख्य हो गईं और वड़े चाव से उस विलास-लीला में सम्मिलित हो गईं। यह दृश्य देख कर आश्रम के ऋषि अत्यन्त झुँझ हुए तथा शिव को बुरा-भला कह और उनको दण्ड देकर वे ब्रह्मा के पास गये। वहाँ ब्रह्मा ने बताया कि जिसने आपकी स्त्रियों को आचारभ्रष्ट किया है, वह मतवाला पुरुष और कोई नहीं, साक्षात् भगवान् शिव हैं। अन्त में कथा वहाँ, ऋषियों द्वारा शिव की स्तुति करने

१. वराह० : ६७, ५ और आगे।

२. ब्रह्मा० : भग १, अध्याय २७।

और शिव का उनको वरदान देने के साथ, समाप्त होती है। परन्तु इस कथा से यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है कि शिव का यह विलास-प्रिय देव-रूप सर्वथा बाह्यप्रभाव-जन्य था। 'सौर' और 'लिंग' पुराणों में इसी कथा के अपेक्षाकृत नवीन संस्करण मिलते हैं, जिनमें शिव के इस रूप को कुछ कम आपत्तिजनक बनाने की चेष्टा की गई है^१। परन्तु इनमें भी इस रूप के प्रधान लक्षण तो मिलते ही हैं। 'अर्बिन पुराण' में भी यह प्रसंग आया है कि शिव विष्णु के स्त्रीरूप पर मुख्य हो गये थे, और उस माया के लिए उन्होंने पार्वती को भी छोड़ दिया था। अन्त में विष्णु ने ही इनका मोह दूर किया था^२। 'मत्स्य पुराण' में जब पार्वती शिव पर उनके कामुक होने का आक्षेप करती है, तब सम्भवतः इस लांछन का आधार इसी घटना की स्मृति है^३। शिव के 'कपालिन' रूप के समान यह लांछन का आधार इसी घटना की स्मृति है। शिव के इस रूप का भी उनकी साधारण उपासना से कोई सम्बन्ध नहीं था और यदि शिव के इस रूप का किसी लक्षण की स्मृति मात्र होता तो यह कब का लुप्त हो यह शिव के प्राचीन खरूप के किसी लक्षण की स्मृति होती है कि जिस देवता समर्थन होता है और पिछले अध्याय के हमारे इस कथन की पुष्टि होती है कि जिस देवता को आत्मसात् करके शिव ने यह रूप पाया था, उसकी उपासना इसी उत्तर प्रदेश में होती थी। इस तथ्य का प्रत्यक्ष प्रमाण हमें 'नीलमत' पुराण में मिलता है। यह एक कश्मीरी ग्रन्थ है और इसमें कहा गया है कि कश्मीर में कृष्ण चतुर्दशी के दिन जब शिव की विशेष पूजा होती थी, शैव उपासक खूब आमोद-प्रमोद करते थे, और नाचने-गाने तथा गणिकाओं की संगति में रात-भर बिता देते थे^४। देश के अन्य भागों में इस दिन जो भगवान् शिव की पूजा होती थी, यह उसके बिलकुल विपरीत है। सम्भवतः यह उस समय की स्मृति है जब इस प्रकार का आमोद-प्रमोद उस देवता की उपासना का एक प्रमुख अंग था, जिसका अब शिव के साथ तादात्म्य हो गया था। कश्मीर से बाहर कहाँ भी शिव की इस प्रकार से उपासना नहीं की जाती थी। इससे सिद्ध होता है कि यह उपासना उसी प्रदेश तक सीमित रही, जहाँ प्रारम्भ में इसका प्रचार था और इस प्रदेश में भी धीरे-धीरे इस प्रथा का लोप हो गया। यह कश्मीर में शैव धर्म के आगे के इतिहास से स्पष्ट हो जाता है।

१. सौर० : अध्याय ६६; लिंग० भाग १, अध्याय २६।

२. अर्बिन० : ३, १८।

३. मत्स्य० : १५५, ३१।

४. नील० : श्लोक ५५६।

पुराणों में भगवान् शिव के एक और रूप को देखना शेष रह गया है। वैदिक रुद्र का उग्र रूप, शिव के सौभ्य रूप के विकास के कारण पीछे तो पड़ गया; परन्तु कभी भी सर्वथा लुप्त नहीं हुआ। वेदोत्तर काल में जब 'त्रिमूर्ति' की कल्पना की गई, तब शिव को विश्व का संहारक बनाया गया। बाद में जब शिव को परम देवाधिदेव का पद दिया गया, तब उनको विश्व का स्थान, पालयिता और संहर्ता माना जाने लगा। परन्तु जब उनकी संहर्ता के रूप में कल्पना की जाती थी, तब उनका वही प्राचीन उग्र रूप सामने आता था, यद्यपि अब इस रूप को बहुत हद तक मंगलमय बनाने की चेष्टा की जाती थी। रामायण-महाभारत काल में यह बात अधिक स्पष्ट नहीं थी, परन्तु पुराणों में तो इसको बहुत खोलकर कहा गया है। अपने उग्र रूप में शिव को एक क्रूर और भयावह महानाशकारी देवता माना गया है, जिसका कोई सामना नहीं कर सकता। इस रूप में उनको 'चण्ड', 'भैरव', 'महाकाल' इत्यादि उपाधियाँ दी गई हैं^१। उनका रंग काला है, वे त्रिशूलधारी हैं और कभी-कभी उनके हाथ में एक 'टंक' भी रहता है। वह रुद्राक्ष की माला पहने रहते हैं और ललाट पर नव चन्द्र सुशोभित रहता है^२। 'मत्स्य पुराण' में इस रूप में शिव को रक्त वर्ण (वैदिक रुद्र का भी यही वर्ण है), 'क्षपण', 'भीम' और साक्षात् 'मृत्यु' कहा गया है^३। 'वायु पुराण' में उनका काल के साथ तादात्म्य किया गया है, और तीन 'कापाल' उनकी उपासना करते हैं^४। इस रूप में उनके अनुचर रक्ष, दानव, दैत्य, गन्धर्व और यज्ञ हैं^५। यहाँ यज्ञों का उल्लेख और भगवान् शिव को 'यज्ञपति' कहना महत्त्व रखता है; क्योंकि 'मत्स्य पुराण' में यज्ञों को स्वभावतः निर्दय, मृत-मांस-भक्ति अभोज्य-भक्तक और मारणशील जीव माना गया है^६। अतः यहाँ उनके साथ शिव का साहचर्य, वैदिक रुद्र के इस प्रकार के जीवों के साथ साहचर्य की याद दिलाता है। ब्रह्माएङ पुराण में कहा गया है कि इन अनुचरों अथवा गणों की सुष्ठु स्वयं शिव ने ही की थी, और वे शिव के समान रूप थे^७। इससे शिव का यह रूप और भी स्पष्ट हो जाता है। इसी रूप में शिव का एकादश रुद्रों के साथ भी सम्बन्ध है, जिनका पुराणों में प्रायः उल्लेख किया गया है। इनको शिव से ही उत्पन्न माना जाता है, अतः यह उनसे भिन्न नहीं है। परन्तु उनका जो स्वरूप है, उससे वैदिक रुद्र के उग्र रूप का ही स्मरण हो आता है। अपने इस उग्र रूप में, विश्व-संहर्ता हीने के साथ भगवान् शिव की कल्पना देवताओं और मानवों के शत्रुओं के संहारक के रूप में भी की गई है, और इस सम्बन्ध में उनका सबसे अधिक प्रख्यात कृत्य 'अन्धक' का वर्ण है^८। जैसे-जैसे समय बीतता गया, शिव के इस उग्र रूप

१. मत्स्य० : २५२, १० ; ब्रह्म० ४३, ६६ ; अर्णिन० ७३, ५ इत्यादि।

२. अर्णिन० : ७३, ७ और आगे।

३. मत्स्य० : ४७, १२८ और आगे।

४. वायु० : ३१, ३२ और आगे।

५. वायु० : २४, १०७।

६. मत्स्य० : १८०, ६-१०।

७. ब्रह्म० : भाग १, ६, २३ और आगे।

८. मत्स्य० : अध्याय १७९ ; लिंग० भाग १; अध्याय १३ इत्यादि।

के भी अनेक प्रकार हो गये, जिनका प्रस्तर-मूर्तियों में बहुधा चित्रण किया जाता था । हम यह पहले भी कह चुके हैं कि शिव और उनकी उपासना के प्रति रुदिवादियों में जो विरोध-भावना उत्पन्न हो गई थी, उसका मूल कारण शिव द्वारा अन्य आर्योंतर जातियों के देवताओं को आत्मसात् कर लेना और उनके लक्षण स्वयं धारण कर लेना ही था । पुराण ग्रन्थों में भी अनेक प्रसंग ऐसे हैं, जो इस विरोध-भावना की स्मृति पर आधारित हैं । कुछ स्थलों पर ऐसा भी अवश्य प्रतीत होता है कि शिव की जो निन्दा की गई है और उनपर जो आचेप किये गये हैं, उनके पीछे इस प्राचीन विरोध-भावना की स्मृति नहीं, अपितु तत्कालीन साम्प्रदायिक द्वे ष-भावना है । सबसे पहले तो पुराणों में वह संदर्भ है, जिनमें शिव की स्पष्ट रूप से निन्दा की गई है । उदाहरणार्थ मत्स्य पुराण^१ में स्वयं पार्वती शिव को उलाहना देती है कि वह महाधूर्त है, उन्होंने सप्तों से 'अनेक जिह्ल' (द्वयर्थक बात करनी) सीखा है, अपने ललाट के चन्द्रमा से हृदय का कालापन लिया है, भस्म से स्नेहाभाव पाया है, अपने वृष्टि से दुर्वृद्धि पाई है, श्मशानवास से उनमें निर्भीकत्व आ गया है और नग्न रहने से उन्होंने मनुज-सुलभ लज्जा को खो दिया है । कपाल धारण करने से वह निर्वृण हो गये हैं और दया तो उनमें रह ही नहीं गई है । आगे चलकर पार्वती ने उनको साफ साफ 'स्त्री-लम्पट' कहा है, जिसपर कड़ी दृष्टि रखने की आवश्यकता भर्त्सना करते हैं और उन्हें एक मत्त पुरुष मानते हैं । अन्त में ब्रह्म पुराण^२ में पार्वती मत्स्यना करते हैं और उन्हें एक मत्त पुरुष मानते हैं । उनकी दृष्टि की माता 'मैना' बड़े ही अपमान-सूचक शब्दों में शिव का उपहास करती है । उनकी दृष्टि में शिव एक निरे भिखारी है, जिसके पास अपनी नगनता ढाँपने के लिए एक वस्त्र भी नहीं है, उनका साहचर्य हर किसी के लिए लज्जाजनक है, विशेष रूप से पार्वती के लिए, जिसने है, उनका श्वरूप के वही आपत्तिजनक लक्षण थे, जो उन्होंने अन्य आर्योंतर जातियों के देवताओं को आत्मसात् करने पर धारण किये । अन्य स्थलों पर भी प्रारम्भ में शिव और उनकी उपासना को मान्यता प्रदान करने के विषय में एक अनिच्छा की भावना के और शिव को एक विजातीय देवता समझने के कई संकेत हमें पुराण ग्रन्थों में मिलते हैं । उदाहरणार्थ 'लिंग' की उत्पत्ति की कथा में, जिसके विभिन्न रूप अनेक पुराणों में मिलते हैं, ब्रह्मा शिव की श्रेष्ठता को स्वीकार करने से साफ इनकार कर देते हैं । और अन्त में स्वयं विष्णु शिव के वास्तविक स्वरूप तथा उनकी महत्ता का ज्ञान कराते हैं । शिव के प्रति ब्रह्मा की इस विरोध-भावना के कारण भी वेही है, जो ऊपर बताये जा चुके हैं । इस प्रसंग में 'वायु पुराण'^३ में कथानक इस प्रकार है कि ब्रह्मा ने जब शिव को

१. मत्स्य० : १५५, ६ और आगे ।

२. ब्रह्मा० : भाग १; २७, १७ और आगे ।

३. ब्रह्मा० : २४, २६-२७ ।

४. वायु० : २४, ३५ और आगे ।

देखा तब उनका मुख गुफा के समान था, दोनों ओर बड़े-बड़े दंष्ट्र बाहर को निकले हुए थे, उनके केश अस्तव्यस्त थे, मुखाकृति विगड़ी हुई थी और सामान्यतया वे बड़े भयावह लगते थे। स्वभावतः ऐसे जीव का अभिवादन करने से ब्रह्मा ने इनकार कर दिया, और फिर जब विष्णु ने उनको शिव की श्रेष्ठता का ज्ञान कराया, तब जाकर कहीं उन्होंने उनका उचित सत्कार किया। इस कथा के कुछ अन्य संस्करणों में कहा गया है कि ब्रह्मा और विष्णु दोनों ही ने शिव की महत्ता को तबतक स्वीकार नहीं किया जब-तक उन्होंने शिव लिंग के, जो उनके सामने प्रकट हो गया था, वृहदाकार को नापने में अपने-आपको असमर्थ न पाया। त्रिपुरादाह की कथा में वह प्रसंग—जहाँ त्रिपुरध्वंस के उपरान्त शिव पार्वती की गोद में शिशु के रूप में प्रकट होते हैं और इन्द्र उनपर वज्र-प्रहार करने का प्रयत्न करते हैं और जिसका उल्लेख महाभारत में हो चुका है—पुराणों में भी आता है, यथापि कथा दूसरी है। यहाँ^१ पार्वती के ‘स्वयंवर’ के अवसर पर शिव पंचशिखधारी शिशु के रूप में प्रकट होते हैं तथा पार्वती उन्हें तुरन्त पहचान लेती हैं, और उनको ही अपना पति चुनती हैं। इस समय अपने अज्ञान से इन्द्र ईर्ष्यविश कुपित हो उठते हैं और शिशु पर प्रहार करने के लिए अपना वज्र उठाते हैं; परन्तु उसी समय उनकी भुजा स्तम्भित हो जाती है तथा उनका अभिमान पूर्णरूपेण चूर्ण हो जाता है। इस कथा में भी शिव को मान्यता प्रदान करने के प्रति अनिच्छा प्रकट होती है। ‘नीलमत पुराण’ में कहा गया है कि जब ब्रह्मा ने शिव का अभिवादन किया तब इन्द्र का अचम्भा हुआ और उन्होंने पूछा कि आखिर ब्रह्मा से बड़ा और कौन देवता हो सकता है^२? परन्तु पहले ही रामायण-महाभारत में हम देख आये हैं कि शिव के प्रति इस विरोध-भावना का सबसे बड़ा प्रमाण हमें दक्ष-यज्ञ की कथा में मिलता है। पुराणों में इसके जो रूप मिलते हैं, वे अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इनमें से सबसे प्राचीन रूप ‘बराह पुराण’ में है^३। यहाँ यह कथा इस प्रकार है कि जब सृष्टि के आदि में ब्रह्मा ने शिव से विविध प्राणियों का सजन करने को कहा, तब शिव ने इस कार्य के लिए अपने आपको असमर्थ पाया और सम्भवतः यह क्षमता प्राप्त करने के हेतु, जलमन्न हो, उन्होंने तप प्रारम्भ कर दिया। उनकी अनुपस्थिति में ब्रह्मा ने सात प्रजापतियों के साधन से सृष्टि का कार्य प्रारम्भ कर दिया। इन प्रजापतियों में से प्रथम दक्ष थे। कालान्तर में दक्ष ने एक यज्ञ प्रारम्भ किया, जिसमें सब देवता आये। ठीक उसी समय शिव जल में से निकले और यह देवतकर कि उनके बिना ही सृष्टि का कार्य सम्पन्न हो चुका है, क्रोध से भर गये। क्रोध के आवेश में उन्होंने यज्ञ को ध्वंस करने का संकल्प किया। उस समय कहा जाता है कि उनके कानों से अग्नि की लपटें निकलीं, जो ‘विताल’, ‘पिशाच’ आदि बन गईं। इनको साथ ले वह यज्ञ-स्थल पर पहुँचे। उनका आगमन होते ही ऋत्विज अपने मन्त्र भूल गये और उन्होंने शिव को राक्षस समका, जो उनके कार्य में विष डालने के लिए वहाँ आ गया था। दक्ष के परामर्श से

१. ब्रह्म० : अध्याय ३६ इत्यादि।

२. नील० : श्लोक १०८२ और आगे।

३. बराह० : अध्याय २१।

देवताओं ने शिव से युद्ध किया; परन्तु वे बुरी तरह हार गये। 'भग' की तो आँखें गईं, और 'पूपन' का जबड़ा टूटा। विष्णु ने एक बार किर देवताओं को युद्ध के लिए इकट्ठा किया; परन्तु उसी समय ब्रह्मा ने वीच-बचाव किया। अन्त में शिव को उचित यज्ञ-भाग दे और उन्हें विष्णु का समकक्ष मानकर देवतागण लौट गये। दत्तयज्ञ-कथा का यह विशुद्ध रूप प्रतीत होता है जिसका आधार ब्राह्मण ग्रन्थों की वह देवकथा है जहाँ देवताओं ने शिव को यज्ञ-भाग नहीं दिया था। इस कथा से यह विलकुल स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भ में शिव का एक विजातीय देवता समका जाता था, जो आर्य-देवमण्डल में जबरदस्ती धुस आया था। इस कथा का उत्तर भाग और भी महत्वपूर्ण है। इसमें कहा गया है कि सती—जिसने शिव को उनके जलमग्न होने से पूर्व पति रूप में वरण किया था और जिसे बाद में ब्रह्मा ने दक्ष की पुत्री के रूप में दे दिया था—इस बात से अत्यन्त दुःखित और क्रुद्ध हुई कि उसके पति ने अकारण ही उसके पिता के यज्ञ का ध्वंस कर दिया। इसके परिणामस्वरूप उसने अपने पति का परित्याग कर दिया और अग्नि में कूदकर अपना प्राणान्त भी कर दिया। पुराण ग्रन्थों में इस कथा के जो अन्य रूप हैं, उनसे यह कथा ठीक विपरीत है; क्योंकि उनमें यह कहा गया है कि सती को दुःख इस बात का हुआ था कि उनके पिता शिवद्वारा ही थे और उन्होंने शिव की निन्दा में अपशब्द कहे थे। फिर भी कथा में थोड़ा-बहुत साम्प्रदायिक रंग मान लेने पर भी इससे यह तो विलकुल स्पष्ट हो ही जाता है कि प्रारम्भ में शिव का तिरस्कार किया जाता था और इस तिरस्कार का कारण स्वयं उनका स्वरूप था, न कि दोपारोपकों का कोई संकुचित और तर्कविहीन छिद्रान्वेषण। बाद में इस कथा में शिव के पक्ष में अनेक परिवर्तन कर दिये गये, और दक्ष को एक ऐसे व्यक्ति के रूप में प्रकट किया गया जिसने अपने अभिमानवश शिव का उचित सत्कार नहीं किया तथा इसी कारण सर्वथा दण्ड का भागी बना। इन परिष्कृत रूपों में इस कथा का मूलाशय स्पष्ट है। दक्ष का शिव को मान्यता प्रदान न करना और उन्हें यज्ञ में भाग देने से इनकार करना, इस बात का घोतक है कि प्राचीन ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी अपने धर्म में एक ऐसे देवता को स्थान देने के लिए तैयार नहीं थे, जिसके स्वरूप और जिसकी उपासना को वह अच्छा नहीं समझते थे। 'वायु पुराण' से हमें पता चलता है कि दीर्घकाल तक शैव-धर्म को मान्यता प्राप्त नहीं हुई थी; क्योंकि उसमें कहा गया है कि देवताओं में यह एक अति प्राचीन प्रथा थी कि यज्ञ में शिव को कोई भाग नहीं दिया जाता था। इस कथा के विभिन्न रूपों का विस्तृत निरीक्षण हम आगे चलकर करेंगे।

परन्तु शिव के प्रति यह प्राचीन विरोध-भावना बहुत समय पहले ही लुप्त हो चुकी थी, और जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, रामायण-महाभारत के समय तक शिव सर्वमान्य देवता हो गये थे। पुराण ग्रन्थों के समय तक शैव और वैष्णव यह दोनों मत ही ब्राह्मण धर्म के प्रमुख अंग हो गये थे। शैव मत का यह पदोत्कर्ष भक्तिवाद के उत्थान और उसके शैवमत का आधार बन जाने के कारण हुआ था। इससे शैवमत के

१. वराह० : अध्याय २२।

२. वायु० : ३०, ११२-१३।

वे लक्षण सामने आये जो भक्तिवाद के अनुकूल थे, और अन्य लक्षण जो इस भक्तिवाद के अनुकूल नहीं थे, पीछे पड़ गये। यद्यपि शैवों के कुछ वर्ग इनको भी मान्यता देते रहे, तथापि सर्वसाधारण में उनके प्रति अधिकाधिक असुचि होती गई और धीरे-धीरे शिवोपासना में उनके लिए कोई स्थान नहीं रहा तथा जो लोग उनके अनुयायी बने भी रहे, वे विधर्मी माने जाने लगे। इस प्रकार धीरे-धीरे शैवमत में सुधार होने से ही, वह अन्त में सर्वमान्य हुआ। इसके संकेत हमें रामायण-महाभारत में ही दीखने लगते हैं और पुराणों में तो ये प्रचुरता से पाये जाते हैं। 'लिंग' के आकार का रूढीकरण और उनकी उपासना की परिवर्तित विधि की हम चर्चा कर चुके हैं। शैवमत के प्राचीन आपत्तिजनक लक्षणों का कई प्रकार से समाधान किया गया। उदाहरणार्थ—ब्रह्माएड पुराण में शिव का कपालिन् स्वरूप, जिसे हम ऊपर देख भी चुके हैं। सौर पुराण में शैवों से अनुरोध किया गया है कि वे अपना एक आदर्श जीवन बनायें, जो वेदोत्तर-कालीन ब्राह्मण धर्म के नैतिक सिद्धान्तों के सर्वथा अनुकूल हो^१। जो ऐसा नहीं करते थे, उनकी निन्दा की जाती थी^२। सुधार की इस प्रक्रिया में हो सकता है कि वैष्णवमत के प्रभाव का भी कुछ हाथ रहा हो। प्रारम्भ से शिवभक्तों को यह अवश्य ज्ञात होगा कि यदि उनके आराध्यदेव और उनके मत को मान्यता प्राप्त करनी थी तो उन्होंने इन दोनों के स्वरूप को तत्कालीन सर्वमान्य सिद्धान्तों और नैतिक रत्तर के अनुकूल करना पड़ेगा। चूँकि विष्णु विशुद्ध रूप से एक आर्य देवता थे, अत वैष्णवमत शैवों के सामने सदा एक उदाहरण के रूप में रहा और अपने मत को लोकप्रिय और सर्वमान्य बनाने के लिए, जिसका अनुकरण करना उनके लिए आवश्यक था। सौर पुराण में एक स्थल पर उस समय का भी उल्लेख किया गया है, जब शैवमत की ओर बहुत कम लोग आकृष्ट होते थे^३। उसके अनुयायियों की संख्या बढ़ाने के लिए शैवों को अपने मत का उसी ढंग पर विकास करना पड़ा, जिस ढंग पर वैष्णव मत का विकास हो रहा था और उन वातों का परित्याग करना पड़ा जो इसके विरुद्ध जाती थीं। पुराणों के समय तक यह प्रक्रिया पूरी हो चुकी थी और वैष्णव तथा शैवमतों के मूल सिद्धान्तों और प्रमुख आचारों में प्रायः कोई अन्तर नहीं रह गया था। यद्यपि इस प्रकार शैवमत के कुछ प्राचीन रूपों का हास हो गया, तथापि उनपर आधारित शिव की अनेक उपाधियाँ बनी ही रहीं और अन्य उपाधियों के साथ उनका बराबर और सब स्थानों पर प्रयोग होता रहा।

शैव मत के साथ इसी समय में शिव की सहचरी देवी की स्वतन्त्र उपासना का भी विकास हो रहा था। रामायण-महाभारत का निरीक्षण करते हुए हमने देखा था कि आर्यों से पूर्वकालीन एक मातृदेवता का, रुद्र की सहचरी के रूप में, स्वीकार किये जाने पर इस देवी के दो मुख्य रूप हो गये थे। एक और तो वह भक्तिवाद की सौम्यरूपा शिवपत्नी थी, जिसकी उपासना भगवान् शिव के साथ हा होती थी, और दूसरी ओर वह एक भयावह

१. सौर० : ५०, ७१।

२. ,, : ३८, ५४।

३. ,, : ३८, ६०-१०।

शैव मत

११६

और शक्तिशाली देवता थी, जो उसका आदि रूप था। परन्तु जैसा शिव के सम्बन्ध में हुआ, वैसे ही इस देवी के ये दोनों रूप भी पृथक्-पृथक् नहीं रहे और बहुधा जब उनके एक रूप की उपासना होती थी, तब उनके दूसरे रूप की ओर भी अनेक संकेत किये जाते थे। यह बात पुराणों में और भी रपष्ट हो जाती है और इन दोनों रूपों के पूर्ण सम्मिश्रण की ओर संकेत करती है। उदाहरणार्थ जब उनका पार्वती के रूप में स्तवन होता है, तब प्रायः सदा ही उनके भीषण रूप की ओर भी संकेत किया जाता है, जिस रूप में वह दानवों का संहार करती है और महामाता कहलाती है। 'ब्रह्मवैर्त' पुराण के दुर्गा-काण्ड में देवी के इन दो रूपों का सम्मिश्रण अत्यन्त रपष्ट रूप से दिखाई देता है। इसके विपरीत पुराणों से हमें यह भी पता चलता है कि देवी के इन दोनों रूपों के मौलिक भेद का भी कुछ-कुछ ज्ञान उस समय भी था, और जब इन दोनों रूपों की 'वास्तविक उत्पत्ति' को लोग भूल गये तब इन रूपों का समाधान करने के लिए अनेक काल्पनिक और मनचाहे ढंग से व्याख्याएँ की गईं। उदाहरणार्थ 'वायु पुराण' में कहा गया है^१ कि देवी प्रारम्भ में आधी श्वेत और आधी काली थीं। फिर उन्होंने अपनेको दो रूपों में विभक्त कर लिया—श्वेत और काले रूप में। आज हम देवी के इस श्वेत और कृष्ण रूप के पीछे वैदिक रुद्र की गौरांग सहचरी और सिन्धुधाटी की संभवतः कृष्णवर्णा मातृदेवता के बीच एक जातीय भेद देख सकते हैं। इन दोनों देवताओं का अन्त में तादात्म्य हो गया और यही देवी के द्विविध रूप का रहस्य है। परन्तु पुराणों के समय तक इस जातीय भेद की स्मृति लोगों में विद्यमान हो, इसकी अधिक सम्भावना नहीं जान पड़ती; क्योंकि उस समय तक शिव की सहचरी के मातृदेवता-रूप की विजातीयता को लोग विल्कुल भूल गये थे। अतः देवी के इन दो वर्णों को अब उनके दो रूपों का प्रतीक माना जाता था और जब पार्वती के रूप में उनकी उपासना होती थी, तब उनका वर्ण श्वेत और जब उनके भयावह रूप की उपासना होती थी तब उनका वर्ण कृष्ण होता था। इसीसे मार्कंडेय पुराण के उस संदर्भ का भी समाधान हो जाता है, जिसमें कहा गया है कि दानवों के विश्वद चढ़ाई करने से पहले, देवी ने अपने-आपको अर्म्भिका से पृथक् कर लिया और इसपर उनका रंग काला हो गया^२।

देवी के सौम्य रूप में उनकी भगवान शिव की सहचरी के रूप में किस प्रकार उपासना होती थी, यह हम ऊपर देख चुके हैं। दूसरे रूप में, शिव की सहचरी माने जाने के बावजूद, देवी की उपासना खंतंत्र रूप से होती रही और होते-होते उसने एक अलग मत का रूप धारण कर लिया, जिसका अपना अलग साहित्य था और अपने-अलग श्रुति-ग्रन्थ तक थे। इन्हीं श्रुति-ग्रन्थों के अपरकालीन संस्करण 'तंत्र' कहलाये। इस मत में देवी की शक्ति के रूप में कल्पना किये जाने के कारण इस मत का नाम 'शाक्त मत' पड़ा। पुराण ग्रन्थों में इस मत के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं, और 'सौर पुराण' में तो 'कौलों' का नाम

१. मतस्य० : १५८, ११ और आगे; १७३, २२ और आगे। वराह० २८, २२ और आगे; ६६, ६६। सौर० ४६, ५ और आगे। अग्नि० ६६, १०० और आगे। वायु० ६, ८२-८६।

२. वायु० : ६, ८२ और आगे।

३. मार्क० : ८५, ४०-४१।

तक लेकर उल्लेख किया गया है, जो बाद में शाक्तों के एक उपसम्प्रदाय के रूप में पाये जाते हैं^१। प्राचीन मातृदेवता का शिव के सहचरी बन जाने से, शैव और शाक्त मतों में एक निकट सम्बन्ध स्थापित हो गया, जिसके कारण इन दोनों का एक दूसरे पर प्रभाव भी पड़ा। अतः यहाँ शाक्त मत के विकास का संक्षेप से थोड़ा-सा उल्लेख करना और यह देखना कि इसका शैव मत पर क्या प्रभाव पड़ा, अप्रासंगिक न होगा।

इस देवी के स्वरूप के विषय में बहुत कुछ तो हमें पुराणों से ही पता चल जाता है। उसकी सदा एक कूर और भयावह आकृतिवाली देवता के रूप में कल्पना की जाती है। उसके साधारण नाम 'चण्डिका', 'काली', 'दुर्गा' इत्यादि हैं। वह ज्वलन्तमुखी, तीक्ष्णदंष्ट्रा, करालाकृति हैं और एक या अनेक सिंहों पर आरूढ़ रहती हैं। उसके आठ अथवा बीस भुजाएँ हैं और उनमें वह विविध प्रकार के अस्त्र धारण करती हैं^२। जिस समय उसकी उपासना होती है, उसको सर्वश्रेष्ठ देवता माना जाता है और ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि सभी देवता उसकी आराधना करते हैं^३। उसके शक्ति स्वरूप का अब इतना विकास हो गया है कि उसको शिव की ही नहीं, अपितु सब देवताओं की शक्ति माना जाता है^४। यह शाक्त मत के दार्शनिक पहलू के विकास का परिणाम था, जिसमें देवी को आद्या प्रकृति और पुरुष की माया माना जाता था और विष्णु, शिव तथा अन्य देवताओं का इस पुरुष के साथ तादात्म्य किया जाता था। परन्तु मातृदेवता के रूप में इस देवी को सदा ही शिवपत्नी माना जाता था। इससे भी इस देवी की उपासना की उत्पत्ति पर प्रकाश पड़ता है। जिन संदर्भों में उनको सब देवताओं की शक्ति माना गया है, वहाँ भी केवल शिव की शक्ति के रूप में ही उनके मातृदेवता-स्वरूप का और उसकी उपासना का विस्तृत वर्णन किया गया है।

पुराणों में वर्णित देवी के इस रूप का प्रमुख कृत्य दानवों का संहार करना था। इन दानवों में सबसे बड़ा महिषासुर था। महिषासुर-वध की कथा अनेक पुराणों में दी गई है। इसके अतिरिक्त शुभ-निशुभ, कैटम और वेत्रासुर का वध भी देवी ने किया था। वेत्रासुर का वध करते समय उन्होंने कात्यायनी का रूप धारण किया था^५। इन सब वीर कार्यों में उनका कूर रूप ही प्रमुख है। चूँकि उनको पार्वती से भिन्न नहीं माना जाता था। अतः शिव-भक्त भी देवी की उपासना करते थे और यह उपासना प्रचलित उपासना विधि के अनुकूल ही थी। देवी की उपासना का विशेष दिवस 'उल्का नवमी' था, जो अब 'महानवमी' के नाम से प्रख्यात है। विश्वास किया जाता था कि इस दिन उन्होंने महिषासुर का वध किया था। इस पूजा का वर्णन 'सौर पुराण' में किया गया है^६। देवी को पुष्प, धूप, नैवेद्य, दूध, दही और फल भेंट किये जाते थे और भक्त जन श्रद्धा से उनका ध्यान करते थे

-
१. सौर० : ३८, ५४।
 २. वराह० : २८, २४, ६३; ४६, ५०। सौर० ४६, ६४। ब्रह्मवैर्त० भाग २, ६४, १४।
 ३. ब्रह्मवै० : ६४, ६, इत्यादि।
 ४. वराह० : ६०, १७ और आगे। ब्रह्मवैर्त० भाग २, ६४, ८, ४४ इत्यादि।
 ५. वराह० : अध्याय २८।
 ६. सौर० : ५०, २९, ४८।

और प्रार्थना करते थे। कन्याओं को भोजन कराया जाता था और उनको वस्त्र और आभूपूरणों के उपहार भी दिये जाते थे। इसी अवसर पर एक स्वस्थ गौ ब्राह्मण को दान की जाती थी। इस पूजा से जो पुण्य मिलता था, उसको भी बताया गया है। अन्त में कहा गया है कि जो देवी को इस प्रकार पूजते हैं, जो सच्चे शैव हैं, जो ब्राह्मणों और गौ का उचित आदर करते हैं, जो मांस और मद्य से विरक्त हैं और जो सदा जन-कल्याण में रत रहते हैं, उन्हीं से देवी प्रसन्न होती हैं। यह देवी की उपासना का ब्राह्मण धर्मानुकूल रूप है, जो शैवों में साधारणतया प्रचलित था। सम्भवतः वैष्णव भी इस देवी की कुछ-कुछ इसी प्रकार उपासना करते थे और देवी को विष्णु की शक्ति मानते थे। 'ब्रह्मवैवर्तं पुराणं' में तो 'वैष्णवी' रूप में देवी की उपासना का उल्लेख भी हुआ है।

देवी की उपासना के उपर्युक्त प्रकार के ठीक विपरीत इनकी उपासना का दूसरा प्रकार है, और इसके द्वारा इस देवी का प्रारम्भिक स्वरूप जो सारतः सर्वथा विजातीय था, जितना स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है, उतना और किसी बात से नहीं। रामायण-महाभारत में हमने देखा था कि अपने क्रूर रूप में इस देवी के सम्बन्ध में यह धारणा बनी थी कि उसे रक्त और मांस की बलि प्रिय है। पुराणों में यह और भी स्पष्ट ही जाता है। जब उनकी माहेश्वरी के रूप में कल्पना की जाती थी, तब उनको पशुबलि दी जाती थी^१। सम्भवतः उनको मद्य भी चढ़ाया जाता था; क्योंकि उन्हें मद्यप्रिय भी कहा गया है और महिषासुर से युद्ध करते समय मदिरा-पान करके वह ताजा दम होती थीं^२। उनको बकरे, भेड़ और भैंसे का मांस विशेष प्रिय था। देवी के इस रूप की जो लोग उपासना करते थे, वे कभी भी वही नहीं हो सकते थे, जो उनके सौम्य रूप की उपासना करते थे। इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि देवी की उपासना का दूसरा प्रकार वह है जो प्रारम्भ में इनके प्राचीन आर्यों तर उपासकों में प्रचलित था। वे और उनके वंशज आर्य प्रभाव के अन्तर्गत आ जाने के बाद भी उसी पुराने ढंग से देवा की उपासना करते रहे। यही नहीं, जैसे-जैसे यह देवी अन्य आदिवासी जातियों की स्त्री देवताओं को—जिनकी उपासना भी इसी प्रकार रक्त और मांस की वलियों द्वारा होती थी—आत्मसात् करती गई, वैसे-वैसे देवी के इस रूप और इस रूप का उपासना-विधि को और बल मिलता गया। इन आदिवासी जातियों की स्त्री-देवताओं के आत्मसात् किये जाने के कुछ चिह्न तो हमने रामायण-महाभारत में भी देखे थे। पुराणों में ऐसे ही अन्य संकेत मिलते हैं। 'ब्रह्मवैवर्तं पुराणं' में स्पष्ट कहा गया है कि दुर्गा की उपासना अनेक ग्रामों में होती थी और इसी कारण उनको 'ग्रामदेवता' कहा जाता था। ठीक यही नाम उन स्थानीय स्त्री देवताओं का भी था, जिनकी उपासना आदिवासी जातियों में प्रचलित थी^३। इसके अतिरिक्त पुराणों में अनेक निम्नकोटि के स्त्री-देवताओं का भी उल्लेख मिलता है, जिनको 'मातृकाएँ' कहा गया है और जिनकी

१. ब्रह्मवैवर्त० : भाग २, ६४, ४४।

२. ब्रह्मवैवर्त० : भाग २; ६४, ४८ और आगे।

३. मार्कंडेय० : अध्याय ८३।

४. ब्रह्मवैवर्त० : भाग १; ६, ४।

उत्पत्ति के विषय में यह माना जाता है कि उनको भगवान् शिव ने दानवों के विरुद्ध संग्राम में आपना सहायता के लिए पैदा किया था १। वह क्रूर, रक्त पीनेवाली हैं, और उनका स्वरूप लगभग वैसा ही है जैसा आदिवासी जातियाँ द्वारा उपरिथित स्थानीय स्त्री-देवताओं का। इस रूप में देवी का नाम 'विन्ध्यानिलय' है, जिससे यह फिर स्पष्ट व्यक्त होता है कि उन्होंने विन्ध्य प्रदेश में पूजा जानेवाली किसी देवी को आत्मसात् कर लिया था। 'वराह पुराण' में कहा गया है कि मातृकाएँ अथवा देवियाँ, स्वयं महादेवी के अद्वितीय से उत्पन्न हुई थीं २। अन्त में देवी द्वारा इन स्थानीय स्त्री-देवताओं के आत्मसात् किये जाने का सबसे असंदिग्ध प्रमाण यह है कि आजतक, देश के विभिन्न भागों में, प्रायः सब स्थानीय स्त्री-देवताओं को दुर्गा अथवा महाकाली के विभिन्न रूप ही माना जाता है। इस प्रकार देवी के उपासकों में अब उनके मूल उपासक ही नहीं, अपितु वे सब लोग भी शामिल हो गये, जो पहले उन स्थानीय स्त्री-देवताओं को पूजते थे, जिनका अस्तित्व अब इस महादेवी में विलीन हो गया था। हो सकता है कि देवी के स्वरूप और उपासना के कुछ अंश, जैसे कि रक्तपान में उनकी रुचि, और उनको भैंसे की वलि देना, इन स्थानीय देवताओं की उपासना विधि से लिये गये हों।

देवी के इस रूप का आर्थेतर होना इस बात से भी प्रमाणित होता है कि उनको कभी कभी नरवलि भी दी जाती थी। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में जब उनके प्रिय पशु-वलियों का उल्लेख किया गया है, तब उनमें नरवलि (जिसका यहाँ एक विशेष नाम 'मयति' दिया गया है) सबसे अधिक प्रिय बताई गई है ३। नर-वलि के लिए उपयुक्त प्राणी छाँटने के सम्बन्ध में भी विस्तृत आदेश दिये गये हैं, जिससे ज्ञात होता है कि उस समय तक नर-वलि देने की प्रथा लुप्त नहीं हुई थी। वलि के लिए ऐसे युवा पुरुष की आवश्यकता थी, जो मातृ-पितृ-विहीन हो, जो रोगमुक्त हो, दीक्षित हो और सदाचारी हो। उसको उसके बन्धुओं से खरीद लिया जाता था, और यह भी आवश्यक था कि वह रवयं खुशी से वलि चढ़ाये जाने के लिए राजी हो। जो कोई ऐसी वलि देवी को देता है, उससे देवी अत्यन्त प्रसन्न होती है और उसपर देवी का अनुग्रह होना निश्चित है। सचमुच ही यहाँ हम एक अत्यन्त क्रूर और भयावह देवता का साक्षात्कार करते हैं, जो रक्त और मांस-वलियों में आनन्द लेती है और जिसका स्वरूप और रूपमात्र तथा जिसकी उपासना सामान्य ब्राह्मण-धर्म के इतना प्रतिकूल है कि हम यह निष्कर्ष निकाले विना नहीं रह सकते कि इस देवता और उसकी उपासना की उत्पत्ति सर्वथा आर्थेतर स्रोतों से हुई है। पुराण-ग्रन्थों से हमें यह भी पता चलता है कि यद्यपि इस उपासना का मूलोच्छेद नहीं किया गया, तथापि ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी इसकी घोर निन्दा करते थे। हमने ऊपर देखा है कि 'सौर' पुराण में 'कौलों' को विघर्मी माना गया है। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में कहा गया है कि जब विष्णु ने शिव से देवी को अपनी सहचरी बनाने के लिए कहा, तब शिव ने इनकार कर दिया और बड़े कड़े शब्दों में

१. मरथ्य० : १७६, ६ और आगे।

२. वराह० : अध्याय ६६।

३. ब्रह्मवै० : भाग २; ६४, ६२, १०० और आगे।

देवी की निन्दा की। उन्होंने बतलाया कि वह सच्चे ज्ञान की प्राप्ति में वाथक है, वह योग का द्वार बन्द करनेवाली है, वह मोक्ष की इच्छा की साक्षात् ध्वंसरूपिणी है, वह महान् अज्ञान फैलाती है, इत्यादि^१। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस रूप में देवी की उपासना को अत्यन्त गर्हित माना जाता था।

देवी के इस रूप की उपासना के विषय में पुराणों में जो कुछ कहा गया, वह वास्तव में तंत्र साहित्य के पूरक के रूप में है। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं पौराणिक युग में देवी की उपासना धीरे-धीरे एक पृथक् मत का रूप धारण कर रही थी। यह मत शाक्त मत कहलाता था और इसके अनुयायी शाक्त कहलाते थे। इस मत का उद्भव विजातीय होने के कारण और उसके साथ जो कतिपय प्रथाएँ चल पड़ी थीं, उनके कारण भी, दीर्घिकाल तक इस मत को मान्यता प्राप्त नहीं हुई। शाक्तोंने अपने मत को मान्यता दिलाने का भरसक प्रयत्न किया। पहले तो उन्होंने आयों के श्रुति-ग्रन्थों से ही अपने सिद्धान्तों की प्रामाणिकता सिद्ध करने का प्रयास किया और फिर उन्होंने अपने नये श्रुति-ग्रन्थ तैयार किये। यह ग्रन्थ 'तंत्र' नाम से प्रसिद्ध हुए और शाक्तों के लिए उनकी वही प्रामाणिकता थी जो ब्राह्मण धर्म के अनुयायियों के लिए वैदिक और पौराणिक ग्रन्थों की। ब्रह्मवैवर्त पुराण में इन तंत्रों का नाम लेकर उल्लेख किया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि उस समय उनकी रचना हो चुकी थी^२। परन्तु जो तंत्र ग्रन्थ अब उपलब्ध हैं, वे अपेक्षाकृत अपरकालीन हैं, यद्यपि उनमें से अनेक प्राचीन ग्रन्थों के नवीन संस्करण मात्र हैं, और उनमें बहुत कुछ सामग्री संचित है। इनमें से जो सबसे प्रमुख ग्रन्थ हैं और जिनमें सबसे अधिक मात्रा में प्राचीन सामग्री भी मिलती है, उनसे हमें पौराणिक युग में और उसके तुरन्त बाद के समय में शाक्त मत का जो स्वरूप वर्णित मिलता है, उसका अच्छा ज्ञान हो जाता है। इन ग्रन्थों में स्वभावतः देवी को सर्व-श्रेष्ठ देवता माना गया है और उसी के इदं-गिर्द शाक्तों की समस्त उपासना केन्द्रित है। परन्तु शैव मत का प्रभाव भी यहाँ तक दृष्टिगोचर होता है कि देवी को सदा शिव की सहचरी माना गया है। देवी के स्वरूप में भी, जो प्रायः क्रूर ही रहता है, बहुत से अंश शिव के क्रूर रूप से लिये गये हैं। उदाहरणार्थ 'काली तन्त्र' में देवी के स्वरूप का जी वर्णन किया गया है, वह शिव के कपालिन् रूप से बहुत कुछ मिलता है। उनका मुख कराल है, केश विखरे हुए हैं, वह कपालों की माला से विभूषित है और हाथ में सद्यःछिन्न नरमुण्ड लिये हुए हैं^३। वह कृष्णवर्णी हैं दिग्म्बरी हैं और शमशान भूमि में विहार करती हैं। इस प्रकार वह प्रायः कपालिन् शिव का स्त्री रूप ही है। इसके अतिरिक्त वह विभिन्न रूपों में प्रकट होती हैं, जिनके अलग-अलग नाम हैं; जैसे—'तारा' 'महाविद्या', 'भवानी' इत्यादि। इनमें से प्रत्येक रूप के अपने-अपने विशिष्ट लक्षण हैं; परन्तु सब समान रूप से क्रूर और भयावह हैं। 'प्रपञ्चसार तंत्र' में भी देवी का लगभग ऐसा ही

१. ब्रह्मवै० : भाग १, ६, ६, और आगे।

२. ब्रह्मवै० : भाग १, ६, २२।

३. काली० : १, ३ और आगे।

४. , : अध्याय ३।

वर्णन मिलता है'। वहाँ उनका नाम 'त्रिपुरा' है। इस नाम से फिर शिव के स्वरूप के प्रभाव का संकेत मिलता है। अन्य तंत्र ग्रंथों में देवी के स्वरूप को एक दार्शनिक आधार देने का प्रयत्न किया गया है और यह प्रयत्न पुराणों के ढंग पर ही किया गया है। अन्तर केवल इतना है कि यहाँ देवी को शक्ति के रूप में, जो सुष्ठु का सक्रिय तत्त्व है, उस पुरुष से ऊँचा स्थान दिया गया है, जो अपनी शक्ति के कार्यों का एक निष्क्रिय साक्षी मात्र है। इस दृष्टि से शाक्तमत वेदान्त की अपेक्षा सांख्य की स्थिति के अधिक निकट है। देवी का आदि स्वरूप कुछ तंत्र ग्रंथों में वर्णित उनकी उपासना-विधि से प्रकट हो जाता है। यह विधि 'चक्रपूजा' कहलाती थी, जो अपने विविध रूपों में शाक्त उपासना की सामान्य विधि थी। अपने मूल रूप में अतिशय आनन्दोद्रेक और उच्छृंखल मत्त-विलास इस उपासना के प्रमुख अंग होते थे। इसका वर्णन 'कुलार्णव' तंत्र में किया गया है^१। कालान्तर में भी इसका प्रचार शाक्त मत के वामपक्षीय अनुयायियों में बना रहा, जो 'वामचारी' अथवा 'वाममार्गी' कहलाते थे। इस उपासना में मैथुन को जो महत्व दिया गया है, और पूजा के दौरान में उपासक जो मदमत्त होकर उच्छृंखल विलास में लीन हो जाते थे, इससे विलकुल रपष्ट हो जाता है कि यह देवी प्रारम्भ में एक उर्वरता-सम्बन्धी देवता थी। उसकी उपासना में यह सारी क्रियाएँ किसी दुर्भावना से अभिभूत होकर नहीं की जाती थीं; अपितु सच्चे और पूर्ण विश्वास के अधीन की जाती थीं कि इन कृतियों से धरती और पशु-पक्षियों की उर्वरता बढ़ती है। अतः इन कृतियों का देवी की उपासना में एक विशिष्ट और महत्वपूर्ण स्थान था। तन्त्रों में देवी का जो स्वरूप वर्णन किया गया है, उससे भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। उदाहरणार्थ कहा गया है कि देवी बहुधा अपने पति के साथ संभोग में रत रहती हैं और इस संभोग से उन्हें सबसे अधिक प्रसन्नता होती है^२। विलकुल यही बात बेवीलोनिया की देवी 'इश्तर' के सम्बन्ध में भी कही जाती थी। 'तंत्रराज तंत्र' उनका कामदेव के साथ साहचर्य भी इसी बात का योतक है^३। परन्तु यह सब ब्राह्मण धर्म के सर्वथा प्रतिकूल था तथा देवी की इस उपासना की निन्दा और अमान्यता का यही कारण था। स्वयं तंत्र ग्रंथों में इस बात के अनेक संकेत मिलते हैं कि प्रारम्भ में इस शाक्तमत को लोग बुरा समझते थे और इसे मान्यता नहीं देते थे। शाक्त अपने संस्कार लुक-छिप कर करते थे, जबकि वैदिक और पौराणिक संस्कार प्रत्यक्ष रूप से किये जाते थे^४। इसका कारण यह ही सकता है कि शाक्तों को अपने पकड़े जाने और दण्डित होने का डर था। 'कुलार्णव तंत्र' में कहा गया है कि भगवान् शिव ने तन्त्र का रहस्य ब्रह्मा और विष्णु को नहीं बताया। इसका यह अर्थ लगाया जा सकता है कि इन देवताओं के उपासकों से शाक्त मत को कोई

१. प्रपञ्चसार० : ६, ८।

२. कुलार्णव० : ८, ७३ और आगे।

३. काली० : १, ३ इत्यादि।

४. तंत्रराज० : ७, ११।

५. कुलार्णव० : २, ६; ३, ४-५। तंत्रराज० १, ६। कुलचूडामणि० १, १८-३१।

समर्थन नहीं मिला ॥ १ ॥ एक अन्य स्थल पर शाक्तों का जो उपहास होता था और उनपर जो सखियाँ की जाती थीं, उनका भी उल्लेख किया गया है ॥ २ ॥ बाद में अपने मत के लिए मान्यता प्राप्त करने के लिए, और उसको सम्मानित बनाने के लिए, सांख्य ने जिस पुरुष तथा प्रकृति के सिद्धान्त का विकास किया था, उसका शाक्तमत में समावेश किया गया और देवी को पुरुष की शक्ति माना जाने लगा । उपासना-विधि में भी कुछ सुधार करने का प्रयत्न किया गया जिससे वह ब्राह्मण धर्म के अधिक अनुकूल हो जाय । यह स्थिति महानिर्वाण तंत्र में पाई जाती है, जो स्पष्ट ही बाद के समय का है ॥ ३ ॥ इसमें इस बात पर जोर दिया गया है कि जो मांस और मध्य-उपासना में काम आये, उसको विधिवत् परिशुद्ध किया जाय । उच्छ्रुत्खल व्यवहार और अतिशय मध्यपान का पूर्ण निषेध किया गया है । इन सुधारों के फलस्वरूप शाक्तमत में दक्षिण मार्ग का प्रादुर्भाव हुआ, जिसके अनुयायियों का आचरण सर्वथा वैसा ही लोक-सम्मानित होता था जैसा ब्राह्मण धर्म के अनुयायियों का । उनकी उपासना-विधि भी परिष्कृत थी ॥ ४ ॥ इनके संस्कार भी लुक-छुप कर नहीं, अपितु प्रत्यक्ष रूप से किये जाते थे; क्योंकि अब उनको गुप्त रखने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह गई थी । महानिर्वाण तंत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि समस्त तांत्रिक उपासना प्रत्यक्ष रूप से की जानी चाहिए ॥ ५ ॥

पुराणों में गणेश भी एक स्वतंत्र देवता के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं और उनकी उपासना भी अब अपनी विकसित अवस्था में दिखाई देती है । सूत्र-ग्रन्थों में हमने देखा था कि इस देवता का आदि स्वरूप एक उपद्रवी 'विनायक' का था और सम्भवतः प्रारम्भ में वह रुद्र का एक रूप था । पुराणों में हमें गणेश के इस प्राचीन स्वरूप के और रुद्र तथा गणेश के प्रारम्भिक तादात्म्य के और संकेत मिलते हैं । 'मत्स्य पुराण' में ब्रह्मा ने गणेश को 'विनायकपति' कहा है ॥ ६ ॥ 'वराह पुराण' में इनका उल्लेख एक उपद्रवी जीव के रूप में किया गया है, जिसकी सूष्ठि केवल इस उद्देश्य से हुई थी कि वह सदाचारी मत्यों के कार्यों में विघ्न डाले । शिव ने गणेश को विनायकों का नेता बना दिया था और यह विनायक 'क्रूरदशा:' और 'प्रचण्डा:' कहे गये हैं ॥ ७ ॥ 'अग्नि पुराण' में कहा गया है कि गणेश को ब्रह्मा, विष्णु और शिव ने मानवों को अपने उद्देश्यपूर्ति से वंचित रखने के लिए और साधारण रूप से उनके कार्यों में विघ्न डालने के लिए उत्पन्न किया था ॥ ८ ॥ विनायक-ग्रस्त होने के दुष्परिणाम भी बताये गये हैं । सूत्रग्रन्थों में विनायकों का जो वर्णन किया

-
१. कुलार्णव० : २, ४ ।
 २. " : २, ५१, ५२ ।
 ३. महानिर्वाण० : ५, २०६ और आगे ।
 ४. " : ७, १५४ और आगे ।
 ५. " : ४, ७६ ।
 ६. मत्स्य० : १५४, ५०५ ।
 ७. वराह० : २३, २७-२८ ।
 ८. अग्नि० : अभ्यास २६६ ।

गया है, यह सब कुछ उसी के समान है। 'ब्रह्म पुराण' के एक संदर्भ में भी गणेश का यही स्वरूप दिया गया है, जहाँ उनका एक दुष्ट जीव माना गया है जो देवताओं के यज्ञ में विघ्न डालता है^१। इस प्रकार गणेश का विनायक रूप तो निश्चित हो जाता है। अब 'वराह पुराण' में कहा गया है कि इस 'विनायक' को शिव ने उत्पन्न किया जो साक्षात् रुद्र ही है^२। अन्य पुराणों में भी गणेश को बहुधा शिव की विशिष्ट उपाधियाँ दी जाती हैं। उदाहरणार्थ 'अग्नि पुराण' में उनको 'त्रिपुरान्तक' कहा गया है, उनकी भुजाओं में सर्प लिपटे हुए हैं और उनके ललाट पर चन्द्र विराजमान है^३। 'ब्रह्मवैर्त पुराण' में गणेश को 'ईश' की उपाधि दी गई है और उनको सिद्धों और योगियों का आचार्य कहा गया है^४। यह भी शिव का ही विशिष्ट कार्य है। इसके विपरीत शिव को भी प्रायः गणेश की विशिष्ट उपाधियाँ दी जाती हैं। उदाहरणार्थ 'वायु पुराण' में शिव को 'गजेन्द्रकर्ण', 'लम्बोदर' और 'दंष्ट्रिन्' कहा गया है^५। 'ब्रह्म पुराण' में भी गणेश की कुछ उपाधियाँ शिव को दी गई हैं^६। उपाधियों का यह आदान-प्रदान स्पष्ट रूप से इन दोनों देवताओं के प्रारम्भिक तादात्म्य को सूचित करता है। इसके अतिरिक्त पुराणों में हमें एक और प्रमाण भी मिलता है जिससे शिव और गणेश का प्रारम्भिक तादात्म्य निश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है। यजुर्वेद में हमने देखा था कि रुद्र का मूषक के साथ साहचर्य किया गया था और मूषक को उनका विशेष पशु माना जाता था। 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में विधिवत् इस मूषक का शिव को समर्पण किया गया था। परन्तु वैदिक युग के बाद कहाँ भी शिव के सम्बन्ध में मूषक का उल्लेख नहीं किया जाता है। साथ ही इसके स्थान पर वृषभ को शिव का विशेष वाहन बताया गया है। पुराणों में इस मूषक का गणेश के साथ उसी प्रकार उल्लेख होता है, जिस प्रकार वैदिक साहित्य में उसका रुद्र के साथ होता था^७। इससे असंदिग्ध रूप से यह सिद्ध हो जाता है कि स्वयं वैदिक रुद्र को ही एक रूप में विनायक माना जाता था, और इसी रूप में उनको हस्तिमुख भी कल्पित किया जाता था तथा मूषक को उनका विशेष पशु माना जाता था। रुद्र का यही रूप आगे चलकर एक स्वतंत्र देवता के रूप में विकसित हुआ, जो पहले 'विनायक' और बाद में 'गणेश' कहलाया। 'सौर पुराण' में एक स्थल पर स्पष्ट कहा गया है कि गणेश वात्स में शिव ही हैं^८। अन्त में पुराण ग्रन्थों में गणेश को शिव का पुत्र माना गया है। यह सम्बन्ध भी उनका प्रारम्भिक तादात्म्य के पक्ष में ही जाता है; क्याकि देवकथाओं में इस प्रकार के सम्बन्ध बड़ी सुगमता

-
- | | | |
|--------------|---|--------------------------------------|
| १. ब्रह्म० | : | ४०, १२६; ११४, ४ और आगे। |
| २. वराह० | : | २३, १४ और आगे (साक्षात् द इवापरः)। |
| ३. अग्नि० | : | ३४८, २६। |
| ४. ब्रह्मवै० | : | भाग ३, १३, ४१ और आगे। |
| ५. वायु० | : | २४, १४७; ३०, १८३। |
| ६. ब्रह्म० | : | ४०, १५। |
| ७. ,, | : | १११, १५ इत्यादि। |
| ८. सौर० | : | ४३, ४८। |

से स्थापित हो जाते हैं। सूत्रग्रन्थों में हमने देखा ही था कि 'भव' और 'शर्व' तक को, जो प्रारम्भ में रुद्र के ही दो नाम थे, शिव का पुत्र माना जाने लगा था।

पुराणों में शिव और गणेश के प्रारम्भिक तादात्म्य के संकेत तो अवश्य मिलते हैं; परन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि इस तादात्म्य का ज्ञान लोगों को उस समय भी था। पौराणिक युग तक गणेश ने पूर्ण रूप से एक खतंत्र देवता का रूप धारण कर लिया था तथा उनको शिव और पार्वती का पुत्र माना जाता था। 'स्कन्द' के अनुसार ही शिव और गणेश के भी पिता-पुत्र सम्बन्ध का समाधान करने के लिए पौराणिक कथाकारों ने कथानिर्माण के साधन को अपनाया था और इस प्रसंग को लेकर अनेक कथाएँ प्रचलित हो गईं थीं। उपलब्ध पुराण ग्रन्थों में बहुत-सी कथाएँ पाई जाती हैं। 'मत्स्य पुराण' की कथा के अनुसार एक बार पार्वती ने जिस चूर्ण से अपने शरीर को मला था, उसका एक खिलौना बनाया, जिसका सिर हाथी के सिर-जैसा था। इस खिलौने को जब उन्होंने गंगा के जल में डुबोया, तब वह प्राणवान् हो गया और पार्वती तथा गंगा दोनों ने उसे अपना पुत्र माना। बाद में ब्रह्मा ने उसको विनायकों का नेता बना दिया^१। 'वराह पुराण' में कथा इस प्रकार है कि जब पृथ्वी पर सब मानव पूर्ण सदाचारी हो गये और नरक खाली हो गया तथा यमराज को कोई काम करने को न रहा, तब देवताओं के अनुरोध पर भगवान् शिव ने गणेश को इसलिए उत्पन्न किया कि वह इन मानवों के कार्यों में विघ्न डाले^२। शिव ने उसे अपना ही रूप दिया; परन्तु जब पार्वती उसे अतिशय स्वेह-भरी दृष्टि से देखने लगीं, तब शिव को ईर्ष्या हुई और उन्होंने इस नवजात देवता का शाप दे दिया कि वह हस्तिशिरः का सिर, लग्बोदर और अन्य अंगविकार वाला हो जाय। इसके विपरीत 'लिंग पुराण'^३ में कहा गया है कि जब देवताओं ने भगवान् शिव से प्रार्थना की कि वह कोई ऐसा जीव उत्पन्न करें जो सब विघ्नों का नाश करनेवाला हो, तो शिव ने स्वयं गणेश के रूप में जन्म लिया।

अन्य पुराणों में जो कथाएँ दी गई हैं, वे कुछ भिन्न हैं और संभवतः कुछ बाद की भी हैं। 'ब्रह्मवैर्त पुराण' में विष्णु शिव को वचन देते हैं कि उनके पार्वती से एक पुत्र होगा जो सब विघ्नों का नाश करनेवाला होगा^४। तदनन्तर एक बूढ़े ब्राह्मण का रूप धर और शिव के आवास पर पहुँचकर विष्णु ने शिव तथा पार्वती के सहवास को भंग किया। फिर स्वयं एक शिशु का रूप धर पार्वती की शश्या पर लेट गये, जहाँ पार्वती ने उन्हें पाया और अपना पुत्र कहकर उनका सहर्ष स्वागत किया। आगे चलकर कथा में कहा गया है कि जब पार्वती के निरन्तर अनुरोध पर शनि ने गणेश का ओर देखा, तब गणेश का सिर धड़ से अलग होकर गिर पड़ा। इसपर विष्णु ने एक हाथी का सिर मँगाकर उसके स्थान पर जोड़ दिया। इस कथा में गणेश को विष्णु का अवतार माना गया है और स्पष्ट ही इस कथा की उत्तिवैष्णव-प्रभाव के अन्तर्गत हुई है।

१. मत्स्य० : १५४, ५०१ और आगे।

२. वराह० : अध्याय २३।

३. लिंग० : भाग १, १०४-१०५।

४. ब्रह्म० : भाग ३, अध्याय ७-८।

सबकुछ देखते हुए पुराणों में गणेश के स्वरूप को काफी स्तुत्य बना दिया गया है। शिव और पार्वती के स्वरूप में भी इसी प्रकार सुधार किया गया था। गणेश के स्वरूप को तत्कालीन ब्राह्मण धर्म के अनुकूल बनाया गया। प्रारम्भ में उनकी उपासना इसलिए होती थी कि वह मनुष्य के कार्यों में वाधा न डालें। इसके बाद उनको विभिन्नों का देवता माना जाने लगा और विभानश के लिए उनकी पूजा की जाने लगी। इस स्थिति से एक कदम आगे चलकर गणेश का विभन्नाशक देवता के रूप में कल्पना किया जाना एक रवाभाविक बात थी। इस प्रकार गणेश, जो प्रारम्भ में एक उपद्रवी और अहितकारी देवता थे, अब एक कल्याणकारी देवता हो गये तथा प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में निर्विघ्न पूर्ति के लिए उनकी पूजा होने लगी^१। उनकी पूजा की विशेष तिथि माघ मास में शुक्लपक्ष की चतुर्थी थी। इस दिन की पूजा का वर्णन 'अग्नि-पुराण' में किया गया है^२। उनको जो उपहार दिये जाते थे, उनमें 'उल्कान्त' और विविध प्रकार के मिठान्न तथा धूप आदि होते थे। मिठान्न उनका प्रिय उपहार था। 'अग्नि-पुराण' में उनकी साधारण उपासना-विधि का भी विवरण दिया गया है^३। एक 'मण्डल' का निर्माण किया जाता था जिसे 'विभ्रमदन' अथवा 'विभ्रसूदन' कहा जाता था और इसके बीच भाग में गणेश की मूर्ति की स्थापना की जाती थी। इससे अगले अध्याय में जा सम्भवतः बाद का है, गणेश का एक विशेष मंत्र भी दिया गया है जो उनकी पूजा करते समय जपा जाता था और जिसके साथ ही उन्हें उपहार मेंट किये जाते थे।

कालान्तर में गणेश की उपासना का भी एक स्वतंत्र मत बन गया। इस मत के अनुयायियों का भी शैवों और वैष्णवों के समान एक सम्प्रदाय बन गया। इन्हीं की तरह ये भी अपने आराध्यदेव गणेश को सर्वश्रेष्ठ देवता मानते थे। यह लोग 'गाणपत्य' कहलाने लगे और इन्होंने अपने एक अलग पुराण का भी निर्माण कर लिया जो 'गणेश पुराण' के नाम से प्रसिद्ध है। इस पुराण के अनुसार गणेश ही विश्व के स्थान, धर्ता और संहर्ता है^४। वह महाविष्णु हैं, सदाशिव हैं, महाशक्ति हैं और महाब्रह्म हैं^५। केवल वही चिन्तन, जिससे इस एक गणेश के इन विभिन्न रूपों की सारभूत एकता की अनुभूति होती है, सच्चा योग है^६। आगे चल कर कहा गया है कि जिस प्रकार विष्णु अवतार लेते हैं, उसी प्रकार गणेश भी वारम्बार लोक-कल्याण के लिए अवतार लेते हैं। विष्णु, शिव और अन्य सब देवता गणेश से ही प्रादुर्भूत होते हैं और अन्त में उन्हीं में विलीन हो जाते हैं^७। एक श्लोक में साम्प्रदायिक पक्षपात की भलक भी

१. अग्निः : ३१८, ८ और आगे।

२. ,, : अध्याय १७६।

३. ,, : अध्याय ३१३।

४. गणेशः : १, २०-२८।

५. ,, : १, २०-२८।

६. ,, : १, २०।

७. ,, : ३, ७।

मिलती है, और कहा गया है कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव के उपासकों का तो मोक्ष-प्राप्ति के बाद भी पतन हो सकता है; परन्तु गणेश के सच्चे भक्तों को ऐसा कोई भय नहीं है^१।

पौराणिक युग में शैव मत के सम्बन्ध में अन्तिम बात जो हमें देखनी है, वह है—शैव देवकथाएँ जिनका इस समय तक पूर्ण विकास हो चुका था। रामायण-महाभारत में जो कथाएँ हैं, वह पुराणों में अधिक विस्तृत रूप से दी गई हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि कहीं-कहीं कथा का वास्तविक अर्थ ही लुप्त हो गया है। अनेक नई कथाओं का भी प्रादुर्भाव हो गया था और शिव तथा पार्वती के विविध रूपों को लेकर अनगिनत छोटे-छोटे किसे भी प्रचलित हो गये थे। इन सबके साथ यदि हम उन कथाओं को भी जोड़ दें, जिनका सम्बन्ध गणेश से था, तो शैव मत सम्बन्धी देवकथाओं का एक बहुत बड़ा भरण्डार हो जाता है। इन सबका विस्तृत विवेचन एक स्वतंत्र ग्रन्थ के लिए एक अच्छा विषय बन सकता है। यहाँ हम कुछ प्रमुख कथाओं को लेकर ही यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि उनमें शैवमत के स्वरूप और इतिहास के विषय में हमें क्या सामग्री मिलती है? रामायण-महाभारतवाली कथाओं का क्रम खत्ते हुए, हम पहले स्कन्द-जन्म की कथा को लेते हैं। यह तो हम देख ही चुके हैं कि कार्तिकेय अथवा स्कन्द को रामायण-महाभारत के काल में ही शिव का पुत्र माना जाने लगा था। प्रारम्भ में स्कन्द के पिता अभिन थे, इस बात की स्मृति पुराणों तक बिलकुल लुप्त हो गई थी। एक-दो स्थानों पर इसका एक हलका-सा संकेत मिलता तो है^२; परन्तु यहाँ तक स्कन्द-जन्म की कथा का सम्बन्ध है, उसमें शिव को ही स्कन्द का जनक माना गया है। यह कथा अब एक बड़ी कथा का भाग बन गई है, जिसमें 'दद्यश्विवंस', 'शिवपार्वती-परिणय' और 'मदनदहन' की कथाएँ भी सम्मिलित हैं। इस कथा के विभिन्न रूप भी हो गये हैं, जिनको दो श्रेणियाँ में बाँटा जा सकता है। पहली श्रेणी में कथा का प्रारम्भ देवताओं का अपनी सेनाओं के लिए एक सेनापति की खोज करने से होता है। महाभारत में स्कन्द-जन्म की कथा का जो मूल रूप मिलता है, उसका प्रारम्भ भी इसी प्रकार होता है। इस रूप में यह कथा 'वराह पुराण' में दी गई है^३। जब देवताओं को दानवों ने बार-बार पराजित किया, तब उन्होंने एक नया सेनापति ढूँढ़ने का संकल्प किया और ब्रह्मा के परामर्श से वे शिव के पास गये। यहाँ तक तो यह कथा महाभारत की कथा के अनुसार ही है; परन्तु इसके आगे वह एक नई दिशा में चलती है। शिव ने देवताओं की प्रार्थना स्वीकार कर ली और तत्काल अपनी शक्ति को संकुञ्ज करके उससे एक देवीप्यामान देवता प्रादुर्भूत किया, जो अपने विशेष अस्त्र (शक्ति) को हाथ में धारण किये प्रकट हुआ। यह कथा स्पष्ट ही बाद की है और इसमें अग्नि की कहीं भी चर्चा नहीं है। दूसरी श्रेणी की कथाओं का प्रारम्भ इस प्रकार होता है कि शिव और पार्वती जब दीर्घकाल तक सहवास में लीन रहे, तब देवतागण घबरा उठे।

१. गणेश० : ६, १६।

२. मत्स्य० : ५, २६।

३. वराह० : २५, ५२ और आगे।

महाभारत में इस कथा का जो रूप है, उसके निकटतम सौर पुराण की कथा है^१। इसमें कहा गया है कि विवाहोपरान्त शिव-पार्वती के इस दीर्घकालीन सहवास से समरत विश्व में अव्यवस्था फैल गई। इससे देवतागण संत्रस्त हो गये, और विशेष कर तब जब नारद ने उन्हें बताया कि ऐसे बलशाली माता-पिता की सन्तान समस्त देवमण्डल से अधिक शक्ति-शाली होगी। विष्णु ने भी देवताओं को यही चेतावनी दी। इसपर देवताओं ने पहले अग्नि को शिव-पार्वती के सहवास को भंग करने के लिए भेजा। परन्तु पार्वती के सिंह को देखते ही अग्निदेवता जब भयभीत होकर भाग खड़े हुए, तब सब देवता मिल कर शिव के पास गये और उनसे अनुनय किया कि वह पार्वती से कोई सन्तान उत्पन्न न करें। शिव मान गये; परन्तु अपने वीर्य के लिए कोई उपयुक्त पात्र माँगा। देवताओं ने अग्नि को ही दिया। इससे आगे की कथा खबरं शिवजी पार्वती से बताते हैं कि जब अग्नि उनके वीर्य को धारण नहीं कर सके, तब उन्होंने उसे गंगा में फेंक दिया। उसको सहन न कर सकने पर गंगा ने भी उसे कृत्तिकाओं को दे दिया, जिन्होंने उसे शरवण में रख दिया और वहाँ स्कन्द का जन्म हुआ। इसपर पार्वती देवताओं को शाश्वत रूप से निःसन्तान रहने का शाप देती हैं और यहाँ कथा का अन्त होता है। ‘ब्रह्मवैवर्त पुराण’ में भी कथा लगभग इसी प्रकार है, यद्यपि उसके दो भाग कर दिये गये हैं और दो विभिन्न स्थलों पर दिये हैं^२। इसमें थोड़ा-सा वैष्णव प्रभाव भी दिखाई पड़ता है; क्योंकि यहाँ देवता पहले विष्णु के पास जाते हैं जो उन्हें शिव के पास जाने को कहते हैं। अन्य पुराणों में कथा कुछ अधिक बदल जाती है। उदाहरणार्थ ‘वायु पुराण’ में कहा गया है^३ कि शिव-पार्वती के दीर्घकाल तक सहवास करते रहने से इन्द्र के मन में भय उत्पन्न हुआ, और उन्होंने अग्नि को उसमें विघ्न डालने के लिए भेजा। अग्नि गये और शिव का वीर्य धरती पर गिर पड़ा। इसपर पार्वती प्रकृपित हो गई^४ और दण्ड-स्वरूप अग्नि को उस बीज के धारण करने पर बाध्य किया। इसके बाद अग्नि ने उसे गंगा को दिया और गंगा ने उसे शरवण में डाल दिया, जहाँ स्कन्द का जन्म हुआ तथा कृत्तिकाओं ने उसे पाला। ब्रह्माएङ्ग पुराण में भी लगभग इन्हीं शब्दों में यह कथा कही गई है^५। परन्तु ‘मत्स्य पुराण’ में इस कथा का कुछ भिन्न रूप है^६। देवताओं ने भयभीत हो अग्नि को शिव-पार्वती के शयनागार में भेजा जहाँ वह एक शुक का रूप धारण करके गये। परन्तु शिव ने उन्हें पहचान लिया, और क्रोध में अपना वीर्य उस शुक में डाल दिया। इस पर अग्नि का शुक-शरीर फट गया और शिव का तेज हैम की धारा के समान प्रखर उज्ज्वल वह निकला, और उससे कैलास पर्वत पर एक सरोवर बन गया। इस सरोवर पर स्नान करने कृत्तिकाएँ आईं और जैसे ही उन्होंने पीने के लिए कुछ बूँदें एक कमलदल पर उठाईं कि पार्वती ने उनको देख लिया और अपने पास बुलाया। उन्होंने पार्वती को एक पुत्र देने का

१. सौर० : ६०-६२।

२. ब्रह्मवै० : भाग ३, अध्याय १०२; भाग ३, अध्याय १४।

३. वायु० : ७२, २० और आगे।

४. ब्रह्मा० : भाग २, अध्याय ४०।

५. मत्स्य० : १५८, २६ और आगे।

इस शर्त पर वचन दिया कि वह उसका नाम उनके नाम पर रखेंगी। पार्वती ने यह स्वीकार किया और उन जल-विन्दुओं को बे पी गई^१। कुछ देर बाद उनके कद से एक बालक उत्पन्न हुआ, जो पण्मुख था और शक्ति धारण किये हुए था। इस प्रकार इस कथा में शिव और पार्वती को स्कन्द का वास्तविक पिता बताया गया है। अतः स्पष्ट है कि इस समय तक अग्नि के स्कन्द का पिता होने की स्मृति सर्वथा लुप्त हो चुकी थी। यह कथा अपने विकास की अन्तिम अवस्था में 'ब्रह्म पुराण' में मिलती है^२। इसमें उपर्युक्त दो श्रेणियों का सम्मिश्रण हो गया है। शिव पार्वती के दीर्घकालीन सहवास से देवताओं के संत्रास का विवरण उनके एक नये सेनापति की खोज करने के साथ मिला दिया गया है; परन्तु ऐसा करने में कथा में काफी अदल-बदल भी कर दी गई है। यहाँ कहा गया है कि यह जान कर कि शिव की सन्तान ही देवसेनाओं के लिए उपयुक्त सेनापति हो सकती है, उन्होंने शिव और पार्वती का विवाह कराया। विवाह के उपरान्त अति दीर्घकाल तक शिव और पार्वती सहवास करते रहे; परन्तु कोई सन्तान उत्पन्न नहीं की और इस बीच में तारक नाम के दानव का आतंक बराबर बढ़ता ही गया। यही कारण था जिससे देवगण संत्रस्त हो उठे, और उन्होंने अग्नि को शिव के पास उन्हें देवताओं की इच्छा से अत्रगत कराने के लिए भेजा। अग्नि शुक का रूप धारण कर शिव और पार्वती के शयनागार में पहुँचे। परन्तु शिव ने उन्हें तुरन्त पहचान लिया और अपना बीज उनमें डाल दिया। अग्नि उसको सहन न कर सके और गंगा तट पर उसे कृत्तिकाओं को दे दिया। वहाँ स्कन्द का जन्म हुआ। पौराणिक समय में यही इस कथा का प्रामाणिक रूप माना जाता था, और जैसा हम ऊपर देख आये हैं, कालिदास ने भी कथा के इसी रूप को अपने 'कुमार-सम्बव' काव्य का आधार बनाया था।

अगली कथा 'त्रिपुरदाह' की है। जैसा कि रामायण-महाभारत में था, वैसे ही पुराण-काल में भी इसको भगवान शिव का सबसे बड़ा कार्य माना जाता था। एक बृहत् महाकाव्य के लिए यह एक अत्यन्य उपर्युक्त विषय है, अतः यह कुछ अचम्भे की बात है कि इसका इस रूप में संस्कृत के किसी महाकवि ने प्रयोग नहीं किया; यद्यपि इन्होंने अपनी कृतियों के कथानकों के लिए समलै रामायण-महाभारत और पुराणों को छान मारा है। पुराणों में यह कथा सबसे बड़ी है और महाभारत में जो इसका रूप था, उससे बहुत आगे बढ़ गई है। जिसने इस कथा के इतिहास का अध्ययन नहीं किया है, उसके लिए यह विश्वास करना कठिन है कि प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों की एक अत्यष्ट देवकथा से इस बृहदाकार कथा का विकास हुआ है। अन्य कथाओं के समान इस कथा के भी विभिन्न रूप हो गये हैं। 'सौर पुराण' में जो कथा दी गई है, वह महाभारत की कथा के सबसे अधिक निकट है^३। तारकासुर के तीन पुत्रों ने ब्रह्मा से वरदान के रूप में तीन नगर प्राप्त किये थे। इन तीनों को एक ही वाण से भेदनेवाले के अतिरिक्त दूसरा कोई भी उन्हें जीत नहीं सकता था। तदनन्तर महाभारत में तो कहा गया है कि दानवों ने महान् उपद्रव मचाना शुरू कर दिया।

१. ब्रह्म० : अध्याय १२८।

२. सौर० : अध्याय ३४ और आगे।

परन्तु यहाँ यह भी कहा गया है कि उन्होंने इन नगरों में ऐसे लोगों को बसाया जो पूर्ण रूप से सदाचारी थे, जो वेदाध्ययन करते थे, शिव की उपासना करते थे और अन्य सब प्रकार से आदर्श जीवन विताते थे। यह इन्हीं लोगों के सदाचार का पुण्य था कि दानव अजेय हों गये, और उनके मुकाबले में देवता तेजीन हो गये। अपना पद खो देने और दानवों द्वारा अभिभूत हो जाने के डर से देवता पहले विष्णु के पास गये, फिर शिव के तथा सम्मवतः शिव की अनुमति से विष्णु ने नारद को एक 'मायी' का रूप धरकर दानवों के नगरों में भेजा कि वह वहाँ के लोगों को पथभ्रष्ट करें और इस प्रकार उनके पुण्य का हास हो जाय। विष्णु और नारद इस प्रयास में सफल हुए और तब शिव ने उन नगरों पर चढ़ाई की। जिस रथ पर शिव चढ़े, उसका महाभारत की कथा के समान ही, विस्तृत वर्णन किया गया है। शिव के वहाँ पहुँचने पर तीनों नगर एक स्थान पर आ गये और शिव ने एक ही बाण से तीनों को भेदकर उनका ध्वंस किया। 'लिंग पुराण' में इसी कथा का एक संक्षिप्त संस्करण दिया गया है^१। यहाँ यह बात स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होती है कि इस कथा से यह उपदेश दिया गया है कि सदाचार का कितना पुण्य होता है और उसमें कितनी शक्ति है तथा आचार-भ्रष्ट होने का कितना भीषण परिणाम होता है। शिव की महिमा का गान तो यह कथा करती ही है, और इस उद्देश्य से इसमें अनेक अदल-बदल भी किये गये हैं। परन्तु छल से दानवों का विनाश किया जाना—फिर ऐसे दानवों का जो कम-से-कम सच्चे शिव-भक्त तो थे ही—और स्वयं शिव का उनके नगरों को ध्वंस करना, ये बातें तत्कालीन शैवों को अप्रिय लगती होंगी। अतः इस कथा में फिर परिवर्तन किया गया और इसका यह दोष निकाल दिया गया। कथा का यह परिवर्तित रूप 'मत्स्य पुराण' में मिलता है^२। यहाँ दानवों का नेता 'भयदानव' अथवा 'वाणासुर' है, जो स्वयं शिव भक्त था, और उसका सारी प्रजा भी शिव की उपासना करती थी। परन्तु कालान्तर में ये दानव अभिमानी और उद्देश्य हो गये तथा इस कारण उनका उचित दण्डविधान करने के हेतु शिव ने नारद को, उनके चरित्र की परीक्षा लेने के लिए भेजा। इस परीक्षा में दानव सफल न हो सके। नारद के छल में आकर उन्होंने कुमार्ग पर चलना आरम्भ कर दिया और इस प्रकार अपनी अजेयता खो दैठे तथा उपद्रवी बन गये। ऐसी रिति आ जाने पर ही शिव ने उनके विस्त्र चढ़ाई की। जब वाणासुर को यह जात हुआ कि स्वयं भगवान् शिव दानवों को दण्ड देने के लिए आये हैं, तब वह 'शिवलिंग' को अपने मर्तक पर रखकर, और शिव की महिमा का गान करता हुआ अपने नगर से बाहर निकल आया। उसकी प्रजा जिस दण्ड की अधिकारिणी बनी थी, वह सारा दण्ड अपने ऊपर लेने को तैयार हो गया। केवल उसकी एक ही प्रार्थना थी कि भगवान् शिव में उसकी भक्ति अनुग्रह हो। वाणासुर की इस अद्भुत भक्ति का परिचय मिलने पर और उसकी प्रजावस्तुता से शिव अति प्रसन्न हुए और वाणासुर को अनेक वरदान ही नहीं दिये, अपितु उसके तीसरे नगर को विध्वस्त करने का संकल्प भी छोड़ दिया। शेष दो

१. लिंग० : भाग १, अध्याय ७२।

२. मत्स्य० : अध्याय १२१-३२; अध्याय १८८।

नगरों को उन्होंने पृथ्वी की ओर ढकेल दिया, जहाँ एक कलास पर्वत के निकट और दूसरा अमरकट्टक पर जा गिरा।

तीसरी कथा दक्ष-यज्ञ की है। पुराणों में इसके विभिन्न संस्करण मिलते हैं, और इनसे इस कथा के वास्तविक अर्थ समझने में हमें बड़ी सहायता मिलती है। इस कथा का सबसे पुराना रूप सम्भवतः 'वराह पुराण' में है, और इसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। इससे शिव के प्रति जो विरोध प्रारम्भ में था और शिव की उपासना की जिस अनादर से देखा जाता था, वह साफ़ कलकता है। पुराणों के समय तक इसमें, शिव के पक्ष में, काफी हेरफेर कर दी गई थी और लगभग सभी अन्य पुराणों में दक्ष-यज्ञ के विष्वंस का सारा दोष दक्ष के माथे मढ़ा गया है। कथा के इन सब संस्करणों में ठीक-ठीक काल-भेद करना अत्यन्त कठिन है। हाँ, इनमें साम्प्रदायिकता का पुट जितनी मात्रा में पाया जाता है, उससे मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि इनमें से कौन-सी कथा अपेक्षाकृत प्राचीन अथवा नवीन है। 'वायु पुराण' की कथा के अनुसार^१ दक्ष ने एक यज्ञ प्रारम्भ किया जिसमें उन्होंने शिव को नहीं बुलाया। इसपर 'दधीचि' ऋषि कुपित हो गये और दक्ष से शिव को आमंत्रित न करने का कारण पूछा। इसपर दक्ष ने उत्तर दिया कि वह ग्यारह रुद्रों को छोड़ कर और किसी रुद्र को नहीं जानते और वह यज्ञ का सारा सम्मान विष्णु को देंगे, जो यज्ञ के पति हैं। इसी बीच दक्ष-पुत्री सती ने, जो शिव को व्याही गई थीं, स्वयं भगवान् से उनके न बुलाये जाने का कारण पूछा। इसपर भगवान् शिव ने उत्तर दिया कि देवताओं में तो यह प्राचीन प्रथा थी कि वे यज्ञ में उन्हें कोई भाग नहीं देते थे और वह स्वयं इस स्थिति से संतुष्ट थे। इस प्रकार यहाँ इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि दीर्घकाल तक शिव का उपासना को कोई मान्यता नहीं दी जाती थी। आगे चलकर कथा में कहा गया है कि सती के अनुरोध करने पर शिव अपना अधिकार पाने के लिए कुछ प्रयास करने के लिए राजी हुए। दक्ष को दण्ड देने के लिए उन्होंने एक भयंकर जीव—वीरभद्र की सृष्टि की। उधर सती के क्रोध से भद्रकाली की सृष्टि हुई, जो वीरभद्र के सहायतार्थ उसके साथ गई। शिव के रन्ध्रों से अनेक 'रुद्र' भी उत्पन्न हो गये और वे वीरभद्र के अनुचर बने। इस प्रकार दलसहित वीरभद्र यज्ञस्थल पर पहुँचा और जाते ही वहाँ सब को तितर-बितर कर दिया। उसने यज्ञ का विष्वंस किया और देवताओं को बन्दी बना लिया। उनके दयायाचना करने पर वीरभद्र ने उनसे शिव को प्रसन्न करने के लिए कहा। अन्त में स्वयं दक्ष ने शिव की आराधना की और तदनन्तर वह परम शिव-भक्त हो गये। सौर और ब्रह्म पुराणों में विलकुल इन्हीं शब्दों में यह कथा कही गई है^२। 'लिंग पुराण'^३ में इसको कुछ संक्षेप से कहा गया है^४। अन्य संस्करणों में यज्ञविष्वंस स्वयं भगवान् शिव करते हैं। इसका कारण यह बताया गया

१. वायु० : ३०, न१ और आगे।

२. सौ० : ७, १० और आगे; ब्रह्म० ३६०४०।

३. लिंग० : भाग १, अध्याय १००।

है कि दक्ष द्वारा शिव का अनादर सती को असत्त्व हुआ और उन्होंने यज्ञगिन में कृद कर अपने प्राण त्याग दिये। इस रूप में यह कथा 'ब्रह्म पुराण' के एक अन्य अध्याय में भी दी गई है^१। यहाँ कथा इस प्रकार है कि दक्ष ने जब भगवान् शिव को अपने यज्ञ में नहीं बुलाया, तब उनकी बड़ी पुत्री सती ने इसका कारण पूछा। दक्ष ने कहा कि वह शिव के शत्रु हैं; क्योंकि किसी पूर्व अवसर पर शिव ने उनका यथोचित सम्मान नहीं किया था और वह उनके अन्य जामाताओं की बराबरी करना चाहते थे, जोकि सबके सब प्राचीन विधियों को माननेवाले महर्षि थे। दक्ष के इस कथन से पता चलता है कि शिव की उपासना को परभरा के विरुद्ध और प्राचीन ब्राह्मण-धर्म के प्रतिकूल माना जाता था। सती अपने पति के इस घोर अपमान को सहन न कर सकीं और इस अन्तिम प्रार्थना के साथ कि अगले जन्म में भी उनके पति शिव ही हों, अभिन में कृद पड़ी। इस दुर्घटना की सूचना जब शिव को मिली तब वह क्रोध से भर गये। उन्होंने यज्ञस्थल पर पहुँचकर दक्षयज्ञ का विध्वंस किया और दक्ष तथा अन्य उपरिथित देवताओं तथा ऋषियों को शाप दे दिया। इस पर दक्ष ने भी शिव को प्रतिशाप दिया। अन्त में ब्रह्मा ने दोनों को शान्त किया और दक्ष ने भगवान् शिव का उचित सम्मान कर उन्हें श्रेष्ठदेव माना। इस रूप में यह कथा लगभग इन्हीं शब्दों में 'ब्रह्माएङ्ग पुराण' में दुहराई गई है^२। स्वयं 'ब्रह्मपुराण' में भी यह एक बार और दी गई है^३। यहाँ केवल इतना अन्तर कर दिया गया है कि यज्ञ-विध्वंस होने के उपरान्त उपस्थित देवताओं ने विष्णु से साहाय्य याचना की और विष्णु ने अपने चक्र से शिव पर आक्रमण किया। परन्तु शिव उस चक्र को ही निगल गये और देवतागण पूर्णरूप से परास्त हुए। अन्त में दक्ष ने शिव की स्तुति की और विष्णु ने भी उनकी आराधना की तथा अपना चक्र वापस पाया। कथा के इस रूप-निर्माण में स्पष्ट ही शैव-सम्प्रदाय के किसी अनुयायी का हाथ है।

भगवान् शिव के सम्बन्ध में जो अन्य कथाएँ रामायण-महाभारत काल में प्रचलित थीं, वे भी पुराणों में अधिक विस्तृत रूप में दी गई हैं। शिव के विपपान की कथा सब आवश्यक अंशों में रामायण-महाभारत की कथा के समान ही है और सब पुराणों में उसका लगभग एक ही रूप है^४। शिव की ग्रीवा का वर्णपरिवर्तन हालाहल के गुजरने के कारण ही हुआ बताया गया है। उसका नीलवर्ण देवताओं को इतना प्रिय लगा कि उन्होंने शिव से प्रार्थना की, वह उस विष को वहीं रख लै। शिव ने ऐसा ही किया और इस प्रकार वह 'नीलकण्ठ' हो गये। 'मत्स्य पुराण' में यह कथा कुछ बदल कर कही गई है। यहाँ सागर-मन्थन का कारण यह बतलाया गया है कि शिव ने असुरों के आचार्य शुक्र को 'संजीवनी' बूटी दे रखी था। उस संजीवनी से युद्ध में मारे गये दानव फिर जीवित हो

१. ब्रह्म० : अध्याय ३४।

२. ब्रह्माएङ्ग० : भाग १, अध्याय १३।

३. ब्रह्म० : अध्याय १०६।

४. वायु० : ५०, ४९ और आगे। ब्रह्माएङ्ग० भाग १, अध्याय २५। मत्स्य० अध्याय २४ इत्यादि।

उठते थे^१। कथा में एक और परिवर्तन यह किया गया है कि सागर से हालाहल को सबसे पहिले निकला हुआ पदार्थ नहीं बताया गया है। कहा गया है कि जब सोम, श्री, उच्चैश्रवा, कौस्तुभ और पारिजात सागर से निकल आये, तब उनके बाद सागर के और मथा जाने के कारण उसमें से हालाहल निकला। इसे यहाँ 'कालकृट' कहा गया है, और यहाँ इसका मानवीकरण भी हो गया है; क्योंकि इस कालकृट के परामर्श से ही देवताओं ने शिव से इसे ग्रहण करने की प्रार्थना की थी।

इसके बाद मदन-दहन की कथा है। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, यह अब एक वृहदकथा का अंग बन गई थी। इसका भी सब पुराणों में लगभग एक-सा ही रूप है^२। ब्रह्म के आदेश से देवताओं ने शिव का पार्वती से, जो पिछले जन्म की सती थीं, विवाह कराने का प्रयास आरम्भ किया, ताकि इनसे जो सन्तान हो, वह उनकी सेनाओं का नेतृत्व कर सके। पार्वती भी शिव को फिर वर रूप में पाने के उद्देश्य से तपरया कर रही थीं। देवताओं ने कामदेव को, शिव का ध्यान च्युत करने और पार्वती के प्रति उनमें अनुराग पैदा करने के लिए भेजा। परन्तु जैसे ही कामदेव ने अपना बाण संजित किया, वैसे ही भगवान् शिव ने अपने चित्त को किंचित् विनुष्ट जान अपने नेत्र खोले और सामने कामदेव को देखकर क्रोध से भर गये। उसी क्षण उनके तृतीय नेत्र से एक ज्वाला निकली, जिसने काम को वहीं भस्म कर दिया। बाद में पार्वती के अनुनय से अथवा, जैसा कि कुछ पुराणों में दिया गया है, विरहव्यथिता कामपल्नी रति पर दया करके, शिव ने काम को फिर जीवित कर दिया; परन्तु अंग का रूप उसे नहीं मिला। तभी से काम 'अनंग' कहलाता है।

'अन्धक' वध की कथा में, शिव का क्रूर रूप दृष्टिगोचर होता है^३। इस कथा में सबसे बड़ा विकास यह हुआ है कि अब शिव का मातृकाओं से साहचर्य किया गया है; जो सम्भवतः स्थानीय स्त्री-देवताएँ थीं। 'अन्धक' के वध का कारण उसका देवताओं से द्वारा ही नहीं था, अपितु यह भी था कि उसने एक बार स्वयं पार्वती को हर ले जाने की चेष्टा की थी। जब युद्ध आरम्भ हुआ तब अन्धक के शरीर से रक्त की गिरी प्रत्येक बूँद एक नया अन्धक बन जाती थी। इस प्रकार अन्धकों की एक सेना तैयार हो गई, जिससे देवताओं की सेना संकट में पड़ गई। इसका प्रतिरोध करने के लिए शिव ने माहेश्वरी देवी की सृष्टि की और साथ ही अनेक छोटी-मोटी देवियों को उत्पन्न किया, जो अन्धक के रक्त को पुरुषी पर गिरने से पहले ही चाट लेती थीं। इसके बाद शिव ने सहज में ही अन्धक का वध कर दिया।

नई कथाओं में सबमें महस्त्वपूर्ण वह कथा है, जिसमें शिव-लिंग की उत्पत्ति कैसे हुई, यह बताया गया है। लिंगोपासना के प्रारम्भिक स्वरूप तो रामायण-महाभारत के

१. मत्स्य० : अध्याय २४६-२५०।

२. मत्स्य० : १५४, २४७ और आगे; सौर० अध्याय १५३; ब्रह्म० अध्याय ७१ इयादि।

३. मत्स्य० : १७१, २ और आगे; वराह० : अध्याय २७; सौर० : अध्याय २६।

समय में ही लुत हो गया था। पुराणों के काल तक 'लिंग' शिव का सर्वमान्य और सम्मानित प्रतीक बन गया था तथा उसकी उपासना दीर्घकाल से स्थापित हो चुकी थी। परन्तु, यह शिव-लिंग मूल रूप से जननेन्द्रिय-सम्बन्धी था। इसका ज्ञान पौराणिक युग में भी था; क्योंकि अनेक प्रसंगों में इसको स्पष्ट रूप से शिव की जननेन्द्रिय कहा गया है। उदाहरणार्थ 'वायु पुराण' में जब शिव विष्णु और ब्रह्मा के समक्ष प्रकट होते हैं, तब उनको 'ऊर्ध्वमेढ़' अवस्था में बताया गया है^१। ऋषिपत्नियों की कथा में भी^२ शिव की जननेन्द्रिय की ओर फिर ध्यान आकृष्ट किया गया है और रप्त रूप से यह कहा गया है कि यह शिव की जननेन्द्रिय ही थी, जिसकी लिंग रूप में उपासना होती थी। इसी कारण लिंगोत्पत्ति की कथा में इसकी उपासना का समाधान अन्य उपायों से किया गया है और शिवलिंग के जननेन्द्रिय सम्बन्ध को लुत करने की चेष्टा की गई है। प्रसंगवश इसी कथा द्वारा शिव को विष्णु और ब्रह्मा से बड़ा सिद्ध करने का भी प्रयास किया गया है। यह कथा भी अपने आवश्यक अंशों में सब पुराणों में लगभग एकसी ही है। परन्तु वित्तार की बातों में काफी विभिन्नता भी पाई जाती है^३। एक बार ब्रह्मा और विष्णु में यह विवाद खड़ा हो गया कि उनमें से कौन सर्वश्रेष्ठ है? उस समय भगवान् शिव एक लिंगाकार अग्निस्तम्भ के रूप में उन दोनों के समक्ष प्रकट हुए और उनको इस स्तम्भ की ओर-छोर का पता लगाने को कहा। विष्णु नीचे की ओर गये और ब्रह्मा ऊपर की ओर; परन्तु कोई भी उस स्तम्भ का अन्त न पा सका। अन्त में हार कर दोनों लौट आये। तब उन्हाँने भगवान् शिव को ही सर्वश्रेष्ठ माना और उनके 'लिंग' रूप का यथोचित सम्मान किया। इस कथा का जो रूप 'लिंग पुराण' में दिया गया है, उसमें शिव-लिंग का उत्कर्ष अपनी चरम सीमा को पहुँचता है। इसके अनुसार जो अग्निस्तम्भ विष्णु और ब्रह्मा के सामने प्रकट हुआ था, उसमें से सहस्रों ज्वालाएँ निकल रही थीं, जो प्रलयाग्नि के समान देवीप्यमान थीं। उस अग्निस्तम्भ का न कोई आदि था, न मध्य और न अन्त। जब ब्रह्मा और विष्णु हार कर लौट आये, तब इस लिंगाकार अग्नि-स्तम्भ में एक 'ओम्' का चिह्न प्रकट हुआ और इसका सब देवताओं ने प्रणव के रूप में स्वागत किया। इस प्रकार शिव-लिंग की उपासना का समाधान और समुत्कर्ष किया गया। इस कथा में जिस प्रकार से लिंग की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है, उससे लिंग का जननेन्द्रिय-सम्बन्ध विलकुल ही छिप जाता है। फलस्वरूप पुराणकाल के उपरान्त हम देखते हैं कि लिंग का इस आदि-स्वरूप को लोग विलकुल ही भूल गये।

पुराणों में पाई जानेवाली अन्य नई कथाओं का प्रासंगिक उल्लेख तो हम ऊपर कर ही चुके हैं।

१. वायु० : २४, ५६।

२. ब्रह्माण्ड० : भाग १, अध्याय १२७; अध्याय ५५, १०१।

३. वायु० : २४, ३२ और आगे; अध्याय ५५। ब्रह्माण्ड० भाग २, अध्याय २६।

ज्ञौर० ६६, ८८ और आगे। ब्रह्म० अध्याय १३५। लिंग० अध्याय १७।

पौराणिक साहित्य का निरीक्षण समाप्त करने से पहले हमें जिस बात पर विचार करना है, वह है—शैवमत का अन्य मतों के साथ सम्बन्ध। ‘पुराण ग्रन्थों’ की रचना के साथ भारतीय धर्मों के इतिहास में उस निर्माणकाल का अन्त होता है, जिसमें—वैदिक कर्मकाण्ड के हास के बाद—वे विभिन्न विचार-धाराएँ, उपासना-विधियाँ और धार्मिक सिद्धान्त प्रचलित हुए थे, जिन्होंने धीरे-धीरे स्थृ और संगठित मतों का रूप धारण किया। यह सब मत एक ही समय में, एक ही प्रदेश में और एक ही जाति में साथ-साथ विकसित हो रहे थे। अतः यह स्वाभाविक ही नहीं; परन्तु अवश्यंभावी भी था कि पर्याप्त मात्रा में इनका एक दूसरे के ऊपर पारस्परिक प्रभाव पड़ा हो और इनके आचार-विचारों में भी काफी आदान-प्रदान हुआ हो। इस काल में इन सब मतों का एक विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन वास्तव में अत्यन्त अभीष्ट है; क्योंकि इससे एक ऐसी पृष्ठभूमि तैयार हो जायगी, जिससे इस काल के बाद के धार्मिक विकास की समझने में हमें बहुत सहायता मिल सकती है। परन्तु, यहाँ हम इस समस्या का केवल एकांगी अध्ययन ही कर सकते हैं। केवल शैव धर्म को लेकर हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि इस समय में शैवमत का अन्य मतों के प्रति क्या रखैया था और इसका उनपर अथवा उनका इसपर क्या प्रभाव पड़ा? शैव-मत के सबसे निकट जो मत था—वह था वैष्णव मत। ये दोनों एक ही वेदोत्तर ब्राह्मण धर्म की दो प्रमुख शाखाएँ थीं और इन दोनों का केन्द्रीय सिद्धान्त वही एक भक्तिवाद था। इन दोनों मतों के इस निर्माण-काल में पारस्परिक सम्बन्ध कैसा रहा, इसका कुछ आभास हमें ऊपर मिल चुका है। हमने देखा था कि इन दोनों मतों के अनुयायी अपने-अपने आराध्यदेव को सर्वश्रेष्ठ मानते थे। हमने यह भी देखा था कि इस एकेश्वरवाद को ग्रहण करने के फलस्वरूप शिव और विष्णु को एक ही ईश्वर के दो नाम माना जाने लगा था। कम-से-कम इन दोनों मतावलम्बियों में जो विवेकशील थे, वे तो ऐसा ही मानते थे। जन-साधारण को भी इस तथ्य का कुछ आभास अवश्य था; क्योंकि इस तथ्य को समझाने के लिए इसका अनेक प्रकार से सुगम और लोकप्रचलित रूप दिया जा रहा था तथा ‘त्रिमूर्ति’ अथवा शिव और विष्णु की संयुक्त प्रतिमाएँ बना कर इसका मूर्त रूप दिया जा रहा था। सामान्यतः इन दोनों मतों के अनुयायियों के पारस्परिक सम्बन्ध अच्छे थे और इसका सबसे बड़ा प्रमाण विष्णु अथवा शिव-सम्बन्धी पुराण ग्रन्थ हैं, जो शिव और विष्णु दोनों का ही माहात्म्यगान करते हैं। वास्तव में यह पुराण-ग्रन्थ उस समय के वैसे साधारण मनुष्यों की धार्मिक मान्यताओं को बड़ी सुन्दरता से प्रतिविम्बित करते हैं, जो ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे, और जो आचारार्थ शैव अथवा वैष्णव मतावलम्बी होने पर भी दूसरे मत के आराध्यदेव का सम्मान करते थे; क्योंकि वे समझते थे कि वह भी वही देवता है जिसकी वह स्वयं एक भिन्न नाम से उपासना करता है।

परन्तु इस तरवीर का एक दूसरा रूख भी था। हमने ऊपर देखा है कि जब यह प्रश्न उठा कि विष्णु और शिव में से किसको बड़ा माना जाय, तब इन दोनों देवताओं के उपासकों के लिए दो मार्ग खुले थे और उनमें से एक यह था कि वह एक दूसरे के दावों को मानने से साफ इनकार कर देते। ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों ही मतों के अनुयायियों में से कुछ

कट्टर-पंथियों ने ऐसा किया भी। इन लोगों के अस्तित्व के चिह्न हमें पुराण-ग्रन्थों के उन भागों में मिलते हैं, जहाँ हम शैव और वैष्णव मतों में सांप्रदायिक भेद के प्रथम संकेत पाते हैं। उदाहरणार्थ कुछ स्थलों पर एक देवता का दूसरे की अपेक्षा अधिक उत्कर्ष दिखलाया गया है। यह इस सांप्रदायिक भेद की पहली अवश्यकता है। शिव के सम्बन्ध में तो लिंगोत्पत्ति की कथा में ही यह भेद मलक जाता है, जहाँ कहा गया है कि विष्णु ने शिव की श्रेष्ठता को माना और उनकी आराधना की। रामायण-महाभारत तक में भी यही बात पाई जाती है; क्योंकि वहाँ भी एक स्थल पर कृष्ण शिव की महिमा का गान करते हैं और उनकी आराधना भी करते हैं। इसके अतिरिक्त पुराण-ग्रन्थों में अनेक संदर्भ भी ऐसे हैं, जिनपर शैव सांप्रदायिकता का प्रभाव है और जिनमें शिव को विष्णु से बड़ा माना गया है। 'सौर पुराण' में कहा गया है कि कृष्ण ने अपना चक्र शिव से पाया था^१। 'ब्रह्म पुराण' की एक कथा में शिव विष्णु का चक्र निगल जाते हैं और इस प्रकार अपनी श्रेष्ठता का प्रमाण देते हैं^२। इसी पुराण में एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि राम ने गोमती नदी के किनारे शिव की पूजा की थी। 'लिंग-पुराण' में अनेक स्थलों पर विष्णु को शिव की पूजा करते हुए अथवा शिव के माहात्म्य का बखान करते हुए बताया गया है^३। इसके विपरीत वैष्णव पुराण विष्णु को शिव की अपेक्षा बड़ा मानते थे। 'ब्रह्म-वैवर्त' पुराण में कहा गया है कि शिव विष्णु में से ही प्रकट हुए और वे विष्णुभक्त थे^४। एक अन्य अध्याय में शिव विष्णु का गुणगान करते हैं और वैष्णव भक्तों को बरदान देते हैं^५। विष्णुलोक को शिवलोक से ऊँचा माना गया है^६। विष्णु का इस प्रकार शिव से अधिक उत्कर्ष करने की प्रक्रिया में शैव-कथाओं पर भी वैष्णव रंग चढ़ा दिया गया है। उदाहरणार्थ 'ब्रह्मवैवर्त' पुराण में गंगावतरण की कथा में भगीरथ को विष्णुभक्त कहा गया है, और वह कृष्ण की उपासना करते हैं। कृष्ण की ही प्रार्थना पर गंगा पृथ्वी पर उतरने को राजी हुई^७। 'गणेश-जन्म' की कथा में भी शिव और पार्वती पुत्र-प्राप्ति का वर पाने के लिए विष्णु की आराधना करते हैं और खयं गणेश को भी विष्णु का ही अवतार मात्र कहा गया है।

पुराण-ग्रन्थों में कुछ ऐसे भी संदर्भ हैं, जहाँ वैष्णव और शैव मतों का यह सांप्रदायिक भेद कुछ अधिक उत्तर रूप धारणा करता हुआ दिखाई देता है। इसमें शैव मतावलम्बी ही अग्रसर रहे प्रतीत होते हैं; क्योंकि शैव पुराणों में ही यह सांप्रदायिक असहिष्णुता अधिक मात्रा में दिखाई देती है। उदाहरणार्थ, 'मत्स्य पुराण' में कहा गया है कि विष्णु की माया से

-
१. सौर० : ४१, १४५ और आगे।
 २. ब्रह्म० : अध्याय ३३।
 ३. लिंग० : भाग १, २१, ४५, ६१ इत्यादि।
 ४. ब्रह्मवै० : ३, ६।
 ५. ,, : भाग १, अध्याय १२।
 ६. ,, : भाग २, अध्याय २।
 ७. ,, : भाग २, अध्याय १०।
 ८. ,, : भाग ३, अध्याय ७-९।

विमोहित अशोनी जन ही भग्नीर्थ की महिमा को नहीं जानते, जो शिव को प्रिय है। वोयु पुराण में दक्ष-यज्ञ के प्रसंग में दक्ष अपने-आपको विष्णुभक्त और शिवद्वेषी बताते हैं। परन्तु 'सौर पुराण' में हम प्रथम बार शैव और वैष्णव मतों के बीच स्पष्ट विरोध के चिह्न पाते हैं। सौर पुराण उतना ही शिवपक्षी है, जितना कि 'ब्रह्मवैर्त पुराण' विष्णुपक्षी है। इस पुराण में समस्त अशैवों की निन्दा की गई है कि वे यम के अधिकार में हैं, और शैव यम के अधिकार से परे हैं। इस पुराण में और 'लिंग पुराण' में अशैवों के प्रति असहिष्णुता की भलाक भी दिखाई देती है। इन दोनों में ही उपमन्यु की कथा के प्रसंग में सच्चे घटना की भलाक भी दिखाई देती है। यदि किसी शैव को शिव की निन्दा करनेवालों को मार डालने का आदेश दिया गया है। यदि किसी राजा के राज्य में कोई पाखण्डी भी शिव की निन्दा करता है तो उसके सारे पूर्वज धौर नरक राजा यातना भोगते हैं। इस प्रकार की मनोवृत्ति रखनेवाले कठपंथी लोग यदि वैष्णवमत की यातना भोगते हैं। इस प्रकार की मनोवृत्ति रखनेवाले कठपंथी लोग यदि वैष्णवमत के प्रति द्वेष रखते हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं होनी चाहिए। 'सौर पुराण' में एक ऐसा ही शिव-भक्त कहता है कि विष्णु की माया से विमोहित मूढ़जन उस शिव की महिमा को नहीं पहचानते, जिससे ब्रह्म और विष्णु समेत सब देवताओं की उत्पत्ति हुई है। शिव और विष्णु की समता की बात कहना सरासर विर्घम है; क्योंकि भगवान् शिव के अनुग्रह ही से तो विष्णु ने बैकुण्ठ का आधिपत्य पाया था। जो शिव और विष्णु की समता की चर्चा भी करता है, वह असंख्य युगों तक गन्धर्वी में रेंगनेवाले कीड़े के रूप में जन्म लेता है और जो शिव को विष्णु से हीन मानता है, वह तो साक्षात् चाँड़ाल है, जन्म से न सही; परन्तु कर्म से जो कि उससे भी बहुत बुरा है। शैव और वैष्णव मतों का इस परस्पर द्वेष का सबसे स्पष्ट उदाहरण राजा 'प्रतर्दन' की कथा है। यह राजा एक सच्चा शिव-भक्त था और इसकी सारी प्रजा भी शैव थी। इन सबके सदाचार के फल-स्वरूप इनके पूर्वज भी तर गये, नरक शीघ्र ही खाली हो गया और यम के जिम्मे कोई काम करने को न रह गया। ऐसी हालत देखकर इन्द्र ने एक 'किन्नर' को राजा 'प्रतर्दन' की प्रजा में 'विघ्न' फैलाने के लिए भेजा। यह किन्नर 'प्रतर्दन' की प्रजा में आकर उन्हें विष्णु की उपासना की ओर प्रेरित करने लगा और अपने इस दुष्प्रयत्न में यहाँ तक सफल हुआ कि राज-सभा तक में कुछ लोग उसके दूषित प्रचार से प्रभावित हो गये। उसने स्वयं राजा के सामने अपने तर्क प्रस्तुत किये और शिवोपासना की निन्दा तथा विष्णु की उपासना की प्रशंसा की।

१. मत्स्य०	:	१६३, ५६।
२. वायु०	:	३०, ८१ और आगे।
३. सौर०	:	६४, ४४।
४. "	:	३६, ३३। लिंग० भाग १, अध्याय १०७।
५. "	:	३८, ६४।
६. "	:	३८, १६।
७. "	:	३८, ६६।
८. "	:	४०, १६-१७।
९. "	:	३८, ६४।

राजा अत्यन्त कुद्ध हुआ; परन्तु उसने बड़ी क्रमाशीलता से काम लिया और इस समस्या पर निर्णय देने के लिए एक धर्म-सभा बुलाई। परन्तु उसी समय सम्भवतः इन्द्र का आदेश पाकर—कलि आमंत्रित सदस्यों की बुद्धि में प्रवेश कर गया, जिसके फलस्वरूप सभा में खलबली मच गई और कोई निर्णय न हो सका। इसका फल यह हुआ कि अनेक लोग नास्तिक हो गये। राजा ने अभी तक 'किन्नर' की दुष्टता को नहीं जाना, और वह मन में बहुत दुखी हो गये। इस बीच जो लोग सद्धर्म के पथ से डिग गये थे, उनके पूर्वज स्वर्ग-च्युत हो गये। संयोगवश विष्णु अपनी महानिरास से जागे और अपने मुख से शिव की सर्वश्रेष्ठता की घोषणा की। अन्त में देवताओं ने भगवान् शिव को सारी परिस्थितियों से अवगत कराया और तब शिव ने राजा 'प्रतर्दन' को सच्चा ज्ञान दिया और जो इस महा अनर्थ के दोषी थे, उनको दण्ड देने की अनुमति दी। तब राजा ने किन्नर और उसके अनुयायियों को प्राण-दण्ड दिया। शैवों और वैष्णवों की परास्परिक सद्भावना से दूर होने पर भी इस कथा से उन कट्टरपंथियों की मनोवृत्ति का स्पष्ट पता चलता है, जिनके द्वारा इस साम्प्रदायिक द्वन्द्व का सूत्रपात हुआ और इसके फलस्वरूप हो सकता है, इनमें कहीं-कहीं संघर्ष भी हुआ हो। इस संघर्ष का एक संकेत हमें 'उषा-अनिरुद्ध' की कथा में मिलता है जो पहली बार महाभारत में दी गई है^१। पुराणकारों ने इस कथा का प्रयोग शिव के ऊपर विष्णु का उत्कर्ष प्रकट करने के लिए किया। विष्णु और ब्रह्माएँ पुराणों में यह कथा लगभग एक ही तरह से कही गई है^२। 'उषा' का पिता 'वाणासुर' परम शिव-भक्त था, और जब उसे कृष्ण के विशुद्ध लड़ा पड़ा तो भगवान् शिव उसकी सहायता के लिए आये और कृष्ण और वाण का युद्ध विष्णु और शिव के महासंघर्ष में परिणत हो गया। अन्त में शिव की पराजय हुई और उन्होंने विष्णु से 'वाणासुर' को क्रमा कर देने के लिए विनती की; क्योंकि वाण उनका सच्चा और परम भक्त था। जिस रूप में यह कथा अब पाई जाती है, उसका अन्त विष्णु के इस मित्रतापूर्ण कथन से होता है कि वह और शिव तो वास्तव में अभिन्न हैं। इस प्रकार इस कथा को उस समय प्रचलित धार्मिक भावनाओं के अनुकूल बना लिया गया है। परन्तु इसकी मुख्य कथा में हमें शैव और वैष्णव मतावलम्बियों के परस्पर संघर्ष का आभास मिलता है, जिसमें वैष्णवों ने अपने-आपको विजयी बताया। इसके विपरीत शैवों ने दृसिंह और शरभ अवतारों के रूप में विष्णु और शिव के युद्ध की कथा का विकास किया, जिसमें शिव विष्णु पर विजय पाते हैं। यह कथा 'लिंग पुराण' में दी गई है^३।

वैष्णव मत को छोड़कर अन्य मतों के प्रति शैवों का क्या रखवा था, इस विषय में पुराणों से हमें बहुत कुछ पता नहीं चलता। जहाँ-तहाँ अशैवों की निन्दा की गई है और शिव-निन्दकों के प्रति असहिष्णुता प्रकट की गई है, वह प्रसंग हम ऊपर देख ही चुके हैं। इसके अतिरिक्त सौर-पुराण में उन लोगों की गणना भी की गई है, जिनको शैव

१. महाभारत : सभा० ४०, २४-२६।

२. विष्णु० : भाग ५, अध्याय ३३; ब्रह्माएँ० भाग १, अध्याय २०४।

३. लिंग० : भाग १, अध्याय ६५-६६।

विधर्मी मानते थे । इनमें 'चार्वाक,' कौल, कापालिक, बौद्ध और जैन भी गिनाये गये हैं । इन मतों के साथ शैवमत का भेद वैष्णवमत की अपेक्षा बहुत अधिक गहरा और मौलिक था । वैष्णव मत तो किर भी उसी सनातन ब्राह्मण-धर्म का एक अंग था, जिसका एक अंग स्वयं शैवमत था । दोनों एक ही वैदिक धर्म पर आधारित थे और दोनों वेदों को ही श्रुति मानते थे । परन्तु यह अन्य मत तो ब्राह्मण-धर्म के आधार को ही नहीं मानते थे । अतः इनमें और ब्राह्मण धर्म में संघर्ष पैदा होना अप्रत्याशित नहीं था तथा अचम्भे की बात तो यह है कि पुराणों के समय तक हमें इस संघर्ष का कोई स्पष्ट संकेत मिलता ही नहीं । साधारण रूप से धार्मिक सहिष्णुता की जो भावना हमें अशोक के शिलालेखों में दिखाई देती है, वही सदियों तक हमारे धार्मिक जीवन का एक प्रमुख और आवश्यक अंग रही । भास, अश्वघोष, शूद्रक, कालिदास तथा अन्य लेखकों की कृतियों से इसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है । जब पुराण-काल में संगठित संप्रदायों की उत्पत्ति हुई, तभी से इस सांप्रदायिक संघर्ष की नींव भी पड़ी । साथ ही यह कहना पड़ता है कि इस साम्प्रदायिक संघर्ष में शैवमत सदा आगे रहा । बौद्ध और जैन मतों के विश्व ब्राह्मण-धर्म की रक्षा करने का बीड़ा अपने सिर उठाकर शैव लोग बड़े उत्साह से इन मतों के सिद्धान्तों का खण्डन करने में लग गये । 'सौर पुराण' में कहा गया है कि इन मतों के सिद्धान्तों के प्रभाव से लोग वेद के सन्मार्ग से भ्रष्ट हो जाते थे और अज्ञान में पड़ जाते थे । अतः शैव राजा का कर्तव्य था कि वह बौद्धों और जैनियों तथा अन्य सब विधर्मियों को अपने राज्य में न आने दे । नास्तिकों आदि का तो इस देश में कभी भी कोई विशेष प्रभाव नहीं हुआ; परन्तु बौद्ध और जैन मतों के विश्व शैवों ने जो निरन्तर युद्ध किया, वह पुराणोत्तर काल में शैव मत के इतिहास का एक प्रमुख लक्षण है । इसी के फलस्वरूप बौद्ध मत तो इस देश में लुप्तप्राय हो गया और जैन मत की, ब्राह्मण धर्म के विश्व प्रतिद्वन्द्वी बन कर खड़े होने की, शक्ति नष्ट हो गई । इस संघर्ष का कुछ परिचय हम अगले अध्याय में पायेंगे । परन्तु 'पुराण ग्रन्थ' साधारण रूप से पूर्वतीर्ती धार्मिक साहित्य की परिपाठी का अनुसरण करते हैं, और ब्राह्मण-धर्म के सिवा जिन अन्य धर्मों का उस समय देश में प्रचार था, उनके विषय में कोई चर्चा ही नहीं करते ।

पृष्ठ अध्याय

पिछले अध्याय में हमने देखा है कि पुराणों के समय तक शैवमत पूर्ण विकसित और संगठित हो चुका था तथा वेदोन्तर ब्राह्मण धर्म के दो प्रमुख मतों में से एक बन गया था। इसका प्रचार भी समस्त भारत में था। जहाँ तक शैवमत के स्वरूप का प्रश्न है, उसका विकास अब समाप्त हो गया था। उस समय से आज तक सारांशतः उसका स्वरूप वही रहा है, जो पुराण काल में था। केवल उसके दार्शनिक पक्ष का विकास होता रहा और वह पुराणोन्तर काल में ही जाकर अपनी पूर्ण विकसित अवस्था को पहुँचा। इसको छोड़कर जो कुछ भी और नवीनता हमें दिखाई देती है, वह शैवमत के उपासना-विधि के कुछ बाह्य रूपों में तथा शैवमत के अन्य मतों के साथ सम्बन्धों में ही दिखाई देती है। पुराणोन्तर काल में अगर कोई नई बात हुई, तो वह थी—शैवमत के अन्दर ही विभिन्न सम्प्रदायों की उत्पत्ति। यह प्रक्रिया प्रत्येक धर्म में उसके सुस्थापित हो जाने के बाद, अनिवार्य रूप से होती है। परन्तु यह सब-कुछ भी ईसा की तेरहवीं सदी तक हो चुका था और उसके बाद शैवमत में कोई कहने योग्य नया विकास नहीं हुआ। अतः तेरहवीं सदी तक पहुँचकर ही हम अपने इस दिग्दर्शन को समाप्त कर देंगे।

ईसा की छठी शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी के अन्त तक के काल को हम पुराणोन्तर काल कह सकते हैं। इस काल में जो सामग्री हमें उपलब्ध है, वह कुछ पुरातात्त्विक है और कुछ साहित्यिक। पुरातात्त्विक सामग्री में सबसे पहले तो शिलालेख हैं। फिर इस काल के अनेक मन्दिर और भगवान् शिव की प्रतिमाएँ हैं। दूसरे अभिलेखों से जो बातें हमें पता चलती हैं, ये मन्दिर और प्रतिमाएँ उनके उदाहरण स्वरूप हैं, अथवा उनकी पुष्टि करते हैं। साहित्यिक अभिलेखों में सर्वप्रथम तो अनेक धार्मिक ग्रन्थ हैं, जिनका शैवमत से सीधा सम्बन्ध है और जो अधिकतर दक्षिण में पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त इस समय के प्रचुर लौकिक साहित्य से भी हमें पर्याप्त मात्रा में ऐसी प्रासंगिक बातें ज्ञात होती हैं, जो इन धार्मिक ग्रन्थों से उपलब्ध शैव धर्म-सम्बन्धी हमारे ज्ञान की पुष्टि अथवा पूर्ति करती हैं। अतः इस काल में शैवमत का क्या स्वरूप रहा और इसमें क्या विकास हुआ, इसका हमें खासा अच्छा ज्ञान हो जाता है।

इस काल में शैवमत के विषय में सबसे प्रमुख बात यह है कि उत्तर और दक्षिण में इसके दो सुस्पष्ट रूप हा गये। यह एक व्यावहारिक ज्ञान की बात है कि किसी भी धर्म के स्वरूप पर उसके अनुयायियों की प्रकृति और स्वभाव का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। एक ही धर्म दो विभिन्न प्रकृति और स्वभाव के लोगों में फैलने पर विभिन्न रूप धारण कर लेता है। अतः शैवधर्म जब दक्षिण भारत में फैला, तब वहाँ भी यही हुआ। पुराणोन्तर काल में प्रथम बार जब यह दक्षिण में अपने विकसित और संघटित रूप में दिखाई पड़ता है तब उत्तर भारत के शैवमत के स्वरूप से भिन्न इसका एक निश्चित स्वरूप बन गया था। अतः यही ठीक होगा कि इन दोनों का अलग-अलग निरीक्षण किया जाय।

उत्तर भारत में पुराण-ग्रन्थों द्वारा शैव मत का स्वरूप और उसकी प्रकृति दोनों ही निर्धारित कर दिये गये थे। यहाँ पुराणोत्तर काल में सबसे पहले हमें उत्तरकालीन गुप्तवंशीय राजाओं तथा उनके उत्तराधिकारी नरेशों के शिलालेख मिलते हैं। उनमें शैवमत का जो स्वरूप दिखाई देता है, वह सारांशः पौराणिक ही है। छठी शताब्दी के राजा 'यशोधर्म' के शिलालेख का हम ऊपर उल्लेख कर ही चुके हैं। सातवीं शताब्दी में राजा 'आदित्यसेन' के 'अपसाद्-शिलालेख' में कार्तिकेय का उल्लेख किया गया है और उसको शिव का वास्तविक पुत्र माना गया है। इससे पता चलता है कि स्कन्द-जन्म की मूलकथा इस समय तक विस्मृतप्राय हो चुकी थी। सातवीं शताब्दी में ही राजा 'अनन्तवर्म' का नागर्जुन पर्वत का गुफालेख है। इसमें शिव और पार्वती की प्रतिमाओं का उल्लेख किया गया है, जिनका उस राजा ने इस स्थान पर प्रतिष्ठापन किया था^१। उसी स्थान पर इसी राजा के एक दूसरे शिलालेख में देवी द्वारा महिषासुर के वध की कथा की ओर संकेत किया गया है, और देवी की कल्पना यहाँ उनके उग्र रूप में की गई है^२। इस देवी को पार्वती से अभिन्न माना गया है। इसका कोई नाम यहाँ नहीं दिया गया; परन्तु राजा के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि उसने इन्हीं गुफाओं में कात्यायनी की एक मूर्त्ति का प्रतिष्ठापन किया था और एक गाँव भवानी को समर्पित किया था। सातवीं शताब्दी के ही महाराज 'प्रवरसेन' द्वितीय के दो लेख भी मिले हैं—एक 'छम्मक' का ताम्रपत्र और दूसरा 'सिवानी' का शिलालेख। इन दोनों में 'भारशिव' नाम के एक शैव सम्प्रदाय का उल्लेख किया गया है, जिसके अनुयायी शिवलिंग को सम्मान-पूर्वक अपने कन्धों पर लेकर चलते थे^३। उस समय यह सम्प्रदाय काफी महत्व रखता होगा; क्योंकि उनके गुरु 'भावनाग' को 'महाराज' की उपाधि दी गई है। उनका गंगाजल से अभिषेक किया जाता था। स्मरण रहे कि त्रिपुरदाह की कथा के पौराणिक संस्करणों में से एक में बाणासुर को इसी प्रकार मस्तक पर शिव-लिंग उठाये अपने दुर्ग से बाहर निकलते हुए बताया गया है। अतः यह सम्भव है कि इस कथा में एक वास्तविक प्रथा की ओर संकेत हो, और 'भारशिव' सम्प्रदाय का जन्म पौराणिक काल में ही हो गया हो। आगे चल कर हम इस सम्प्रदाय को एक नये रूप में और नये नाम से अभिहित पायेंगे।

सातवीं शताब्दी के शिलालेखों से हमें यह भी पता चलता है कि अभी तक विभिन्न मतों में साधारण रूप से परस्पर सहिष्णुता का भाव था। पिछले अध्याय के आरम्भ में हमने देखा था कि गुप्तवंश के राजा यद्यपि स्वयं वैष्णव थे, फिर भी वे अन्य मतों का संरक्षण करते थे और उनको यथोचित सहायता भी देते थे। इन मतों में शैवमत भी शामिल था। इनके उत्तरवर्ती राजाओं ने भी साधारणतया ऐसी ही सहिष्णुता दिखाई। इस समय के शिलालेखों में भी प्रायः जहाँ एक देवता की स्तुति की जाती है, वहाँ अन्य

१. C. I. I. : भाग ३ लेट २८, पृष्ठ २००।

२. „ : „ , ३१ „, २२३-२६।

३. „ : „ , ३१ „, २२३-२६।

४. „ : „ , ३४ „, २३५।

देवताओं का स्तवन तथा प्रशंसा हो जाती है। उदाहरण के लिए ५४५ ईस्वी के राजा 'हरिवर्मा' के 'सांगलोई' वाले ताम्रपत्रों में—यद्यपि दानकर्ता शैव है और शिव को ही सर्वश्रेष्ठ देवता मानकर उनकी सुनि करता है, तथापि—उसने शिव, विष्णु और ब्रह्म तीनों को प्रणाम किया है^१। अनेक दूसरे शिलालेखों में भी हम यही पाते हैं। इसी समय के दो अन्य शिलालेखों में 'मातृकाओं' का उल्लेख किया गया है। इनकी जनसाधारण में उपासना होती थी, यह हम 'मृच्छकटिक' नाटक में पहले ही देख आये हैं। ये मातृकाएँ उनकी मातृकाओं से भिन्न हैं, जिनका पुराणों में उल्लेख हुआ है और जो उग्ररूपधारिणी तथा शिव अथवा पार्वती के उग्र रूपों में उनकी सहचरी हैं। यहाँ इन मातृकाओं को माताएँ माना गया है। जहाँ तक विदित होता है, इनका स्वभाव सौम्य और मंगलकारी था तथा समृद्धि और सुख-ग्रासि के लिए इनकी पूजा की जाती थी^२। स्कन्दगुप्त के विहार-शिलालेख में इनका सम्बन्ध कार्तिकेय से किया गया है। इससे यह सम्भावना होती है कि यह मातृकाएँ शिशु स्कन्द को पाने और पालने वाली कृतिकाएँ ही तो नहीं हैं, जिनका स्कन्द-जन्म की कथाओं में उल्लेख हुआ है। परन्तु इस विषय में निश्चयात्मक ढंग से कुछ कहना कठिन है।

इन शिलालेखों से हमें तत्कालीन उपासना विधि के विषय में भी कुछ ज्ञान होता है। सभी मर्तों के अपने-अपने मन्दिर थे, जहाँ नियमित रूप से पुजारी रहते थे। प्रायः सभी शिलालेख ऐसे ही मन्दिरों को बनवाने, उनमें देवमूर्तियों के प्रतिष्ठापन कराने और इन मन्दिरों के खर्च तथा उनके पुजारियों के निर्वाह के लिए दिये गये दान की व्यवस्था कराने का उल्लेख करते हैं। यह मन्दिर तत्कालीन धार्मिक जीवन के केन्द्र बन गये थे और इन मन्दिरों के पुजारी विशेष त्योहारों पर जनता की पुरोहिताई भी करने लगे थे।

छठी और सातवीं शताब्दी के शिलालेखों से जो कुछ हमें पता चलता है, तत्कालीन साहित्यिक सामग्री से उसकी पुष्टि होती है। इस सामग्री में 'दण्डी' और 'बाणभट्ट' के गद्य-काव्य सबसे अधिक महत्व के हैं। दण्डी छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए थे और उनके 'दशकुमार-चरित' से उस समय की धार्मिक स्थिति का भली प्रकार पता चल जाता है। जहाँ तक शैव मत का सम्बन्ध है, इस ग्रन्थ में देश के विभिन्न भागों में अनेक शैव मन्दिरों का उल्लेख किया गया है। उनमें जिस प्रकार पूजा आदि होती थी, वह बिलकुल पौराणिक ढंग की थी। कुछ शैव मन्दिर तो बड़े प्रसिद्ध हो गये थे और दूर-दूर से लोग उनके दर्शनार्थ आते थे^३। सांप्रदायिक विद्वेष का कोई संकेत हमें इस ग्रन्थ में नहीं मिलता। केवल जैनों का, दण्डी ने कहीं-कहीं उपहासपूर्वक, उल्लेख किया है^४।

महाकवि 'बाणभट्ट' के दो गद्यकाव्य हमें उपलब्ध हैं। एक 'हर्ष-चरित' और

१. हरिवर्मा के सांगलोई ताम्रपत्र E. I. १, १४, पृष्ठ १६६।

२. स्वामी भट्ट का देवगढ़ शिलालेख १, १८, पृष्ठ १२६।

३. उदाहरणार्थ काशी में 'अविमुक्ते श्वर' (उच्छ्वास ४) और श्रावस्ती में 'त्रयम्बकेश्वर'

(उच्छ्वास ५)

४. उदाहरणार्थ उच्छ्वास—२।

दूसरा 'कादम्बरी'। वाण स्वयं शैव थे और इन दोनों ग्रन्थों के प्रारम्भिक श्लोकों में उन्होंने भगवान् शिव को एकेश्वर माना है जो स्वयं को त्रिमूर्ति के रूप में व्यक्त करते हैं^१। कादम्बरी में उन्होंने उज्जयिनी के विश्वविख्यात भगवान् महाकाल के मन्दिर का भी उल्लेख किया है, जिसका वर्णन कई शताब्दियों पहले महाकवि कालिदास ने भी 'मेघदूत काव्य' में अपने अनुपम ललित ढंग से किया था। स्वयं महारानी विलासवती उस मन्दिर में पूजार्थ जाती थीं। इसके अतिरिक्त 'वाण मट्ठ' शैव धर्म-सम्बन्धी संपूर्ण पौराणिक देव-कथाओं से पूर्णतया थीं। इसके अतिरिक्त 'वाण मट्ठ' शैव धर्म-सम्बन्धी संपूर्ण पौराणिक देव-कथाओं का स्थान-स्थान पर परिचित थे और अपने दोनों गद्यकाव्यों में उन्होंने विविध शैव-कथाओं का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है। इन उल्लेखों में भी हमें कहाँ किसी सांप्रदायिक संघर्ष अथवा विद्वेष का कोई निश्चित संकेत नहीं मिलता। एक बात अवश्य है कि 'वाण' ने 'हर्ष-चरित' काव्य को उस स्थल से आगे नहीं लिखा, जहाँ सम्भवतः महाराज 'हर्षवर्द्धन' ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था। यह बात भी कोई निश्चित नहीं है; परन्तु यदि इसे ठीक माना जाय तो हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि शायद उस समय ब्राह्मण और बौद्ध धर्मों के परस्पर सम्बन्ध अच्छे नहीं थे। परन्तु इसके साथ-साथ यह भी सम्भव है कि बौद्ध धर्म के प्रति यह अरुचि केवल कवि की अपनी व्यक्तिगत हो और उस समय इन दो धर्मों के बीच साधारण रूप से जो सम्बन्ध थे, उनको प्रतिविम्बित न करती हो।

सातवीं शताब्दी के मध्य में राजा हर्षवर्द्धन के राज्य-काल में चानी यात्री ह्यून-सांग ने भी भारत का भ्रमण किया था। उन्होंने यहाँ के अपने अनुभव लिखते समय तत्कालीन धार्मिक अवस्था के विषय में भी बहुत कुछ कहा है। भगवान् शिव और उनके मन्दिरों का, जो सारे भारत में पाये जाते थे, उन्होंने प्रायः उल्लेख किया है^२। वर्तमान कच्छ के समीप सारे भारत में पाये जाते थे, उन्होंने एक महान शैव मन्दिर का वर्णन किया है, जो प्रस्तर-मूर्तियों से 'लांगल' स्थान पर उन्होंने एक महान शैव मन्दिर का वर्णन किया है, जो प्रस्तर-मूर्तियों से खूब आभूषित था^३। कुछ उद्धरणों से हम यह भी अनुमान लगा सकते हैं कि उस समय खूब आभूषित था^४। उद्धरणों से हमें पहली बार ब्राह्मण और बौद्ध धर्मों के बीच संघर्ष का संकेत मिलता है, यद्यपि इस संघर्ष ने कोई उग्र रूप धारण नहीं किया था^५।

अब हम आठवीं और नवीं शताब्दी के शिलालेखों को लेते हैं। इनमें भी शैवमत का रूप सारांशतः पौराणिक ही है। जब कभी भगवान् शिव का स्तुति की जाती थी तब उनको सर्वश्रेष्ठ देवता माना जाता था और उनकी उपासना साधारण पौराणिक ढंग से

- | | |
|---------------------------|---|
| १. कादम्बरी | : प्रस्तावना श्लोक १-२। |
| २. हर्षचरित | : " " १, २। |
| ३. कादम्बरी | : बम्बई संस्कृत सीरीज, पृष्ठ ५०। |
| ४. " | : " " ६१। |
| ५. ह्यून-सांग की यात्राएँ | : बील का अंग्रे जी अनुवाद [द्रूबनर ओरिएंटल सीरीज : भाग २] पृष्ठ, ११४, २०२; भाग २ : पृष्ठ ४४, ११९, १२७, २६२, २६३, २७६। |
| ६. " " | : भाग २, पृष्ठ २७७। |
| ७. " " | : भाग २, पृष्ठ २१८, २२०, २१। |

की जाती थी^१। अनेक नामों से उनकी मूर्तियों के प्रतिष्ठापन का उल्लेख किया गया है। नवीं शताब्दी की पहली 'वैजनाथ-प्रशस्ति' में देवी की दुर्गा नाम से आराधना की गई है और उनके स्वरूप में उनके उग्र तथा सौम्य दोनों रूपों का पूर्ण सम्मिश्रण दिखाई देता है^२। अन्य प्रशस्तियों में शिव की अष्टमूर्ति का उल्लेख किया गया है। विभिन्न मर्तों के परस्पर सम्बन्ध अभी तक साधारणतया अच्छे थे। ८६७ ई० के गुजरात-नरेश 'दन्तिवर्मा' के एक शिलालेख में भगवान् बुद्ध की स्तुति के बाद ही एक श्लोक में विष्णु और शिव की स्तुति की गई है। इसी प्रकार ८६१ ई० के 'कब्कराज सुवर्णवर्ष' के सूरतवाले ताम्रपत्रों में पहले भगवान् 'जिन' की स्तुति की गई है, और वह समस्त लेख किसी जैन-धर्मावलम्बी का ही है। फिर भी इसी के दूसरे श्लोक में विष्णु और शिव से भी कल्याणार्थ प्रार्थना की गई है^३।

इसा की आठवीं शताब्दी के एक शिलालेख में हमें शैवधर्म में एक नये विकास का पता चलता है। या शायद इसे यों कहना चाहिए कि यहाँ हमें शैव-धर्म-सम्बन्धी एक ऐसी प्रथा का प्रथम परिचय मिलता है, जिसका उल्लेख इससे पहले हमें और कहीं नहीं मिलता, यद्यपि वह प्रथा सम्भवतः पहले भी रही अवश्य होगी। यह है—शिवमन्दिरों में दासियाँ अपित करने की प्रथा। तथाकथित तालेश्वर ताम्रपत्रों में^४, जिनका समय सम्भवतः सातवीं से नवीं शताब्दी तक का है, 'बोटाओं' का उल्लेख किया गया है। यह वह परिचारिकाएँ होती थीं, जिन्हें भगवान् शिव की सेवा करने के लिए मन्दिरों को अपित कर दिया जाता था। उनको क्या-क्या कार्य करना पड़ता था, यह स्पष्ट रूप से नहीं बताया गया है; परन्तु कुछ अन्य शिलालेखों में पुरुष 'दासों' का भी इसी प्रकार मन्दिरों को अपित किए जाने का उल्लेख हुआ है। इससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि ये परिचर और परिचारिकाएँ सम्भवतः साधारण नौकर थे, जो मन्दिर में सफाई आदि का काम करते थे तथा जिनके बेतन, भोजन आदि का खर्च दानकर्ता उठाता था। इनमें और देवदासियों में अन्तर था, जिनका देवता को समर्पण किये जाने का ढंग विल्कुल भिन्न था और जो दासियाँ नहीं, अपितु संभ्रान्त कुलों की पुत्रियाँ होती थीं।

दसवीं से तेरहवीं शताब्दी तक के शिला-लेखों में शैवमत के साधारण स्वरूप में कोई अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता। 'खजुराओं' शिलालेख नम्बर ५ में, जिसका समय १००० ईस्वी है, भगवान् शिव को 'एकेश्वर' माना गया है और विष्णु 'बुद्ध' तथा 'जिन' को उन्हीं का अवतार कहा गया है^५। इसी शिला-लेख में शिव को 'वैद्यनाथ' की उपाधि भी दी गई है, जो उनके प्राचीन 'भिषक्' रूप की याद दिलाती है। सन् ११६२ ईस्वी के 'भुवनेश्वर' स्थान पर 'स्वप्नेश्वर' के शिलालेख में उन देवदासियों की चर्चा की गई है जो भुवनेश्वर के

१. उदाहरणार्थ लखमण्डल शिलालेख : E. I. भाग १, पृष्ठ १२।

२. E. I. : भाग १, पृष्ठ १०४।

३. „ „ : भाग २१, पृष्ठ १४०।

४. „ „ : भाग १, पृष्ठ १४८।

५. „ „ : भाग १, पृष्ठ १४८।

शैव मन्दिर में नृत्य करती थीं^१। इन लड़कियों को स्वयं महाराज ने मन्दिर का समर्पित किया था। उत्तर भारत में बहुत कम ऐसे अभिलेख हैं जिनमें देवदासी प्रथा का उल्लेख किया गया है और यह शिलालेख उनमें से एक है। इससे प्रमाणित होता है कि इस समय तक इस प्रथा का प्रचार उत्तर भारत में भी हो चला था, यद्यपि यह यहाँ बहुत नहीं फैल सकी।

बारहवीं शती के कुछ अभिलेखों में हमें प्रथम बार शैव और अन्य मतों, विशेषतः बौद्ध मत, के बीच संघर्ष का प्रमाण मिलता है। 'लखनपाल' के 'बुद्धाऊ' शिलालेख में वर्णित नाम के एक शैव-भक्त की चर्चा की गई है, जो दक्षिण में गया और वहाँ एक स्थान पर एक बौद्ध प्रतिमा को देख उसने क्रुद्ध हो, उसे हटा दिया^२। 'जाजल्ल-देव' के 'मल्हार' शिलालेख में, जिसका समय ११५० ईस्वी है, इस संघर्ष की ओर और भी स्पष्ट रूप से संकेत किया गया है। जिस व्यक्ति की स्मृति में यह शिलालेख लिखा गया था, वह शैव था—जो चार्वाकों के अभिमान के लिए अग्नि के समान, बौद्ध सिद्धान्त-सागर के लिए सानात् अगस्त्य मृषि के समान और दिग्म्बर जैनों के लिए काल समान था। इससे पता चलता है कि उस समय शैव मतावलम्बी इन तीनों मतों का सक्रिय विरोध कर रहे थे।

इस काल में शिव की प्रतिमाएँ देश-भर में प्रचुर मात्रा में पाई जाती हैं। इनसे केवल यही सिद्ध नहीं होता कि इस काल में शैव मत का खूब प्रचार था, अपितु अन्य अभिलेखों से जो कुछ हमें पता चलता है, उसकी पुष्टि भी होती है। इसके अतिरिक्त इन प्रतिमाओं से हम यह भी जान सकते हैं कि कितने विविध रूपों में भगवान शिव की उपासना होती थी। पुराणकाल तक यद्यपि शिव की उपासना का एक सामान्य रूप निर्धारित हो गया था; फिर भी जिन रूपों में उनकी यह उपासना की जाती थी, वह अनेक थे। पुराणोंका काल में शिव के यह विविध रूप बने ही नहीं रह, अपितु उनकी संख्या में और भी वृद्धि हो गई। शिव के मुख्य रूपों में से उनके अनेक गौण रूपों की भी उत्पत्ति हुई। भगवान् शिव के इस रूप वैविध्य का एक कारण यह भी था कि उनके यह अनेक रूप उनके कार्यानुकूल थे। अपना प्रत्येक कार्य करने के लिए भगवान् एक विशेष रूप धारण करते कार्यानुकूल थे। शिव की विभिन्न प्रतिमाएँ उनके विविध रूपों के प्रतीक स्वरूप हैं और कलाकारों ने इनमें, पुराणों में वर्णित शिव के काव्यमय अथवा लादणिक कल्पित चित्र का यथार्थरूप से चित्रण करने का प्रयत्न किया है। भगवान् के सौम्य रूप को प्रदर्शित करनेवाली सर्व-प्रथम उनकी साधारण मानवाकार प्रतिमाएँ हैं, जिनमें उनको खड़ा हुआ अथवा बैठा हुआ दिखाया गया है। उनकी आकृति सुन्दर है और वह प्रायः चतुर्भुज होती है^३। इन प्रतिमाओं के एक विशेष रूप को 'दक्षिणमूर्ति' कहा जाता है। इसमें भगवान् की कल्पना एक आचार्य तथा विद्या और कला के अविष्टार-देव के रूप में की गई है, जिनका ध्यान

१. E. I. भाग ६, पृष्ठ २००।

२. „ „ १, „ ६४।

३. यहाँ शिव-प्रतिमाओं का जो वर्णन किया गया है, वह प्रधानतः श्री गणपति राव की पुस्तक 'हिन्दू आइकानोग्राफी', भाग २ पर आधारित है।

और ज्ञान जिज्ञासु करते हैं। इन प्रतिमाओं में भगवान् शिव की मूर्ति के चारों ओर पशुओं, सर्पों, यतियों अथवा देवी का चित्रण किया जाता है और पुष्टभूमि में बन्य प्रदेश रहता है। शिव पार्वती के परिणय के प्रतीक स्वरूप भगवान् की 'कल्याण-सुन्दर' मूर्तियों में भी शिव की आकृति सुन्दर है। 'मूर्यष्टक' प्रतिमाओं में शिव की उन आठ मूर्तियों का चित्रण किया जाता है, जिनमें भगवान् स्वयं को व्यक्त करते हैं। 'महेशमूर्ति' प्रतिमाओं में भगवान् की कल्पना स्थणा, पालयिता और संहर्ता के रूप में की गई है। इसके अतिरिक्त कुछ मूर्तियाँ भगवान के दार्शनिक स्वरूप का चित्रण भी करती थीं। इनको 'सदाशिव' अथवा 'महासदाशिव' मूर्तियाँ कहा जाता था और ये भगवान् के सर्वोत्तम 'सकल-निष्कल' रूप की प्रतीक थीं। इस प्रकार की एक मूर्ति 'एलीफेंटा' गुफा में है। कुछ अन्य मूर्तियाँ शिव की 'एकेश्वरता' को दर्शाती हैं और पत्थर अथवा धातु की बनी हुई हैं। इस प्रकार की प्रतिमाओं में सबसे अधिक प्रख्यात 'त्रिमूर्ति' है, जिनमें ब्रह्मा और विष्णु को शिव के दोनों पक्षों से आर्विभूत होते हुए दिखाया गया है। इसके अतिरिक्त शिव की 'अर्धनारीश्वर' प्रतिमा का भी बहुत प्रचार हुआ प्रतीत होता है। इन 'अर्धनारीश्वर' प्रतिमाओं का वर्णन हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। इनमें से 'वादामी' के कन्दरा-मन्दिर की और 'कुम्भकोणम्' और 'कांजीवरम्' की मूर्तियाँ सबसे प्राचीन हैं। इनका समय सातवीं शताब्दी है। काँसे की एक अर्धनारीश्वर मूर्ति में एक शुक को भी चित्रित किया गया है, जो संभवतः अभिन है, जिसने शिव और पार्वती की रतिलीला को भंग करने के लिए यह रूप धारण किया था। 'अर्धनारीश्वर' की सबसे प्रख्यात मूर्ति एलीफेंटा की गुफा में है।

भगवान् शिव की 'त्रिमूर्ति' और 'अर्धनारीश्वर' प्रतिमाओं के अतिरिक्त उनकी एक अन्य प्रकार की प्रतिमाएँ भी बनाई जाती थीं, जिनको 'हर्यर्घमूर्ति' कहते थे। इनमें प्रतिमा के एकार्द्ध में शिव और द्वितीयार्द्ध में विष्णु को चित्रित किया जाता था। स्पष्ट ही यह प्रतिमा इन दोनों देवताओं के तादात्म्य को प्रकट करती थी। इनकी संख्या अपेक्षाकृत बहुत कम है। 'वादामी' के कन्दरा-मन्दिर में एक ऐसी ही 'हर्यद्व' मूर्ति मिलती है—कुछ अन्य स्थानों में भी ऐसी ही मूर्तियाँ मिली हैं।

शिव के क्रूर रूप को लेकर भी विभिन्न प्रकार की प्रतिमाएँ बनाई जाती थीं। इन सबका एक सामान्य लक्षण यह है कि इनमें देवता को 'दंष्ट्रिन्' दिखाया गया है। वराह की तरह मुख में से बाहर निकलते हुए ये दंष्ट्र क्रूरता के रूढ़िगत प्रतीक बन गये थे। शिव के क्रूर रूप पर आधारित इन प्रतिमाओं में सबसे अधिक प्रचार उनकी 'भैरव' मूर्ति का था। इनमें भगवान् की आकृति भयावह, उनका शरीर दिग्म्बर अथवा कृत्तिवासा और संपर्वेष्टित दिखाया जाता था। कहीं-कहीं एक काले रंग का कुत्ता भी उनके पास खड़ा हुआ चित्रित किया जाता था, जो प्राचीन वैदिक रुद्र के मृत्यु-देवता स्वरूप की याद दिलाता है। कुछ अन्य प्रतिमाओं में उनके 'त्रिपुरारि' रूप को भी चित्रित किया गया है, जिसमें उन्होंने दानवों के तीन पुरों का दहन किया था। शिव की कुछ प्रतिमाएँ 'वीरभद्र मूर्ति' कहलाती हैं, जिनका सकेत शिव-द्वारा दक्षयज्ञविध्वंस की ओर है। इन मूर्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि इस समय स्वयं शिव को ही वीरभद्र माना जाता था—यद्यपि पुराणों में वर्णित

‘बीरभद्र’ वह था, जिसे भगवान् शिव ने दक्षयज्ञ को नष्ट करने के लिए उत्पन्न किया था। इसके अतिरिक्त ‘अधोरमूर्तियों’ में शिव के ‘कपाली’ स्वरूप को चित्रित किया गया है। इन प्रतिमाओं में शिव को नील-कंठ, कृष्णवर्ण और मुँडमाला-धारी दिखाया गया है। अन्य मूर्तियों के समान यहाँ भी शिव ‘दंष्ट्रिन्’ तो हैं ही। इन ‘अधोरमूर्तियों’ की पूजा शमशान भूमि में संभवतः कापालिकों द्वारा की जाती थी। ‘महाकाल’ मूर्तियों में शिव को फिर कृष्णवर्ण दिखाया गया है। इसके अतिरिक्त इनमें वह सुरापान भी कर रहे हैं और पार्वती का आलिंगन भी कर रहे हैं। स्पष्ट ही इन मूर्तियों में उनके विलास-प्रिय स्वरूप का चित्रण किया गया है। परन्तु इन ‘महाकाल’ प्रतिमाओं की उपासना विलकुल साधारण ढंग से होती थी, और हम देख ही चुके हैं कि उज्जियनी का महाकाल मन्दिर की गणना भारत के सर्वप्रख्यात शैव मन्दिरों में होती थी।

शिव में कालस्वरूप की एक विशेष प्रतिमा भी बनाई जाती थी, जिसमें उनको ‘मङ्गारि’ कहा जाता था। इस रूप में उनके साथ कुत्तों का विशेष रूप से साहचर्य रहता था। प्रतिमाओं में शिव को श्वेताश्वरारोही दिखाया गया है और उनके साथ एक या अधिक कुत्ते भी रहते थे। इन प्रतिमाओं की उपासना संभवतः ‘मङ्गारि’ सम्प्रदाय के लोग करते थे, जिनके सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध था कि वे कुत्तों की तरह रहते और व्यवहार करते थे।

शिव के उपर्युक्त स्वरूपों के अतिरिक्त उनके नटराज स्वरूप का चित्रण मूर्तिकारों को अतिप्रिय था और यह प्रतिमाएँ बहुत ही लोक-प्रिय हो गईं। इस रूप में शिव का नाम ही ‘नटराज’ पड़ गया था और प्रतिमाओं में उन्हें ‘ताण्डव’ नृत्य करते हुए दिखाया गया है। वह जटाधारी, कृत्तिवासा और चतुभुज हैं और ललाट पर चन्द्र तथा सिर पर गंगा को धारण किये हुए हैं। कहीं-कहीं इस रूप में उनको ‘गज’ दानव का पैरों तले मर्दन करते हुए भी दिखाया गया है, जिसका वध करके उन्होंने ताण्डव नृत्य किया था तथा जिसकी कृति को उन्होंने अपना वस्त्र बना लिया था। ये नटराज मूर्तियाँ प्रस्तर और धातु दोनों की ही बनती थीं और देश के प्रत्येक भाग में पाई गई हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तर भारत में शैव मत का रूप सारभाव से पौराणिक ही रहा और किसी समय भी शैव मत के इस रूप में कोई भारी परिवर्तन नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि पौराणिक ब्राह्मण धर्म का प्रभाव यहाँ सदा प्रबल रहा और उससे हटकर चलना किसी भी मत के लिए प्रायः असंभव था। इसके विपरीत दक्षिण में स्थित सर्वथा भिन्न थी। प्रारम्भ से ही दक्षिण भारत की एक अपनी विकसित सभ्यता थी। वैदिक और तदनन्तर ब्राह्मण-संस्कृति के केन्द्रों से यह प्रदेश बहुत दूर था तथा इसी कारण जिन धार्मिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का प्राबल्य उत्तर भारत में रहा, उनका प्रभाव यहाँ उतना अधिक नहीं पड़ा। आर्यसभ्यता यहाँ तक फैली तो जरूर, परन्तु बहुत धीरे-धीरे और यहाँ का पूर्ववर्ती सभ्यता के साथ बहुत-कुछ सम्मिश्रित होती हुई। यद्यपि यहाँ के लोगों ने आर्य-संस्कृति को अपना भी लिया, तथापि उन्होंने अपना इतना व्यक्तित्व जरूर रखा कि जिस संस्कृति को उन्होंने अपनाया, उसपर अपनी एक स्पष्ट छाप डाल दी और उसे अपने रंग में रंग लिया। इसी तरह यद्यपि पौराणिक ब्राह्मण-धर्म का प्रचार दक्षिण में भी हुआ—और

सारभाव से उत्तर और दक्षिण भारत का ब्राह्मण धर्म एक ही था—तथापि पुराणोत्तर काल में दक्षिण भारत के धार्मिक विचार और आचार, कई महत्वपूर्ण अंशों में, उत्तर भारत से भिन्न थे। यह भिन्नता पुराणोत्तरकालीन शैव मत के स्वरूप से भली प्रकार प्रकट हो जाती है। इसका वास्तव स्वरूप तो वैसा ही रहा, जैसा उत्तर भारत में। परन्तु गुप्त-साम्राज्य की अवनति के बाद दक्षिण में कई शक्तिशाली राज्यों का उदय हुआ और इसके फल-स्वरूप वहाँ के जावन के प्रत्येक ज्येत्र में एक बड़ी हलचल पैदा हुई। धार्मिक ज्येत्र में वह हलचल किसी अन्य ज्येत्र से कम न थी। देश में शैवमत का सर्वाधिक प्रचार था और भगवान् शिव की उपासना के लिए अनेकानेक मन्दिर बन रहे थे, जिनमें से कुछ तो वास्तव में बड़े भव्य थे। छठी से तेरहवीं शताब्दी तक दक्षिण भारत में वास्तुकला के उत्तमोत्तम उदाहरणों की सृष्टि हुई। इनमें मदुरा और एलोरा के महान मन्दिर ही नहीं, अपितु अनेक अपेक्षाकृत कम प्रख्यात मन्दिर भी सम्मिलित हैं, जो विशेष व्यक्तियों अथवा संस्थाओं ने बनवाये थे और उनका खर्चा चलाने के लिए दान भी दिया था। इन मन्दिरों में भगवान् शिव की जो प्रतिमाएँ स्थापित की गई थीं, वे लिंगाकार अथवा मानवाकार दोनों प्रकार की होती थीं और उत्तर भारत की प्रतिमाओं की तरह उनके रूपों में भी वैसी ही विविधता है।

परन्तु दक्षिण भारत में शब मतावलम्बियों की धार्मिक भावनाएँ उत्तर भारत के शैवों से बहुत भिन्न थीं। इसका कारण सम्भवतः तत्कालीन दक्षिणात्यों की अत्यधिक भावुकता और कुछ स्वाभाविक अधीरता थी। इसी से इन लोगों की भक्ति उत्साहपूर्ण होती थी और किसी भी मतमेद के प्रति ये अपेक्षाकृत असहिष्णु होते थे। इसके फल-स्वरूप यहाँ धार्मिक संघर्ष होना स्वाभाविक ही नहीं, अपितु एक तरह से अनिवार्य हो गया। छठी शताब्दी में और उसके बाद यही हुआ और दक्षिण भारत धार्मिक प्रतिद्वन्द्विता का केन्द्र बन गया। ईसवीं सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में यहाँ विभिन्न मतों का प्रचार हो गया था। पाँचवीं शती के अन्त तक तो किसी प्रमुख संघर्ष का कोई संकेत हमें नहीं मिलता। इस समय तक दक्षिण में ब्राह्मण, बौद्ध और जैन धर्मों का प्रभाव लगभग एक-सा हो गया था। यदि किसी एक धर्म का कुछ ज्यादा समय तक प्रावल्य रहा, तो वह जैन धर्म का था। अतः इस समय से इन तीनों धर्मों में उत्कट संघर्ष चला और अन्त में शैव मत की विजय हुई। इसी कारण पुराणोत्तर काल में दक्षिण भारत में शैवमत का जो सबसे प्रमुख लक्षण है, वह उसका संघर्षात्मक स्वरूप और अन्य मतों के प्रति उसकी असहिष्णुता है। उत्तर भारत में जो मनोवृत्ति केवल कट्टरपंथी शैवों की थी, दक्षिण में वही मनोवृत्ति सामान्य हो गई और शब मत ने बौद्ध और जैन धर्मों के विरुद्ध एक विकट संग्राम छेड़ दिया। इस संग्राम का अन्त तभी हुआ जब दक्षिण में इन दोनों धर्मों का पूर्ण रूप से हास हो गया। उस समय के समस्त शैव साहित्य पर इस संघर्ष का प्रभाव पड़ा है।

सातवीं शती में दो प्रसिद्ध शैव संत हुए हैं—‘सम्बन्दर’ और ‘अप्पर’^१। इनके

१. इन दोनों सन्तों के जीवन और कृत्यों का वृत्तान्त मुख्यतः श्री सी० वी० एन० अच्यर की अंग्रेजी पुस्तक ‘ओरिजिन एंड अरली हिस्टरी आंफ शैविज्म इन साउथ इण्डिया’ पर आधारित है।

जीवन-वृत्तों से ज्ञात होता है कि छठी शती में दक्षिण में जैन धर्म का प्रावल्य था। जैनों के उद्भूत व्यवहार और उनका असहिष्णुता के फलरूप उनमें और शैवों में तीव्र संघर्ष चला। ये दो संत उन लोगों में से थे, जिन्होंने तर्क और ख्ययं अपने आचार तथा कार्यों से जैनियों के दावों को छिन्न-भिन्न कर शैव मत की साख बढ़ाई। सन्त 'सम्बन्दर' तो विशेष रूप में जैनों को पराजित करने के काम में ही जी-जान से लग गये। उन्होंने अपने प्रत्येक 'पदिगम' में जैनों की निन्दा की है। एक 'पदिगम' में उन्होंने भगवान् शिव को वह सैनिक कहा है, जिसने जैनों को हराया। एक किंवदन्ती भी प्रचलित है कि एक बार जब 'सम्बन्दर' मदुरा में थे, जो उस समय जैन धर्म का एक बड़ा भारी केन्द्र था, तब कुछ जैन विद्वे पियों ने उनकी कुटिया में आग लगा दी। परन्तु जैसे ही 'सम्बन्दर' ने शिव की स्तुति में एक उनकी कुटिया में आग लगा दी। परन्तु जैसे ही 'सम्बन्दर' ने शिव की स्तुति में एक 'पदिगम' कहा, वैसे ही यह आग तुरन्त बुझ गई। इसी प्रकार के अन्य चमत्कारों की भी चर्चा उन्होंने अपने 'पदिगमों' में की है, जिससे जैनों को सुँह की खानी पड़ी। इसी से खण्ड हो जाता है कि इस संत ने शैवों और जैनों के संघर्ष में सक्रिय भाग लिया तथा जैनों को परास्त करने में उनको पर्याप्त सफलता मिली। सन्त 'अप्पर' प्रारम्भ में जैन थे, परन्तु बाद में शैव हो गये। यह बात ख्यतः शैवमत की बढ़ती हुई साख का प्रमाण है। 'अप्पर' भी 'सम्बन्दर' के समकालीन थे। अपने एक पद्य में उन्होंने अपने धर्म-परिवर्तन की ओर संकेत किया है और जैन-सिद्धान्तों को पापोन्मुख बताकर उनकी निन्दा की है। 'सम्बन्दर' तो मुख्यतः भक्त ही थे; परन्तु 'अप्पर' संत होने के साथ-साथ एक बड़े विद्वान् और कवि भी थे। इन दोनों सन्तों का दक्षिण भारत में जैन-धर्म को पराजित करने में बड़ा हाथ था।

इन दोनों सन्तों के कुछ समय बाद 'मणिकवासगर' हुए, जिन्होंने 'तिस्त्वासगम' की रचना की। जो कार्य 'अप्पर' और 'सम्बन्दर' ने जैनों के विरुद्ध किया, वही 'मणिकवासगर' ने बौद्धों के विरुद्ध किया। इनकी रचना में जैनों की, शैवों के प्रमुख प्रतिद्वन्द्वियों के रूप में, कोई चर्चा नहीं है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि 'अप्पर' और 'सम्बन्दर' जैसे लोगों के प्रयत्न सफल रहे, और जैनों के पैर उखड़ गये थे। इसके विपरीत 'चिदम्बरम्' में 'मणिकवासगर' और बौद्धों के बीच शास्त्रार्थ की एक परम्परागत कथा चली आती है, जिसमें 'मणिकवासगर' की भारी विजय की ख्याति से दिशाएँ गूँज उठी थीं। इस शास्त्रार्थ का आयोजन ख्ययं राजा ने किया था, और इसमें सहाय द्वीप के सबसे बड़े बौद्ध विद्वान् को अपने धर्म की रक्षा के लिए बुलाया गया था। यदि इस कथा में कुछ भी ऐतिहासिक तथ्य है, तब 'मणिकवासगर' की यह विजय बड़ी निश्चयात्मक सिद्ध हुई होगी और इससे बौद्ध धर्म को बड़ा भारी धक्का पहुँचा होगा।

इन प्रख्यात सन्तों के अतिरिक्त उस समय में ब्राह्मण ऐसे लोग अवश्य हुए होंगे, जिन्होंने इसी प्रकार अपने धर्म के प्रचारार्थ शास्त्रार्थ आदि में सफल होकर और अन्य साधनों से तथा अपने आचार से शैव मत की कीर्ति को बढ़ाया होगा। इनमें से कुछ का जीवन-वृत्त एक ग्रन्थ में दिया गया है, जो 'पैरिय पुराण' के नाम से प्रसिद्ध है। इन लोगों की एक विशेष उपाधि थी—'नवनार'। इनमें से एक नयनार 'निश्चिव नेदुमर' के

१. 'तिस्त्वासगम': जी० य० पोप का संस्करण, भूमिका, पृष्ठ ६७।

जीवन-वृत्त में कहा गया है कि उसने अपने प्रतिद्वन्द्वियों से अधिक महान् चमत्कार दिखाकर शैव धर्म की उत्कृष्टता का प्रमाण दिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय जन-साधारण का ऐसे चमत्कारों पर बड़ा विश्वास था और उन्हीं को वे किसी भी मत की उत्कृष्टता अथवा हीनता की कसौटी मानते थे। एक अन्य नयनार 'मंगरसियर' के जीवन-वृत्त में जैनों की उद्घड़ता की चर्चा का गई है। 'उनको देखते ही, आगमों और मन्त्रों पर श्रद्धा रखनेवाले साधारण भद्र लोग डर से अलग हट जाते थे।' दूसरी ओर कुछ और नयनारों के जीवनवृत्तों से कुछ अत्युत्साही और कट्टरपंथी शैवों की उद्घड़ता और अन्य धर्मों के प्रति असहिष्णुता भी झलकती है। 'एरिएड नयनार' ने एक हाथी और उनके पाँच रखवालों का केवल इस कारण वध कर दिया था कि संयोगवश उस हाथी ने फूलों की एक टोकरी को जो किसी शैव-मन्दिर में अर्चनार्थ जानेवाली थी, उलट दिया था। 'कालार्चिंग नयनार' ने एक रानी की नाक इस लिए काट ली थी कि उसने शिव के पूजार्थ रखे हुए पुष्पों को सूँघ लिया था। इन दो उदाहरणों से हमें कट्टरपंथी शैवों की मनोवृत्ति का ज्ञान होता है, जो बौद्ध और जैनों के प्रति और भी उत्तर से असहिष्णु रहे होंगे।

अब यह देखना है कि दक्षिण भारत में शैवों का वैष्णवों के प्रति क्या रवैया था। ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में इन दोनों के सम्बन्ध अच्छे थे, जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख आये हैं। धार्मिक सहिष्णुता की जो भावना उस समय सर्वत्र पाई जाती थी, वह वैष्णवों में भी उसी मात्रा में थी, जितनी अन्य मतावलम्बियों में। पाँचवीं शताब्दी ईसी में सन्त तिरुमूलर ने शैवागमों का संस्कृत से तामिल में अनुवाद किया था। उस समय में शैव और वैष्णव मतों में परस्पर सद्भावना थी, और सारभाव से विष्णु और शिव की एकता को माना जाता था। दक्षिण भारत में वैष्णव 'आलवर' कहलाते थे और एक वैष्णव भक्त 'पैर्यालवर' ने तिरुपति में भगवान् शिव का वर्णन इस प्रकार किया है—“उनकी खुली जटाएँ और उन्नत सुकुट, उनका चमकता हुआ परशु और देवीप्यमान चक्र, उनके शरीर को आवेषित करते हुए सर्प और सुवर्ण मेखला, सचमुच पुनीत है। इस प्रकार जल से छलकती हुई नदियों से घिरे हुए भगवान् गिरीश ने दोनों रूपों को अपने में संयुक्त कर लिया है।” परन्तु तिरुमूलर के ही समय में शैवों और वैष्णवों की परस्पर स्पर्द्धा के प्रथम संकेत भी हमें मिलते हैं। कहते हैं कि ख्यय तिरुमूलर ने सम्भवतः वैष्णवों को लक्ष्य करते हुए यह कहा था—‘यदि लघु वृत्ति के लोग ईश का अनादर करते हैं और कहते हैं कि उनको देवलोक से निर्वासित कर दिया गया है, तो उनकी दशा उस तोते जैसी हीगी जिसे विल्ली ने पकड़ रखा हौं।’ यह कथन हमें तुरन्त शिव के विस्त्र उन आक्षेपों का स्मरण कराता है जिनकी चर्चा पुराणों में की गई है। हो सकता है कि उस समय दक्षिण भारत में कुछ वैष्णव ऐसे भी थे, जो शिव और उनकी उपासना की निन्दा करते थे। इसकी पुष्टि तत्कालीन वैष्णव सन्तों के चरित्रों से भी होती है। उनसे हमें पता चलता

१. सौ० बी० एन० अय्यर : 'ओरिजिन एंड अरली हिस्टरी ऑफ शैविज्म इन साउथ इण्डिया'

है कि वैष्णव आलवरों में से कुछ ऐसे भी थे, जिनमें साम्प्रदायिकता का आवेश अधिक था और जो खुले शैव मत का विरोध करते थे। ऐसा ही एक वैष्णव संत 'तिरुमंलिराई आलवर' था जिसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वह शैवों को सर्वथा विवेकीन मानता था। अन्य आलवरों की भी इसी प्रकार की कई उक्तियाँ प्रसिद्ध हैं। यद्यपि किसी समय भी शैवों और वैष्णवों में वह कटुता नहीं आई जो शैव, बौद्ध अथवा जैन धर्मों के बीच पाई जाती थी, तथापि जैसे-जैसे समय वीतता गया, इनमें प्रतिपद्धा बढ़ती ही गई और ब्राह्मणोत्तर मतों का पराजय के बाद जब दक्षिण भारत में केवल ये ही दो प्रधान मत रह गये, तब यह प्रतिपद्धा तो और भी उत्कट हो गई।

इन साहित्यिक प्रमाणों के बाद यह आश्चर्य की बात है कि दक्षिण भारत में पौराणिक और पुराणोत्तर काल के शिलालेखों में काफी समय तक इस धार्मिक प्रतिद्वन्द्विता का कोई संकेत नहीं मिलता। छठी शताब्दी की बन-रूपति मल्लदेव नन्दिवर्मा के 'मुदायन्नु' ताम्रपत्रों में शिव और विष्णु का साथ-साथ स्तवन किया गया है और इन दोनों के उपासकों में परस्पर विरोध की कोई चर्चा ही नहीं है। सन् ७७७ ईस्वी की राजा पृथ्वी कोग महाराजा के 'नागमंगत्वर' ताम्रपत्रों में प्रारम्भ में विष्णु की आराधना की गई है, तदनन्दर एक शैव-भक्त विष्णुगोप की सम्मानपूर्वक चर्चा की गई है। ये ताम्रपत्र स्वयं एक जैन-मन्दिर के सहायतार्थ दान देने के सम्बन्ध में लिखे गये थे। म्यारहवीं शती के सोमेश्वर देव प्रथम के बालगैन्वे शिलालेख में भी प्रारम्भ में भगवान् 'जिन' की खुति की गई है और फिर के बालगैन्वे शिलालेख की अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार है—“महाराज की इच्छा से प्रभु विष्णु की। शिलालेख की अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार है—“महाराज की इच्छा से प्रभु नागवर्मा ने एक मन्दिर भगवान् 'जिन' का, एक भगवान् विष्णु का, एक भगवान् ईश्वर का और एक मन्दिर बानवसे देश के सन्तों का बनवाया।” अतः ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय जो धार्मिक और साम्प्रदायिक संघर्ष चल रहा था, वह सर्वन्यापी नहीं था, अपितु बहुधा धर्मशास्त्रियों तक ही सीमित था। साधारण रूप से रूपतिगण्य और अन्य व्यक्ति इस संघर्ष से अलग रहे, और पुरानी सहिष्णुता की भावना को अपनाये रहे। म्यारहवीं शती के अन्त में तथा बारहवीं शती के शिलालेखों में हमें पहली बार धार्मिक संघर्ष के कुछ संकेत मिलते हैं। इस समय 'अकलंक' नाम के एक विद्वान् सन्त ने पराजित जैन मतावलम्बियों की आशाओं को कुछ समय के लिए फिर जगा दिया और इनका अब बौद्धों से, तथा शैवों का इन दोनों से तीव्र संघर्ष चल पड़ा। सन् ११२८ ईस्वी के श्रावण बैलगोल शिलालेख^१ में सन्त अकलंक के प्रति बौद्धों के द्वेष की ओर संकेत किया गया है। इसी शिलालेख के एक अन्य भाग में कहा गया है कि जैन सन्त विमलचन्द्र ने शैवों, पशुपतीं, कापालिकों, कापिलों (सम्भवतः सांख्यवादी) और बौद्धों को परास्त किया था। इस विमलचन्द्र का उल्लेख सन् ११८३ ईस्वी के अन्य जैन शिलालेख^२ में भी हुआ है, और यहाँ भी उसके शैवों तथा अन्य सम्प्रदायों को परास्त करने की चर्चा की गई है।

१. I. A. भाग ६, पृष्ठ १७६।

२. एपिग्राफिका कर्णाटिका : भाग २, न० ५४।

३. , : भाग ३, न० १०५।

‘पेरिय पुराण’ से हमें शैवमत के कुछ नये लक्षणों का भी पता चलता है, जिनका प्रादुर्भाव अब हो रहा था, और जिनका अस्तित्व उत्तर भारत में कहीं नहीं था। सम्भवतः वह द्रविड़ जाति की अपेक्षाकृत अधिक भावुकता और तज्जन्य धार्मिक उत्साह का ही फल था कि उन्होंने भक्तिवाद के सिद्धान्त से यह खाभाविक निष्कर्ष निकाला कि सच्चे भक्तों में वर्ण और लिंग का कोई भेद नहीं किया जा सकता; क्योंकि सबसे सच्चे भक्त भगवान् की दृष्टि में समान होते हैं। अतः कुछ अधिक उत्साही शैवों ने वर्ण और लिंग के भेद को तोड़ डाला और सब सच्चे शैवों की संपूर्ण समता का प्रचार किया। एक निकृष्ट वर्ण के व्यक्ति को भी, यदि वह सच्चा भक्त था, उसी सम्मान का अधिकार था जो एक उच्च वर्ण के भक्त को दिया जाता था। ‘पेरिय पुराण’ में स्वयं नयनारों के सम्बन्ध में कहा गया है कि इनमें कुछ ब्राह्मण थे, कुछ वैल्लाल और कुछ तो आदिवासी जातियों के थे। एक आदि शैव ब्राह्मण ‘सुन्दर मूर्ति’ ने निम्नवर्ण के नयनार ‘सेरमन पेरुमल’ के साथ भोजन करने में कोई संकोच नहीं किया था। एक और उच्चवर्ण के नयनार सुन्दर ने एक नर्तकी से विवाह किया था। व्याध जाति के कन्धपा और नन्द को, जो सच्चे शिवभक्त थे, उतना ही सम्मान प्राप्त था और उनको उतना ही पुनीत माना जाता था, जितना श्रेष्ठ कुल के ब्राह्मणों को। इसके अतिरिक्त इसी पुराण में ब्राह्मण शैव भक्त ‘नामिनन्द अफिगल’ की कथा भी आती है, जिसको सब वर्णों के रपर्श से दूषित होने का संकोच हुआ और इसीलिए भगवान् ने खयं उसकी भर्त्सना की तब उसे खप्त में भगवान् ने दर्शन दिये और कहा कि जिन लोगों का जन्म ‘तिरवास्त्र’ में हुआ है, वे सब के सब शिव के गण हैं।

परन्तु वर्णभेद की परम्परा ने हिन्दू-समाज में बड़ी गहरा जड़ पकड़ ली थी, और कुछ शैवों द्वारा इस प्रकार उसकी उपेक्षा किये जाने से समाज की एक पुरानी और सुदृढ़ व्यवस्था को आधात पहुँचता था। अतः यह कोई अचरज की बात नहीं कि शैवों में जो पुराने विचारों के थे और जो परम्परागत रीति-रिवाजों का आदर करते थे, उन्होंने इस नये आचार का कड़ा विरोध किया हो। जो शैवों के प्रतिद्वन्द्वी थे, उन्हें इन शैवों को विधर्मी कह कर शैवमत पर आक्षेप करने का एक सुन्दर अवसर मिल गया। शायद यही कारण था कि पहले-पहल शैव आगमों को देश के सम्मानित धार्मिक साहित्य में स्थान नहीं दिया गया। केवल बाद में जब शैव मत दक्षिण भारत का प्रधान धर्म बन गया, और जब उसने अपने ब्राह्मण-धर्म-विरोधी सिद्धान्तों और प्रथाओं का त्याग कर दिया, तभी शैव आगमों को मान्यता प्राप्त हुई।

शैवमत में भक्ति पर जो जोर दिया जाता था, उसका असर अन्य दिशाओं में भी हुआ। जिन कृत्यों को साधारणतया जघन्य समका जाता था, वही कृत्य यदि कोई भक्त अपने धार्मिक उत्साह में करे तो उनको कृम्य ही नहीं, अपितु स्तुत्य भी माना जाने लगा। जैसा कि ‘श्री अर्यर’ ने अपनी पुस्तक में कहा है—“शैव उपासकों की भक्ति और श्रद्धा ऐसी थी कि यदि कोई अपने-आपको एक बार शैव कह देता था तो फिर वह चाहे कितने ही कुत्सित कर्म क्यों न करे, उनको कोई आपत्ति नहीं होती थी।” भक्ति द्वारा मनुष्य की परिशुद्धि में उनका इतना दृढ़ विश्वास था कि वह एक पापी भक्त को एक सदाचारी अभक्त से अच्छा समझते थे। इस प्रकार भक्तिवाद पर आधारित अन्य मतों के समान शैव धर्म ने भी ऐसे

आचार-विहीन व्यक्तियों के लिए एक बड़ा द्वार खोल दिया जो अपने कुसित खार्थ के लिए धर्म की आड़ में कुकुल्य करते थे। इसके उदाहरण स्वरूप 'अध्यर पर्गई' की कथा हमारे सामने है, जो एक पापरडी शैव योगी को अपनी पली तक को अपेण करने को तैयार हो गया था। इस कथा से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय भी अनेक दुष्ट पुरुष शैव तपरियों था। उठाते थे, जो उन्हें सच्चा भक्त समझते थे। उत्तर भारत में भी ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं और वहाँ भी धर्म का इसी प्रकार दुरुपयोग किया जाता था और भारत में ही क्यों, सारे संसार में हसी प्रकार पापरिडियों ने धर्म की आड़ में अनाचार फैलाया है।

'पेरिय-पुराण' में 'मुनियराय' नयनार की कथा से हमें ज्ञात होता है कि दक्षिण भारत में कुछ शैव दिग्म्बर भी रहते थे। पुराणों में हमने देखा था कि अपने कुछ रूपों में भगवान् शिव को दिग्म्बर माना गया है, और उनके इसी रूप के अनुकूल कापालिक लोग भी दिग्म्बर रहते थे। परन्तु दक्षिण भारत में थिथि कुछ-कुछ 'ब्रह्माण्ड पुराण' वाली हो गई और रहते थे। दिग्म्बरत्व को इन्द्रिय संयमन की कसौटी तथा चिह्न माना जाने लगा। अतः जिस व्यक्ति दिग्म्बरत्व का इन्द्रिय संयमन प्राप्त कर लिया था, उसके लिए दिग्म्बर रहना उपयुक्त ही था। ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण में शैव धर्म का जैन धर्म के साथ कड़ा विरोध होने पर भी थैवों पर दिग्म्बर जैनियों के सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ा था। कुछ भी हो 'पेरिय-पुराण' के समय तक, और सम्भवतः इससे बहुत पहले भी दक्षिण में दिग्म्बर शैवों का अस्तित्व था। 'पेरिय पुराण' में जिस प्रकार उनका उल्लेख किया गया है, उससे प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में इन शैवों का आदर नहीं होता था, और उनकी सनकी समझा जाता था। परन्तु बाद में उनको मान्यता प्राप्त हो गई और उनमें से ही एक सदाशिव नाम का ब्राह्मण दक्षिण का एक प्रख्यात संत हुआ है। धीरे-धीरे यह दिग्म्बर शैव फैलते गये और कालान्तर में ये उत्तर भारत तक भी पहुँच गये।

इसी समय में शैवमत के अन्दर विभिन्न उपसम्प्रदायों की भी उत्पत्ति हुई जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, शैवमत के संगठित रूप से व्यवस्थापित हो जाने के उपरान्त ही इस प्रक्रिया का सूत्रपात हो जाना स्वाभाविक और अवश्यमावी था। शैव उपसम्प्रदायों का सब से पहला उल्लेख पतंजलि के महाभाष्य में हुआ है, जहाँ 'शिव भागवतों' का एक बार उल्लेख किया गया है^१। इन शिव भागवतों का एक विशेष लक्षण यह था कि ये अपने देवता के प्रतीक स्वरूप एक माला लेकर चलते थे। अतः ये शिव भागवत शैव मत का सब प्राचीन सम्प्रदाय हैं। परन्तु इस सम्प्रदाय का शीघ्र ही लोप हो गया जान पड़ता है; क्योंकि शिवभागवतों का फिर कहीं उल्लेख नहीं हुआ है।

महाभारत के अपरकालीन शान्तिपर्व में पाशुपत शैवों का उल्लेख किया गया है^२, जिसको तत्कालीन धर्म पंचांग में से एक माना गया है। इस सम्प्रदाय के विषय में कुछ

१. देखो अध्याय ४ पृष्ठ।

२. महाऽ : (वर्मी संस्करण) शान्तिः ३५६. ६४।

अधिक नहीं कहा गया है, इसके सिवा कि इसके सिद्धान्तों को स्वयं भगवान् शिव ने प्रकट किया था। शान्तिपर्व के हा एक अन्य भाग में 'शिवसहस्रनाम' प्रसंग में कहा गया है कि स्वयं भगवान् शिव ने पाशुपत सिद्धान्त को प्रकट किया था, जो कुछ अंशों में वर्णाश्रम-धर्म के अनुकूल और कुछ अंशों में उसके प्रतिकूल था^१। हम ऊपर देख आये हैं कि दक्षिण भारत में कुछ शैवों ने इस वर्णाश्रम-धर्म की व्यवस्था का तोड़ दिया था। सभ्बव है कि पाशुपतों ने ही पहले-पहल ऐसा किया हो। इसीसे यह भी सिद्ध हो जाता है कि पाशुपत शैव साधारण शैवों से भिन्न थे; द्योकि जैसा कि स्वयं महाभारत से स्पष्ट है, इन साधारण शैवों के आचार-विचार ब्राह्मण वर्णाश्रम-धर्म के सर्वथा अनुकूल थे। पाशुपत शैवों का प्रादुर्भाव सभ्बवतः लगभग उसी समय हुआ जब वैष्णवों के पंचरात्र-सम्प्रदाय का, क्योंकि उपर्युक्त संदर्भ में इन दोनों का उल्लेख साथ-साथ किया गया है। महाभारत में इस सम्प्रदाय के संस्थापक के विषय में कुछ नहीं कहा गया; परन्तु बाद में पुराण-ग्रन्थों में यह चर्चा आई है कि एक 'लकुलिन' अथवा 'नकुलिन' ने लोगों को 'माहेश्वर' अथवा 'पाशुपत' योग सिखाया था। इस 'लकुनिक' को भगवान् शिव का अवतार और कृष्ण का समकालीन माना जाता था^२। 'लकुलिन' की ऐतिहासिकता पर संदेह करने का कोई कारण नहीं है, यद्यपि उसके समय के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। 'सर्वदर्शनसंग्रह' नामक ग्रन्थ में उसको पाशुपत-सम्प्रदाय का संस्थापक माना गया है और सन् ६७१ ईस्वा के नागराज मन्दिर के शिलालेख से तथा अन्य कई शिलालेखों से भी इसकी पुष्टि होती है। इसके अतिरिक्त हम ऊपर देख आये हैं कि 'कापाली' रूप में शिव का रक्त और नर-बलि से पूजा का जाती थी। महाभारत में इस 'कापालिक' वृत्ति का उल्लेख हो चुका है; परन्तु महाभारत के उल्लेखों से हम निश्चय पूर्वक यह नहीं कह सकते कि शिव को इस रूप में पूजनेवालों का कोई संगठित सम्प्रदाय बन गया था या नहीं। अतः महाभारत के समय में हमें शैवों में केवल एक उपसम्प्रदाय अर्थात् 'पाशुपतों' का ही निश्चित रूप से पता चलता है।

इसके बाद दूसरा शताब्दी ईस्वा में एक सिक्के के लेख में कुशान नृपति 'वेम कडफाइजिज' ने अपने-आपको 'माहेश्वर' कहा है। यह 'पाशुपत' सम्प्रदाय का ही एक दूसरा नाम है। अतः सिद्ध होता है कि यह सम्प्रदाय उस समय भी विद्यमान था और सभ्बवतः इसको राजसंरक्षण भी प्राप्त था। अन्य शैव सम्प्रदायों का पूर्व पौराणिक काल में कोई उल्लेख नहीं मिलता। अतः हम अब पुराण-ग्रन्थों को लेते हैं, जिनमें प्रथम बार निश्चित रूप से शैव सम्प्रदायों का उल्लेख किया गया है। वायु और लिंग-पुराणों में पाशुपतों के उल्लेख की चर्चा हम ऊपर कर ही चुके हैं। कापालिकों का भा पौराणिक काल तक एक संगठित सम्प्रदाय बन गया था और जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख आये हैं, इनको उस समय विधर्मी माना जाता था। साधारण रूप से शिव के उपासकों को शैव कहा जाता था, और इन्हीं के धार्मिक आचार-विचारों का पुराण ग्रन्थों में मुख्य रूप

१. महा० : (कलकत्ता संस्करण) शान्ति० २८५, १२४।

२. वायु० : २३, २१७-२१, लिंग० भाग २, २४, १२४०३२।

से वर्णन किया गया है। किसी अन्य शैव सम्प्रदाय का पुराणों में कोई निश्चित उल्लेख नहीं मिलता।

पुराणोत्तर काल में हमें अनेक शैव सम्प्रदायों के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। शिव-लिंग को अपने मस्तक पर धारण करने वाले 'भारशिवों' की चर्चा हम ऊपर कर ही चुके हैं। इनका उल्लेख दो शिलालेखों में भी हुआ है। सातवीं शती ईरवी में चीनी यात्री 'ह्यून-सांग' ने भारत की यात्रा की थी और अनेक स्थलों पर उसने नाम लेकर पाशुपत-सम्प्रदाय का उल्लेख किया है^१। इस सम्प्रदाय के अनुयायियों की काफी संख्या मालूम होती है। ह्यून-सांग के कथनानुसार, इनमें से कुछ तो भगवान् शिव की मन्दिरों में उपासना करते थे (यह संभवतः साथारण पाशुपत थे), कुछ मन्दिरों में निवास करते थे अथवा भ्रमण करते रहते थे। ये संभवतः पाशुपत संयासी थे। पाशुपतों का मुख्य लक्षण यह था कि वे अपने शरीर पर भ्रम मले रहते थे, और ह्यून-सांग ने तो इनका नाम ही 'भरमधारी' रख दिया था। अन्य पर भ्रम मले रहते थे, और ह्यून-सांग ने तो इनका नाम ही 'जटाधारी' तथा शैवों की भी चर्चा की है जो वस्त्रहीन अवस्था में शैवों में ह्यून-सांग ने 'जटाधारी' तथा शैवों की भी चर्चा की है जो वस्त्रहीन अवस्था में फिरा करते थे^२। ये दिग्मवर शैव संभवतः वे ही थे, जिनकी दक्षिण भारत के अभिलेखों में चर्चा हम ऊपर देख आये हैं। काशी में 'ह्यून-सांग' ने ऐसे शैवों को देखा जो अपने बाल मुँड़ा देते थे। ये संभवतः वे शैव संन्यासी थे जो 'मुँडी' कहलाते थे^३। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि पुराणों में भी कभी-कभी शिव को 'मुँडी' कहा गया है। परन्तु निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि इन शैव संन्यासियों का कोई संगठित सम्प्रदाय था या नहीं। कापालिकों का भी 'ह्यून-सांग' ने दो स्थलों पर उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि कापिशा में उन्होंने कुछ ऐसे शैवों को देखा 'जो अपने सिरों पर अस्थियों की मालाएँ मुकुट के रूप में पहनते हैं'^४। एक अन्य स्थल पर उन्होंने कुछ और शैवों का उल्लेख किया है जो में पहनते हैं^५। वे विशेष रूप से यह नहीं कहते कि गले में मुँडमालाएँ आभूषण के रूप में पहनते हैं^६। वे लोग शिव के उपासक थे, परन्तु ये दोनों उल्लेख रूप ही कापालिकों की ओर सकेत करते हैं। 'ह्यून-सांग' ने इनको 'भरमधारी' शैवों से अलग माना है। इससे भी प्रकट होता है कि इनका एक अलग सम्प्रदाय था। इनके विषय में 'ह्यून-सांग' ने कुछ और नहीं कहा; परन्तु इसी शताब्दी के एक दान-पत्र में, जो पुलकेशा द्वितीय के भर्तीजे नागवर्धन ने लिखवाया था, इस बात की चर्चा आई है कि इस समय तक इन कापालिकों को कुछ-कुछ मान्यता प्राप्त होने लगी थी, और उनके अपने मन्दिर होते थे। इस दान-पत्र में एक ऐसे ही मन्दिर का खर्चा चलाने के लिए एक गाँव के दान की व्यवस्था की गई है। इस मन्दिर में कपालेश्वर के नाम से भगवान् शिव की मूर्ति की स्थापना की गई थी, और यहाँ कुछ संन्यासी भक्त भी रहते थे जिन्हें 'महावती' कहा गया है, और जो 'कापालिकों' का ही एक

१. ह्यून-सांग : भाग २, पृष्ठ २७३, २७७, २७९, २८०-२८७ इत्यादि।

२. , : भाग २, पृष्ठ ४५।

३. , : , २ , ४५।

४. , : , १ , ५५।

५. , : , १ , ७६।

सौम्यनामान्तर था। इनकी जीविका की व्यवस्था भी उसी दानपत्र में की गई है। कपालेश्वर के एक और मन्दिर की चर्चा महासामन्त महाराज सुन्दरसेन के निर्माण तात्रपत्र में भी की गई है, जिसका समय भी सातवीं शताब्दी ईस्टी ही है^१।

सातवीं शताब्दी ईस्टी में शैव सम्प्रदायों की स्थिति पर बाणभट्ट के 'कादम्बरी' नामक गद्यकाव्य भी कुछ प्रकाश डालता है। इस काव्य में पाशुपत-शैवों का उल्लेख किया गया है जो अमात्य शुकनास से मिलने आये थे और रक्त वर्ण के वस्त्र धारण किये हुए थे। यह रक्ताम्बरधारी शैव संभवतः पाशुपतों का ही एक उप-सम्प्रदाय थे और यह जरा अचरज की बात है कि ह्यून-सांग ने उनका कोई उल्लेख नहीं किया। कादम्बरी से ही हमें यह भी ज्ञात होता है कि साधारण शैव किसी विशेष सम्प्रदाय के अनुयायी नहीं होते थे, और उनके आचार-विचार सर्वथा पौराणिक सिद्धान्तों और आदेशों के अनुकूल होते थे। उज्जियनी की सप्ताङ्गी विलासवती एक इसी प्रकार की शैवमत्त थी, और स्वयं कविवर बाणभट्ट भी ऐसे ही शैव थे।

आठवीं शताब्दी ईस्टी में कवि भवभूति ने अपने 'मालती माधव' नाम के रूपक में तत्कालीन कापालिक सम्प्रदाय का बड़ा अच्छा चित्रण किया है^२। जिन मन्दिरों में ये लोग उपासना करते थे वे शमशान-भूमि में होते थे। इनमें नर-बलि देने की प्रथा अभी तक प्रचलित थी, और इसी कारण इनको गर्हित समझा जाता था, और जनसाधारण इनसे दूर ही रहते थे। परन्तु स्वयं वे लोकोत्तर शक्तिवाँ रखने का दावा करते थे, जिन्हें उन्होंने अपने प्रयोगों से प्राप्त किये थे। तत्कालीन कापालिक सम्प्रदाय का एक नया लक्षण यह था कि अब उसमें स्त्रियाँ भी सम्मिलित हो सकती थीं और पुरुषों के समान ही वे भी अपने सम्प्रदाय की विशेष वेशभूषा धारण करती थीं। कापालिकों ने वर्ण-मेद को मिटा दिया था। यह एक बड़ी रीचक और शिक्षा-प्रद बात है कि भारत में सनातन ब्राह्मण-धर्म के क्षेत्र के बाहर जिस किसी मत का भी प्रादुर्भाव हुआ, उसी ने अनिवार्य रूप से वर्णमेद को और वहुधा पुरुष-स्त्री के मेद को मिटाने की चेता की है और इस प्रयास में वह हमेशा असफल रहा है।

जैसे-जैसे समय वीतता गया नये-नये शैव सम्प्रदायों का जन्म होता गया। नवीं शताब्दी में जब आनन्दगिरि ने अपने 'शंकरविजय' नामक ग्रन्थ की रचना की तबतक शैवों के अनेक सम्प्रदाय हो गये थे। इनमें से कुछ काफी पुराने प्रतीत होते हैं वयोंक उस समय तक वे सब सुव्यवस्थित थे, यद्यपि अन्य उपलब्ध अभिलेखों में उनकी चर्चा नहीं हुई है। शंकरविजय के चौथे अध्याय में पाशुपत, शैव, रौद्र, उग्र, कापालिक, भाट या भट्ट और जंगम, इन शैव सम्प्रदायों का उल्लेख किया गया है। इन सब के प्रतिनिधि शंकर से शास्त्रार्थ करने आये थे। इन सब के बाद चिह्न-विशेषों का भी वर्णन किया गया है। इन चिह्नों से हमें ज्ञात होता है कि 'जंगम' तो प्राचीन 'भारशिव' ही थे, क्योंकि वे भी शिवलिंग को अपने सिर पर धारण करते थे। पाशुपत अपने मस्तक, वक्ष, नाभि और भुजाओं पर शिव लिंग का चिह्न अंकित करते थे। अन्य संप्रदायों के भी अलग चिह्न थे। उनके अपने-

१. C. I. I. : भाग ३, प्लेट ५७, पृष्ठ २८६।

२. मालती माधव : अंक ५।

अपने सिद्धान्त क्या थे यह नहीं बताया गया है, परन्तु इन सब ने मिलकर शंकर से शास्त्रार्थ किया। उनको सारभाव से शंकर के सिद्धान्तों से सहमत बताया गया है। परन्तु जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे, वास्तव में ऐसा नहीं हो सकता था, क्योंकि शंकर का विशुद्ध अद्वैतवाद शैव सिद्धान्तों के प्रतिकूल था और इन शैव सम्प्रदायों ने इन्हीं शैव सिद्धान्तों की विभिन्न रूपों में अपनाया था। विद्यारण्य कृत शंकर की एक अन्य जीवनी में, जो कुछ अपरकालीन है, नीलकंठ नामक एक शैव की चर्चा की गई है जिसने शिवसूतों पर एक टीका लिखी थी, और जिसने शंकर के विशुद्ध अद्वैत के केन्द्रीय सिद्धान्त 'तत्त्वमसि' पर आक्षेप किया था। आनन्दगिरि के ग्रन्थ के अनुसार तो शंकर ने केवल विविध शैव सम्प्रदायों के बाह्य चिह्नों पर आपत्ति की थी और उनको सर्वथा व्यर्थ सिद्ध किया था। आत्मज्ञान के बिना केवल उपासना करने का भी शंकर ने विरोध किया था, क्योंकि ऐसी उपासना से व्यक्ति को स्वर्ग-प्राप्ति हो सकती है, परन्तु मोक्ष नहीं मिल सकता। कापालिकों के सम्बन्ध में आनन्दगिरि ने कुछ अधिक विस्तार से कहा है। शंकर से उनकी भेंट उज्जयिनी में हुई थी जहाँ उनका बड़ा प्रावल्य था। उनके वर्णन से हमें पता चलता है कि वे जटाएँ रखते थे जिन पर नवचन्द्र की प्रतिमा रहती थी, उनके हाथ में कपाल का कमंडल रहता था, वे मांस और मदिरा का सेवन करते थे, और शिव के 'भैरव' अथवा 'कापालिक' रूप की उपासना करते थे। अपने अनाचार के लिए वह बदनाम थे, और जनसाधारण उनको एक बला समझते थे। उन्हीं में एक पाखरडी कापालिक का भी उल्लेख किया गया है जो केवल इस लिए कापालिक सम्प्रदाय में सम्मिलित हुआ था कि इस प्रकार वह निंदर होकर लंपटता और अनाचार का जीवन व्यतीत कर सके। स्वभावतः शंकर ने उनकी धोर भर्त्तना की, और अपने अनाचारों को एक धार्मिक मत का रूप देने का प्रयत्न करने के अपराध में उनको दण्ड दिया। विद्यारण्य के ग्रन्थ के अनुसार शंकर इन कापालिकों से कर्णाट देश में मिले थे। जहाँ उनका नेता कचक शंकर से शास्त्रार्थ करने आया था। उनके बाह्य चिह्नों का वर्णन वैसा ही है जैसा आनन्दगिरि के ग्रन्थ में और वे शिव के उस रूप की उपासना करते थे जिसमें उनको पावंती का आलिंगन करते हुए कल्पित किया जाता था। मांस और मदिरा का प्रयोग वे अपनी उपासना में करते थे। उनका स्वभाव बड़ा उद्धत था। वे शस्त्रों से सुसज्जित रहते थे जिनका प्रयोग वे सदा ही करने को तैयार रहते थे। कर्णाट देश में वे विशेष रूप से बलशाली बताये गये हैं, क्योंकि वहाँ उन्होंने राजा के विशुद्ध एक विद्रोह किया था जिसका बड़ी कठिनाई से दमन किया जा सका था। विद्यारण्य ने एक और शैव सम्प्रदाय की भी चर्चा की है। ये थे 'भैरव' जिनकी शंकर से विदर्भ में भेंट हुई थी। उनके सिद्धान्तों अथवा आचार के विषय में कुछ नहीं कहा गया सिवा इसके कि वह एक 'भैरवतंत्र' को अपना प्रामाणिक धार्मिक ग्रन्थ मानते थे। इससे प्रतीत होता है कि शायद इस सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव तांत्रिक प्रभाव के अन्तर्गत हुआ था। अन्य सम्प्रदायों की बाबत उनके नामों को छोड़ कर न तो आनन्दगिरि न विद्यारण्य के ग्रन्थ से ही हमें कुछ पता चलता है।

शैव सम्प्रदायों के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान का अगला स्रोत कृष्णमिश का 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक है। इसका समय ग्यारहवीं शताब्दी ईस्वी के लगभग है। इसमें नाटककार

ने विभिन्न धार्मिक मतों और सम्प्रदायों के पाषण्डी अनुयायियों पर, जो अपने कुकृत्यों से अपने धर्मों को बदनाम करते थे, बड़े ही रोचक ढंग से व्यंग्य किया है। शैव सम्प्रदायों में उसने शैवों और पाशुपतों का उल्लेख किया है, और इन दोनों की भी अन्य मतावलम्बियों के समान चार्वांक ने हँसी उड़ाई है। इसके अतिरिक्त नाटक के पात्रों में एक कापालिक भी है और उसका चित्रण बड़े विस्तार से किया गया है। वह गले में मुंडों की माला पहनता है, श्मशान-भूमि में निवास करता है, और कपाल-कमण्डल में भोजन करता है और दावा करता है कि इसी 'योग' द्वारा उसने सच्चा ज्ञान प्राप्त किया है। उसकी उपासना-विधि का एक प्रमुख अंग नर-बलि है जिसका स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है। शिव को ये लोग 'मैरव' रूप में पूजते थे और अपनी नर-बलि के विभिन्न अंग मैरव को चढ़ाते थे। सद्यः छिन्न मस्तक से जो रुधिर निकलता था उसे वे पूजा के काम में लाते थे। देवता को मंदिर भी चढ़ाई जाती थी, और उपासक स्वयं भी उसी कपाल कमण्डल में से सुरापान करते थे। इस कापालिक के साथ उसकी एक 'कपालिनी' सहचरी है। इससे भवभूति के 'मालती माधव' के प्रमाण की पुष्टि होती है कि अब इस सम्प्रदाय में स्त्रियाँ भी सम्मिलित हो सकती थीं।

ग्यारहवीं शती के बाद इन सम्प्रदायों के इतिहास की सामग्री हमें विविध स्रोतों से मिलती है। पाशुपतों का उल्लेख तो साहित्य और शिलालेखों में प्रायशः बराबर ही होता रहता है और इसी से सिद्ध होता है कि पाशुपत लोग शैवों का एक प्रमुख सम्प्रदाय बने रहे। तेरहवीं शती की चित्र-प्रशंसित में लकुलिन् का इस सम्प्रदाय के संस्थापक के रूप में फिर उल्लेख किया गया है और कहा गया है कि उसके चार पुत्रों ने चार नये सम्प्रदायों की स्थापना की थी। ये सम्भवतः पाशुपतों के ही उपसम्प्रदाय थे। 'सर्वदर्शनसंग्रह' नामक ग्रन्थ में पाशुपतों को शैवमत के दो प्रमुख सम्प्रदायों में से एक माना गया है और उनके दार्शनिक सिद्धान्तों का विवरण दिया गया है। दूसरा प्रमुख शैव सम्प्रदाय 'शैव' ही कहलाता था, और इसके जो प्रासंगिक उल्लेख अब तक हुए हैं वह हम ऊपर देख आये हैं। इनके सिद्धान्तों का भी संक्षिप्त रूप से सर्वदर्शन संग्रह में उल्लेख किया गया है। कापालिकों का प्रासंगिक उल्लेख भी समय-समय पर साहित्यिक और अन्य अभिलेखों में होता रहता है। उनमें एक कट्टर-पंथी उपसम्प्रदाय का भी प्रादुर्भाव हो गया प्रतीत होता है, जिसके अनुयायी 'कालमुख' कहलाते थे, पर इनका प्रारम्भिक नाम शायद 'कालसिद्धान्ती' था। वैष्णव संत और विद्वान् रामानुज के समय में इनका अस्तित्व था। रामानुज बारहवीं शती में हुए थे और उन्होंने इस सम्प्रदाय के आचारों का वर्णन किया है। ये लोग अपने जघन्य कृत्यों को सिद्धियाँ कहते थे जो छः थीं—(१) कपाल में भोजन करना, (२) शरीर में भर्ख लगाना, (३) श्मशान से राख लेकर खाना, (४) लठ लेकर चलना, (५) सुरापात्र रखना और (६) सुरापात्र में स्थित मैरव की पूजा करना। वे जटाएँ रखते थे, कपाल लेकर चलते थे और रुद्राक्ष की माला पहनते थे। साधारण रूप से कालमुखों और कापालिकों में कोई विशेष भेद नहीं किया जाता था। 'सर्वदर्शनसंग्रह' में इन दोनों का कोई उल्लेख नहीं किया गया है।

अपरकाल में उपर्युक्त शैव सम्प्रदायों में कुछ तो लुप्त हो गये और कुछ के नाम बदल

गये। कुछ नये सम्प्रदाय पैदा हुए और यह प्रक्रिया वर्तमान युग तक चलती रही है।

इन शैव सम्प्रदायों में से जो प्रमुख थे वे दक्षिण भारत में भी फैल गये। दसरीं से तेरहवीं शती तक के मैसूर के अनेक शिलालेखों में लकुलिन् और उसके पाशुपतों का उल्लेख हुआ है। इससे सिद्ध होता है कि इस समर्त काल में पाशुपतों का दक्षिण भारत में भी अस्तित्व था। ६४३ ई० के एक शिलालेख में एक मुनिनाथ चिल्लूक को लकुलिन् का अवतार माना गया है^१। १०७८ ई० के एक अन्य शिलालेख में एक अन्य तपत्वी को लकुलिन् कहा गया है^२। बारहवीं शता के एक शिलालेख में कहा गया है कि किसी लकुलिन् कहा गया है^३। बारहवीं शता के एक शिलालेख में कहा गया है कि किसी सोमेश्वर सूरी ने लुकुलिन् के सिद्धान्तों का फिर से प्रचार किया था^४। १२८५ ई० के एक शिलालेख में दानकर्ता को लकुलिन् के नये सम्प्रदाय का समर्थक कहा गया है^५। कुछ विद्वानों ने इस नये सम्प्रदाय को लिंगायत सम्प्रदाय माना है, परन्तु यह बात निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती। फिर भी ध्यान रखने की बात यह है कि इन शिलालेखों में 'लाकुलिन्' शब्द का साधारण रूप से समर्त शैवों के लिए प्रायः प्रयोग किया जाता है और एक शिलालेख में तो 'काल-मुखों' तक की 'लाकुली' कह दिया गया है। अतः यह सम्भव है कि इन शिलालेखों में 'लाकुली' अथवा 'लाकुल' शब्द से सर्वत्र पाशुपत सम्प्रदाय ही अभिप्रेत नहीं है, अपितु इस शब्द का अन्य शैव सम्प्रदायों के लिए भी प्रयोग किया गया है। ६५८ ईस्वी के राष्ट्रकूट सम्राट् काशा तृतीय के दानपत्र में शैव सम्प्रदाय का उल्लेख अधिक निश्चित रूप से किया गया है। इसमें एक प्रसिद्ध विद्वान् गंगशिव की चर्चा की गई है जो शैव सम्प्रदाय का अनुयायी था और वल्कलेश्वर में एक शैवमठ का अधीश था। इससे सिद्ध होता है कि इस समय दक्षिण भारत में भी शैव सम्प्रदाय का अस्तित्व था। ११७ ईस्वी के मैसूर के इस शिलालेख से जिसमें कालमुखों की गणना लाकुलों में की गई है, प्रासंगिक रूप से यही सिद्ध होता है कि उस समय यह 'कालमुख' भी दक्षिण में पाये जाते थे। इसी प्रकार ११८ ईस्वी के अन्य शिलालेख में एक नागशिव पंडित का उल्लेख किया गया है जो शैव आगम और शैव तत्त्व में पारंगत था^६। यह शैव तत्त्व शैव सम्प्रदाय का प्रामाणिक शास्त्र माना जाता था। इस शिलालेख से भी यही सिद्ध होता है कि बारहवीं शती के अन्त में शैव सम्प्रदाय का भी दक्षिण भारत में खूब प्रचार था।

इन सम्प्रदायों के अतिरिक्त दक्षिण में एक नये सम्प्रदाय का भी प्रादुर्भाव हुआ, जिसका आगे चलकर बड़ा महत्व हुआ। यह था 'लिंगायत' अथवा 'बीर शैव' सम्प्रदाय। इस सम्प्रदाय का जन्म कब और कैसे हुआ और इसका संस्थापक कौन था, यह अभी तक विवादात्पद विषय है। परन्तु एक बात तो निश्चित है कि प्रथ्यात् 'बास' इस सम्प्रदाय के जन्मदाता नहीं थे, यद्यपि उन्होंने इसको बहुत प्रश्रय दिया और इसको शक्तिशाली बनाने में

- | | | | |
|----|-----------------------|---|---------------------------------|
| १. | एपिग्राफिका कर्णाटिका | : | भाग १२, पृष्ठ ६२। |
| २. | " | : | भाग ७, सोकरपुर तालुक नम्बर १०७। |
| ३. | " | : | भाग ७, खण्ड २, पृष्ठ ६४। |
| ४. | " | : | भाग ५, पृष्ठ १३५। |
| ५. | " | : | भाग ५, असिकर तालुक न० न५। |

बहुत सहायता दी। इसी प्रकार एकानन्द रामय्य, जिन्हें डाक्टर फ्लीट ने इस सम्प्रदाय का संस्थापक माना है, वास्तव में इन सम्प्रदाय के एक बहुत बड़े आचार्य और प्रचारक थे, जिन्होंने जैनियों की स्थिति को दुर्बल करने में बड़ा काम किया था। फिर भी लिंगायत-सम्प्रदाय बहुत पुरातन नहीं हो सकता क्योंकि प्राचीन साहित्य में इसका कहीं उल्लेख नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि डा० भण्डारकर ने कहा है, लिंगायतों के सैद्धान्तिक ग्रंथों में 'स्थल', 'अंग' तथा 'लिंग' जैसे परिभाषिक शब्दों का प्रयोग किये जाने से भी यही सिद्ध होता है कि यह सम्प्रदाय अपेक्षाकृत बाद का है।

लिंगायतों को हम शैवों का एक सुधारवादी दल कह सकते हैं, जिसने तत्कालीन शैव मत के अनावश्यक आडम्बरों और सम्भवतः उसकी कतिपय कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठाई और एक अधिक परिशुद्ध, सरल और सारतः बुद्धिसंगत मत का विकास करने का प्रयास किया। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में इनके सिद्धान्त प्रधानतः शैव सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के समान ही थे। अतः सम्भव है कि इस सम्प्रदाय का संस्थापक अथवा इसके संस्थापकण आदि में शैव संप्रदाय के अनुयायी ही रहे हों। परन्तु इनके एक अलग सम्प्रदाय बना लेने के उपरान्त इस नये सम्प्रदाय के विशिष्ट सिद्धान्तों को रूप देने का और लिंगायतों का एक संगठित सम्प्रदाय बनाने का काम अनेक विद्वानों ने बड़ी तत्परता से किया। ये विद्वान् 'आराध्य' कहलाते थे और इनका बड़ा आदर होता था। शैव सम्प्रदाय से अलग होकर लिंगायतों का यह पृथक् सम्प्रदाय कब बना, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु इनका पृथक् अस्तित्व होते ही, ये लिंगायत पुरातन शैवमत से दूर हटते चले गये और उपलब्ध अभिलेखों में जब उनका प्रथम बार उल्लेख होता है तो हम उनको एक संघर्षात्मक सम्प्रदाय के रूप में पाते हैं जो केवल पुरातन शैव धर्म का ही विरोध नहीं करते थे, अपितु ब्राह्मण-धर्म की कुछ अति प्राचीन मान्यताओं का भी विरोध करते थे, जिनको ब्राह्मण-धर्म के सब अनुयायी समान रूप से स्वीकार करते थे। उदाहरणार्थ वे लड़कियों का उपनयन-संस्कार भी लड़कों के समान ही करते थे और यज्ञोपवीत के स्थान पर उन्होंने उपनयन का चिह्न 'शिवलिंग' को बनाया था जिसे वे अपने शरीर पर धारण करते थे और जिसके कारण उनका 'लिंगायत' नाम पड़ा। उनका मूलमन्त्र गायत्री नहीं, अपितु 'ओ नमः शिवाय' था। परन्तु इस सब से भी बड़ कर था उनका वर्णभेद के बन्धनों को अस्वीकार कर देना। हम ऊपर देख आये हैं कि पहले भी कुछ शैव लोग इस वर्णभेद को नहीं मानते थे। परन्तु लिंगायतों ने तो इस अस्वीकृति को अपने मत में सिद्धान्त रूप से ले लिया। इन सब वारों से इस मत का स्वरूप कुछ ब्राह्मण-धर्म विरोधी हो गया, और उसको ऐसा ही माना भी जाता था। परन्तु जान पड़ता है कि लिंगायतों में भी ये नई बाँतें सबको मान्य नहीं थीं और इनका विरोध करने वालों में स्वयं वे ही 'आराध्य' थे जिन्होंने इस सम्प्रदाय को अपने पैरों पर खड़ा किया था, और जिन्होंने अब इस ब्राह्मण-धर्म विरोधी आचार को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। परन्तु विजय उनकी हुई जो इस ब्राह्मण विरोधी आचार का समर्थन करते थे, और स्थिति यह हो गई कि जो इस नये आचार को

स्वीकार नहीं करते थे वे लिंगायतों का केवल एक उपसम्प्रदाय बनकर रह गये और लिंगायत उनको विधर्मी मानने लगे।

उनको विधमा मानन लग। लिंगायत-सम्प्रदाय के अन्य लक्षणों में मदिरा और मांस का निषेध तथा आत्मसंयम के कड़े नियम उल्लेखनीय हैं। वह विधवा-विवाह के भी पक्षपाती थे। बाह्य उपासना पर वे अधिक जोर नहीं देते थे और धार्मिक कार्यों में अत्यधिक आडम्बर और धूमधाम की भी निन्दा करते थे, क्योंकि इससे आत्मज्ञान की प्राप्ति में बाधा पड़ती है। जिस समय हमारा यह निरीक्षण समाप्त होता है, लिंगायतों की यही स्थिति थी। तदनन्तर दक्षिण में वे यद्यपि बड़े शक्तिशाली हो गये थे, फिर भी धीरे-धीरे ब्राह्मण-धर्म का प्रभाव उन पर पड़ता ही गया और उन्होंने अपने ब्राह्मण-धर्म विरोधी आचार, विशेषतः वर्णभेद को न मानना छोड़ दिया और कालान्तर में वे स्वयं वर्णों में विभक्त हो गये। आजकल लिंगायतों के अनेक ऐसे वर्ण हैं। इस प्रकार ब्राह्मण-धर्म के निकट आने के फलस्वरूप हम अब देखते हैं कि लिंगायत विद्वान् अपने सिद्धान्तों के लिए प्रमाण पौराणिक शास्त्रों और वैदिक श्रुतियों से लेते हैं और लिंगोपासना का उद्दगम भी वैदिक संहिताओं में ही हूँ ढने का प्रयास करते हैं। इसका एक बड़ा रोचक उदाहरण हमें श्री सारवारे की 'लिंगधारण-चन्द्रिका' नामक पुस्तक में मिलता है, जिसमें लेखक ने केवल यही सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वैदिक श्रुतियाँ स्वयं शिवलिंग की उपासना करने का आदेश देती हैं, और लिंगोपासना सर्वथा ब्राह्मण-धर्म के सिद्धान्तों के अनुकूल है।

इस अध्याय को समाप्त करने से पहले हम देवी और गणेश की उपासना के विकास पर भी एक दृष्टि डाल लें। पुराणोत्तर काल में इन दोनों के अपने-अपने स्वतन्त्र मत बन गये। अतः एक प्रकार से ये शैव धर्म के हमारे इस दिग्दर्शन के लेत्र से बाहर हैं। परन्तु शैव धर्म के साथ इनके धनिष्ठ सम्बन्ध को देखते हुए इस काल में इनके इतिहास का एक संक्षिप्त विवरण दे देना असंगत नहीं होगा। देवी की उपासना के सम्बन्ध में तो हम पिछले अध्याय में देख ही चुके हैं कि वह पुराण-काल में शाक्तमत के रूप में विकसित हो रही थी, और तन्त्रग्रन्थ उसकी श्रुतियाँ बन गये थे। शिव की सहचरी होने के नाते यद्यपि शैव लोग भी देवी की उपासना करते थे फिर भी शाक्तों का अपना एक स्वतन्त्र मत बन गया था। शिव के समान ही देवी के अनेक रूपों का भी प्रस्तर और धातु में यथार्थ चित्रण किया जाता था, और पुराणोत्तर काल में समस्त भारत में इस प्रकार की अनेक मूर्तियाँ पाई जाती हैं। देवी की उपासना-विधि में पुराण-काल से कोई विशेष अन्तर नहीं आया था। कई तन्त्र-ग्रन्थ पुराणोत्तर काल के हैं, परन्तु उनमें और प्राचीन तन्त्रों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। परन्तु एक प्रकार से पुराणोत्तर-कालीन शाक्तमत में कुछ विकास हुआ। हमने पिछले अध्याय में देखा कि शाक्तमत में सुधार करने और उसे ब्राह्मण धर्म के सिद्धान्तों और आचारों के अधिक अनुकूल बनाने के प्रयत्न पौराणिक काल में ही प्रारम्भ हो गये थे। पुराणोत्तर काल में हम देखते हैं कि यह प्रयत्न काफी हद तक सफल हुए, और अब अधिकतर शाक्त लोग 'दक्षिण मार्गी' हो गये थे। धीरे-धीरे इनमें उपसम्प्रदायों का भी प्रादुर्भाव हो गया, जिनमें

प्रत्येक देवी के किसी विशेष रूप की उपासना करता था। जो लोग देवी को विष्णु की शक्ति मानते थे, वे उसको महालद्दमी अथवा महावैष्णवी कहते थे, और इसी से वे महालद्दमी के उपासक माने जाते थे। अन्य शाक्त देवी को 'वाक्' रूप में देखते थे, और यह 'वागीपासक' कहलाते थे। जो देवी को शिव की शक्ति मानते थे, वे साधारण रूप से 'शाक्त' कहलाते थे। 'शंकरविजय' में आनन्दगिरि ने इन तीनों का उल्लेख किया है। इन सबके सिद्धान्त वे ही थे जो हम तन्त्रों में देख आये हैं।

परन्तु देवी के कुछ उपासकों ने प्राचीन परिपाटी को नहीं छोड़ा और उनकी उपासना में वे सब पुराने दूषित लक्षण बने ही रहे। ये लोग 'वाममार्गी' कहलाते थे। इनका उल्लेख भा आनन्दगिरि ने किया है और इनके सिद्धान्तों से हमें पता चलता है कि जब एक दूषित मनोवृत्ति के कारण किसी कुत्सित प्रथा को उच्च दार्शनिक सिद्धान्तों द्वारा प्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है तो उसका क्या परिणाम होता है। एक सच्चे भक्त का आध्यात्मिक रत्तर साधारण मनुष्यों से ऊँचा होता है। इस विश्वास को लेकर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि जो इनके मतानुयायी थे उन्हें किसी नियम-संयम की अपेक्षा ही नहीं रह गई थी; क्योंकि इनको तो सच्चा ज्ञान प्राप्त हो चुका था और ऐसे ज्ञानियों पर वह प्रतिबन्ध लगाने की आवश्यकता नहीं रहती जो साधारण मनुष्यों के आचार-नियमन के लिए लगाये जाते हैं। अतः ये लोग चाहे जो कुछ भी करें, इन्हें पाप नहीं लगता। भक्तजनों में वर्ण और नारी-पुरुष का भेद किये विना पूर्ण समानता के सिद्धान्त को उन्होंने स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों में पूर्ण उच्छ्वासलता का रूप दे दिया और उनकी उपासना में घोर-से-घोर अनाचार होने लगा।

विद्यारण्य के ग्रन्थ में भी दक्षिणमार्गी और वाममार्गी दोनों प्रकार के शाक्तों का उल्लेख किया गया है। दक्षिणमार्गी शाक्तों को यहाँ तांत्रिक कहा गया है जो तन्त्र-ग्रन्थों के आदेशों के अनुसार ही देवी की उपासना करते थे और साधारणतया उनका एक भद्र सम्प्रदाय था। वाममार्गियों को इस ग्रन्थ में 'शाक्त' कहा गया है और शंकर से उनकी मेंट सुदूर दक्षिण में हुई थी। ग्रन्थकर्ता ने इनकी घोर निन्दा की है। वे पापण्डी थे जो पार्वती की उपासना करने का वहाना करते थे; परन्तु वे केवल सुरापान के व्रती थे और द्विजों द्वारा वहिष्कृत थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि वाममार्गी शाक्तों को सदा ही विषमों और निन्दनीय समझा जाता था। इसी निन्दा के कारण इस मार्ग के अनुयायियों की संख्या सदा कम ही रही। यद्यपि इनका अस्तित्व वर्तमान काल तक रहा, तथापि इनकी स्थिति एक निकृष्ट गुप्त-दल की-सी होकर रह गई। इसके विपरीत दक्षिणमार्गी शाक्तों की अभिवृद्धि ही होती रही और आजकल इनकी संख्या काफी बढ़ी है—विशेष कर बंगाल में, जो शाक्तधर्म का प्रमुख केन्द्र बन गया है।

गणेश की उपासना का सामान्य रूप हम 'गणेश-पुगाण' में देख चुके हैं जो काल-क्रम से पुराणोत्तर युग में पड़ता है। गणेश के उपासकों का भी एक अलग सम्प्रदाय बन

गया और ये लोग 'गाणपत्य' कहलाने लगे। ये गणेश को ही परमात्मा और परमेश्वर मानते थे। इन 'गाणपत्यों' का स्पष्ट उल्लेख प्रथम बार आनन्दगिरि ने किया है। परन्तु इस समय तक इनके भी चार उपसम्प्रदाय बन चुके थे^१। इससे सिद्ध होता है कि यह सम्प्रदाय काफी पहले स्थापित हो चुका होगा। इसके उपसम्प्रदायों में एक को छोड़ कर शेष तीन के नाम गणेश के उस रूप के नाम पर आधारित है, जिसमें उनके अनुयायी गणेश को पूजते थे। ये लोग भी गणेश की कल्पना उसी रूप में करते थे जैसी कि 'गणेश-पुराण' में है। अन्तर केवल इतना था कि अब गणेश की भी एक सहचरी थी जिसे उनकी शक्ति माना जाता था। यह सम्भवतः शैव अथवा शाक्त मत के प्रभाव से हुआ था। इन समानलक्षणों के अलावा 'हरिद्र गाणपत्य' गणेश को पीताम्बर तथा यज्ञोपवीतधारी, चतुर्भुज और त्रिनेत्र रूप में पूजते थे। देवी की तरह गणेश का भी भगवान् शिव के साहचर्य के कारण ही त्रिनेत्र माना जाने लगा था। इसके अतिरिक्त उनके सुख पर हरिद्रा मली जाती थी और उनके हाथों में पाश और त्रिशूल रहता था। गाणपत्यों का प्रमुख उपसम्प्रदाय 'महागाणपत्य' कहलाता था और इस उपसम्प्रदाय की उपासना गणेश की पौराणिक उपासना के सबसे निकट थी। इन्होंने ही गाणपत्यों के सामान्य सिद्धान्तों का विकास किया था; क्योंकि आनन्दगिरि ने इन सिद्धान्तों का विवर उल्लेख इन्हीं की चर्चा करते हुए किया है। गाणपत्यों का तीसरा उपसम्प्रदाय था—'नवनीत सुवर्ण समतन गाणपत्य'। ये गणेश को हेमवर्ण मानते थे। परन्तु शेष बातों में उपर्युक्त दो उपसम्प्रदायों से कुछ विशेष भिन्न नहीं थे और शंकर से शास्त्रार्थ करते समय इनका सुखपात्र शेष दोनों के तर्कों का समर्थन करता है। परन्तु चौथा उपसम्प्रदाय इन तीनों से सर्वथा भिन्न था। वास्तव में यह गाणपत्यों की एक अलग शाखा थी जिसका प्रादुर्भाव वाममार्गी शाक्त सम्प्रदाय के प्रभाव के अन्तर्गत हुआ और जो लगभग उन्हीं का एक अंग बन गई थी। इस उपसम्प्रदाय के अनुयायी गणेश की 'हेरम्ब' नाम से उपासना करते थे। इस रूप में गणेश को चतुर्भुज, त्रिनेत्र, हाथों में पाश आदि धारण किये, अपने शुण्ड से सुरापान करते हुए, एक विशाल आसन पर सुख से विराजमान और कामिनीरूपा अपनी शक्ति को बाईं ओर अंक में बिठाये कामवश उसका आलिंगन करते हुए दिखाया गया है। गाणपत्यों के इस उपसम्प्रदाय की उपासना-विधि और आचार अत्यन्त अश्लील और धृषित थे और इसमें ये लोग वामाचारी शाक्तों से भी आगे बढ़ गये थे। पूर्ण रूप से उच्छ्वस्त्र आचरण इन लोगों में कम्य ही नहीं, अपितु विहित था और इनके लिए अपरिमित भोग और इन्द्रियों की पूर्ण संतुष्टि ही मोक्ष का प्रधान मार्ग था। वामाचारी शाक्तों के समान ही इन्होंने भी वर्ण और यौन-भेद को विलकुल मिटा दिया और प्रत्येक नर को हेरम्ब तथा प्रत्येक नारी को हेरम्ब की शक्ति मान कर उन्होंने केवल पूजा के समय ही नहीं, अपितु हर समय स्त्री-पुरुषों के पूर्ण रूप से उच्छ्वस्त्र यौन-सम्बन्धों का विधान किया और विवाह की पद्धति को उठा दिया। कापालिकों के समान ही इन लोगों की भी शंकर ने घोर भर्त्सना की थी।

उपर्युक्त कथन से सिद्ध होता है कि दसवीं शती तक गाणपत्य सम्प्रदाय की स्थापना हो चुकी थी और उसके उपसम्प्रदाय भी बन गये थे। इसके बाद इस सम्प्रदाय का इतिहास हमें खण्ड-खण्ड करके मिलता है। उत्तर भारत में इस सम्प्रदाय का अधिक प्रचार नहीं हुआ, यद्यपि सिद्धिदायक भगवान् गणेश की उपासना अति साधारण हो गई। सभी ब्राह्मण-मतों के अनुयायी गणेश को इस रूप में पूजते थे, यहाँ तक कि महायान बौद्धों ने भी इस रूप में गणेश-पूजा का अपने धर्म में समावेश कर लिया। गाणपत्यों का चौथा उपसम्प्रदाय, जिसका नाम अब 'उच्छिष्टगाणपत्य' पड़ गया था, किसी समय नेपाल में फैला और वहाँ इसे कुछ बल प्राप्त हुआ, अन्यत्र कहीं नहीं।

इसके विपरीत दक्षिण में गाणपत्यों ने अपने पैर अच्छी तरह जमा लिये थे। यद्यपि इनसे सम्बद्ध अभिलेख हमें निरन्तर उपलब्ध नहीं होते, तथापि अपरकालीन अभिलेखों की सहायता से हमें पुराणोत्तर काल में इनकी स्थिति का अच्छा ज्ञान प्राप्त हो जाता है। उदाहरण के लिए द्रावनकोर में गणेश को देश की समृद्धि के लिए पूजा जाता था। इससे पता चलता है कि यहाँ गणेश को अब केवल मानव-कार्यों में सफलता प्रदान करने वाला देवता ही नहीं, अपितु साधारण रूप से समृद्धि का देवता माना जाने लगा था। इसके अतिरिक्त अभी हाल तक गणेश के सम्मान में 'होम' किये जाते थे और इस दिन एक सार्वजनिक उत्सव मनाया जाता था।

पुराणोत्तर काल में गणेश की उपासना के इस विवरण की पुष्टि उस काल की उपलब्ध मूर्तियों आदि से भी होती है। गणेश की इन मूर्तियों को लेकर श्रीमती एलिस गेट्री ने एक बड़ी सुन्दर पुस्तिका लिखी है और हमारे मतलब के लिए इसी पुस्तिका में से कुछ उदाहरण चुन लेना पर्याप्त होगा।

ऊपर हम देख आये हैं कि किसी-न-किसी रूप में गणेश की उपासना अति प्राचीन काल से होती चली आई है। फिर भी गणेश की जो मूर्तियाँ हमें इस समय मिलती हैं, वे बहुत प्राचीन नहीं हैं। प्रथम शताब्दी की अमरावती की प्राकार-भित्ति पर हस्तिमुख गणों का चित्रण किया गया है। पहली अथवा दूसरी शताब्दी के सिंहल देश में 'मिहितले' स्थान पर भी एक भित्ति-चित्र में इसी प्रकार हस्तिमुख गणों का चित्रण किया गया है। सीमा-प्रान्त में 'आका' स्थान पर भी दूसरी शती की एक दीवार पर चित्र खुदे हैं, उनमें भी हस्तिमुख गण हैं। परन्तु इस समय गणेश की प्रतिमाएँ नहीं मिलतीं। इस देवता की प्राचीनतम मूर्तियाँ हमें छठी और सातवीं शती की 'भूमार' की प्रस्तर-मूर्तियों में मिलती हैं। इस समय तक गणेश का अपनी शक्ति से साहचर्य भी हो चुका है। फतेहगढ़ की प्रस्तर-शिला में गणेश को दिगम्बर दिखाया गया है और उनके हाथ में मोदकों से भरा एक पात्र है जिसमें वह अपने शुएड को ढाल रहे हैं। गणेश की अपरकालीन प्रतिमाओं में उनका यह लक्षण अनेक बार दिखाई देता है। बादामी और ऐहोल गुफा-मन्दिरों में गणेश को भगवान् शिव के अनुचर के रूप में दिखाया गया है।

दक्षिण भारत में प्रायः सभी प्रतिमाओं में गणेश का साहचर्य मातृकाओं से किया गया है। इस साहचर्य का कारण सम्भवतः यह ही सकता है कि इन मातृकाओं की

उपासना सुख और समृद्धि के लिए की जाता थी जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं। गणेश की भी चूँकि कार्यसिद्धि के लिए उपासना की जाती थी, जिसके फलस्वरूप समृद्धि भी होती थी, अतः इन दोनों का साहचर्य हो गया।

ऊपर हम कह चुके हैं कि सिद्धिदायक देवता के रूप में गणेश की उपासना सब मतों के अनुयायी, यहाँ तक कि महायान बौद्ध भी करते थे। इसी तथ्य के उदाहरणस्वरूप 'सारनाथ' के एक अपरगुप्तकालीन भित्तिचित्र में जहाँ बुद्ध का निर्वाण दिखाया गया है, वहाँ एक कोने में गणेश का चित्र भी अंकित कर दिया गया है। बौद्ध धर्म में इस प्रकार गणेश की उपासना के समावेश के फलस्वरूप ही हम देखते हैं कि तिब्बत में बौद्ध-मन्दिरों के आगे संरक्षकदेवता के रूप में गणेश की मूर्तियाँ ही रखी जाती हैं।

सप्तम अध्याय

पिछले अध्यायों में हमने देखा है कि शैव मत के लोक-प्रचलित रूप के विकास के साथ-साथ उसके दार्शनिक रूप का भी विकास होता गया और अन्त में उसने एक स्वतन्त्र दर्शन का रूप धारण कर लिया जो 'शैव सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस दर्शन के सिद्धान्तों का निरूपण पहले-पहल विशेष शास्त्रों में हुआ जो 'आगम' कहलाते थे। इन शास्त्रों की रचना पौराणिक काल में ही हुई जान पड़ती है; परन्तु इनको ठीक-ठीक समझने के लिए यह अच्छा होगा कि हम प्रारम्भ से चलें। साथ ही इन शास्त्रों में जिन-जिन सिद्धान्तों तथा मतों का निरूपण किया गया है, उनके विकास-क्रम का भी अध्ययन करें। इसके लिए हमें फिर एक बार उपनिषद्-काल में लौटना होगा। तीसरे अध्याय में हमने देखा था कि यह वह काल था, जब भारत के धार्मिक और दार्शनिक विचारों में एक क्रांति-सी रही थी। इसी क्रांति के फलस्वरूप भारत में भक्तिवाद का प्रादुर्भाव हुआ जिसे हम लोक-प्रचलित धार्मिक विचारों पर उपनिषदों के दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रभाव का फल मान सकते हैं। उपनिषदों में परमब्रह्म का जो कल्पना की गई थी और जिसे अध्ययन, मनन और आत्मसंयम द्वारा जाना जा सकता था, उसी कल्पना के आधार पर एक ईश्वर की भी कल्पना की गई जिसे सच्ची भक्ति और तपश्चर्या द्वारा जाना जा सकता था। अतः हम यह कह सकते हैं कि परमब्रह्म की ओपनिषदिक कल्पना ही भक्तिवाद का दार्शनिक आधार थी। अब यह भक्तिवाद शिव और विष्णु की उपासना में केन्द्रित हुआ; क्योंकि उस समय जन-साधारण में अन्य सब देवताओं को छोड़कर प्रायः इन्हीं दो देवताओं की उपासना होती थी। अतः इनकी उपासना में इस नये भक्तिवाद का समावेश हो जाने पर इन्हीं को एक ईश्वर माना जाने लगा और दार्शनिक पक्ष में इन दोनों का ही परमब्रह्म से तादात्म्य किया जाने लगा। शिव के सम्बन्ध में यह स्थिति हम 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् में देख चुके हैं, जहाँ एक और वह भक्तों के ईश्वर हैं तो दूसरी ओर दार्शनिकों के पुरुष हैं। 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् में शिव का जो दार्शनिक स्वरूप है, वही अपरकालीन समस्त शैव दर्शन का बीज है। वहाँ हमने देखा था कि पुरुष-रूप में शिव को परमसत्य और एकस्तष्टा माना जाता था, जो अपनी माया (जिसे शक्ति अथवा प्रकृति भी कहा जाता था) के द्वारा सृष्टि का कार्य सम्पन्न करता था। सृष्टि की अभिव्यक्ति में यह माया ही सक्रिय कार्य करती है और पुरुष केवल उसका प्रेरक रहता है। जीवात्मा को भी अमर माना जाता था और परमात्मा में विलीन हो जाने पर ही उसका मोक्ष होता था। उपनिषद्-काल के बाद इन सिद्धान्तों का दो प्रकार से विकास हुआ। एक तो शुद्ध अद्वैत के ढंग पर जिसके अनुसार परमब्रह्म को ही एकमात्र सत्य माना जाता है और जीवात्मा सारलूपेण उससे अभिन्न है। वास्तव में वह इसी परमब्रह्म की एक अभिव्यक्ति मात्र है और इसी अभिन्नता का ज्ञान प्राप्त कर तथा अपने को परमब्रह्म में विलीन करके ही जीवात्मा मुक्तिपद को प्राप्त होता है। शक्ति, माया अथवा प्रकृति और कुछ नहीं है, केवल इसी परमब्रह्म की ही एक रचना

है जिसका अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। इस शुद्ध अद्वैतवाद के सबसे बड़े प्रचारक बाद में शंकराचार्य हुए। औपनिषदिक सिद्धान्तों के विकास का दूसरा प्रकार भी अद्वैतवादी ही था और इसमें भी परमब्रह्म का स्वरूप लगभग वही था जो विशुद्ध अद्वैतवाद में। परन्तु इस अद्वैत में कुछ विशेषता यह थी कि पहले तो प्रकृति अथवा माया का परमब्रह्म द्वारा रचित होते हुए भी अपना अलग अस्तित्व माना जाता था और दूसरे मोक्ष-प्राप्ति जीवात्मा के परमात्मा में पूर्ण विलय को नहीं, अपितु परमात्मा के समक्ष जीवात्मा की शाश्वत आनन्दमयी स्थिति को माना जाता था। यह मार्ग विशिष्ट अद्वैत कहलाया। शुद्ध अद्वैत से अधिक सरल और सुगम होने के कारण इस विशिष्ट अद्वैत का ही जनसाधारण में अधिक प्रचार हुआ। शुद्ध अद्वैत को ठीक-ठीक समझने के लिए बड़ी कुशाग्र बुद्धि की आवश्यकता होती है। अतः इसका प्रचार अधिकतर दार्शनिकों और विद्वान् लोगों तक ही सीमित रहा। न तो उपनिषदोत्तर काल के वैदिक साहित्य में, न रामायण-महाभारत अथवा पुराणों में, न वेदोत्तर-कालीन लौकिक साहित्य में ही—यानी शंकर के समय तक कहीं भी विशुद्ध अद्वैतवाद की कोई विशेष चर्चा नहीं है। इसके विपरीत वेदोत्तरकालीन भक्तिवादात्मक सम-त मतों का दार्शनिक आधारविशिष्ट अद्वैतवाद ही था। रामायण-महाभारत में शिव की सहचरी के रूप में प्रकृति अथवा माया की कल्पना लगभग उसी प्रकार की गई है, जिस प्रकार 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् में। मुक्ति का अर्थ भी वहाँ यह है कि जीवात्मा परमात्मा का साक्षात्कार प्राप्त करे और परमात्मा के ही साक्षित्य में सदा वास करे। पुराणों में वैष्णव और शैव दोनों मतों ने विशिष्ट अद्वैतवाद की स्थिति को स्वीकार किया है। दोनों एक सर्वश्रेष्ठ परमात्मा के अस्तित्व को मानते हैं जो इन्द्रियगम्य विश्व की सृष्टि अपनी शक्ति अथवा माया के द्वारा करता है और जिसके अनुग्रह से जीवात्मा अपने कर्मबन्धनों से छूटता है तथा परमात्मा के समक्ष पहुँच कर मोक्ष को प्राप्त होता है। परन्तु विशुद्ध और विशिष्ट अद्वैत के इन दोनों प्रकारों को साधारणतया एक ही नाम दिया जाता था और वह था 'वेदान्त'। इन दोनों को एक ही दर्शन के दो अंग माना जाता था। यही स्थिति पुराणोत्तर काल में भी रही, जब वेदान्त अथवा अद्वैत के दो अंग माने जाते थे—एक 'विशिष्ट' और दूसरा 'शुद्ध'। यही कारण था कि शैव और वैष्णव दोनों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता था कि इनके सिद्धान्त वेदान्त के अनुकूल हैं। परन्तु शैव मत का जैसे-जैसे विकास होता गया, उसकी स्थिति विशिष्ट अद्वैत से कुछ हट गई। इसका कारण था—शैवमत में शिव की सहचरी का विशेष स्थान, जिसे शिव की शक्ति अथवा प्रकृति माना जाता था। हम ऊपर देख चुके हैं कि शिव की यह सहचरी एक प्रमुख देवी थी, जिसकी अपनी स्वतन्त्र उपासना होती थी। शिव के साथ उसका साहचर्य ही जाने के बाद भी उसका यह पद बना ही रहा और किसी समय भी शिव के उत्कर्ष के कारण देवी के इस पद का हास नहीं हुआ। देवी के इस उत्कृष्ट पद का शैवमत के दार्शनिक विकास पर प्रभाव पड़ा और उसका भुकाव 'सांख्य' की ओर अधिक हुआ, जिसमें प्रकृति को वेदान्त की अपेक्षा अधिक महत्व दिया गया है। अतः उपनिषदों, रामायण-महाभारत और पुराणों में शिव के प्रसंग में 'सांख्य' का जो उल्लेख किया गया है, उसका यही रहस्य है। परन्तु शैवधर्म सारभाव से आस्तिक था और

सांख्य उपनिषदुत्तर काल में नास्तिक हो गया। अतः इन दोनों का सम्बन्ध शीघ्र ही टूट गया। फिर भी शैव मत पर आदि सांख्य के सिद्धान्तों का जो प्रभाव पड़ा था, वह स्थायी रहा। यह बात पुराणों और कुछ तन्त्रों से स्पष्ट हो जाती है, जहाँ शिव की शक्ति अथवा माया के रूप में देवी को शिव की समवर्तिनी माना गया है। विश्व की सृष्टि में सक्रिय तत्त्व यह देवी ही है, जब कि शिव इस कार्य में प्रायः द्रष्टा मात्र ही रहते हैं। इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार वेदोत्तर काल में शैवमत के दार्शनिक पक्ष का विकास होता रहा और अन्त में 'आगम' ग्रन्थों की रचना हुई, जिसमें शैव मत के दार्शनिक पक्ष का स्वरूप निर्धारित कर दिया गया और ये ग्रन्थ शैव मत के प्रथम सैद्धान्तिक ग्रन्थ बने। इन आगमों की रचना ठीक किस समय हुई, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता और समझ वह है कि पुराणों के समान ही यह भी एक काफी लम्बे अवसरे में रचे गये हों। श्री वी० वी० रमन ने 'सिद्धान्त दीपिका' के एक लेख में इन आगमों को महात्मा बुद्ध के समय से भी पहले का बताया है। परन्तु यह बात केवल इन आगमों के मूल सिद्धान्तों के विषय में कही जा सकती है जिनका वीज उपनिषद्-ग्रन्थों में पाया जाता है। इन ग्रन्थों के रचना-काल की आदि-सीमा चाहे जो भी हो, इनका अस्तित्व पुराणों के समय में तो अवश्य था ही; क्योंकि 'ब्रह्मवैवर्त' पुराण में उनका रपष्ट उल्लेख किया गया है। इससे कुछ काल पहले दक्षिण में शैव संत 'तिरमूलर' हुए थे। इनका समय पाँचवीं शती निर्धारित किया गया है। इन्होंने आगमों का संस्कृत से तामिल भाषा में अनुवाद किया था। अतः आगम ग्रन्थों की रचना इनके समय से पहले ही हुई होगी। इस संत ने आगमों का जो विवरण दिया है, उससे पता चलता है कि उस समय तक इन आगमों को शैवमत के शास्त्रीय ग्रन्थ माना जाता था, और इनकी प्रामाणिकता वैसी ही थी जैसी वेदों की। संत 'तिरमूलर' वेदों और आगमों दोनों को श्रुति मानते थे। उनका कहना है कि 'वेद और आगम दोनों ही सत्य हैं; क्योंकि दोनों ईश्वर की वाणी हैं'। वह इस बात पर बहुत जोर देते हैं कि वेद और आगम एक दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं। "प्रथम (अर्थात् वेद) को आप सामान्य मानिये और दूसरे (अर्थात् आगमों) को विशेष समझिए। दोनों मिलकर ईश्वर की वाणी है।" एक अन्य स्थल पर उन्होंने और भी स्पष्ट रूप से कहा है कि "वेदान्त और सिद्धान्त में जब कोई भेद प्रतीत होता है, तब परीक्षण करने पर विवेकीजन इनमें कोई अन्तर नहीं पाते"। वह फिर कहते हैं कि "यदि वेद गौ हैं, तो आगम उनका दूध"। संत 'तिरमूलर' की इन उक्तियों से एक और तो यह सिद्ध होता है कि उस समय शैवधर्म वैदिक श्रुतियों को मानता था और इस प्रकार वह ब्राह्मण धर्म के अन्तर्गत था तथा दूसरी ओर हम यह भी देखते हैं कि आगम-ग्रन्थों को जो अधिकाधिक प्रामाणिकता दी जा रही थी और उनमें शैवधर्म के एक विशिष्ट सैद्धान्तिक पक्ष का जो निरूपण किया गया था, सम्भवतः इसी के कारण कभी-कभी यह संदेह भी उत्पन्न हो जाता था कि आगमिक सिद्धान्त वैदिक श्रुतियों के अनुकूल थे या नहीं। कुछ शैवों के ब्राह्मण-धर्म-विरुद्ध आचरण करने से इस संदेह को और भी बल मिलता था। संत 'तिरमूलर' ने इसी संदेह का निराकरण करने का प्रयत्न किया था। इसके अतिरिक्त हमें यह भी पता चलता है कि आगम ग्रन्थ पहले संस्कृत में लिख गये थे। इसके साथ-साथ दक्षिण में यह

परम्परागत धारणा भी बड़ी प्रबल थी कि दक्षिण में शैव धर्म का प्रचार उत्तर से आकर शैव विद्वानों और संतों ने किया। अतः यह लगभग निश्चित ही हो जाता है कि आगम-ग्रन्थों की रचना पहले-पहल उत्तर भारत में हुई थी। यह स्वाभाविक भी लगता है; क्योंकि आदि काल से उत्तर भारत ही आर्य-संस्कृति का केन्द्र रहा था, और हमारे सब धार्मिक मतों का जन्म और प्रारम्भिक विकास वहाँ हुआ था। इसके अतिरिक्त ईरवी सन् की प्रारम्भिक शतियों में दक्षिण में बौद्ध और जैन मतों का अत्यधिक प्रचार था। शैवमत द्वारा इन दोनों के उन्मूलन के बाद ही दक्षिण भारत ब्राह्मण-संस्कृति का केन्द्र बन सका।

आगम-ग्रन्थों में जिन सिद्धान्तों का निरूपण किया गया, वही प्रामाणिक शैव सिद्धान्त बना। इन ग्रन्थों में से कामिक आगम को हम एक प्रतिनिधि ग्रन्थ मान सकते हैं। इसके संक्षिप्त रूप के अध्ययन करने से हमें शैव सिद्धान्त की प्रमुख मान्यताओं का अच्छा परिचय मिल सकता है। इस आगम में शिव को सर्वथोष्ट सत्य माना गया है। वह अनादि हैं, अकारण हैं और स्वतः सम्पूर्ण हैं। वह सर्वज्ञ हैं और सर्वकर्ता हैं। वह अपनी शक्ति के द्वारा जो उनका साधन है, सुष्ठि का कार्य सम्पन्न करते हैं। यह शक्ति शिव की समवर्तिनी है और वास्तव में उनसे अभिन्न है। इसी शक्ति का शिवपत्नी उमा अथवा पार्वती से तादात्म्य किया गया है। अपनी शक्ति के द्वारा शिव समस्त विश्व में इस प्रकार व्याप्त है कि वह उनसे भिन्न प्रतीत नहीं होते। परन्तु वास्तव में विश्व का उनसे तादात्म्य नहीं किया जा सकता; क्योंकि शिव तो विश्व से परे हैं और उसका अस्तित्व शिव के अन्दर ही है। असल में यह विश्व और इसमें वसनेवाले समस्त प्राणी शरीर हैं जिसकी आत्मा शिव हैं। विशुद्ध अद्वैत शैव सिद्धान्त का यह दूसरा प्रमुख भेद है। विशुद्ध अद्वैत के अनुसार विश्व ब्रह्म से पृथक् नहीं है; क्योंकि इस व्यक्त सुष्ठि के पीछे ब्रह्म ही केवल एक सत्य है तथा विश्व के नाम और रूप की अनेकता केवल माया है, जिसका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। इसके अतिरिक्त शैव सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा असंख्य और शाश्वत हैं। वे सब परम शिव के ही अंश हैं; परन्तु उनसे सर्वथा अभिन्न नहीं हैं, जैसा कि विशुद्ध अद्वैतवादी मानते हैं। परन्तु वे शिव से भिन्न भी नहीं हैं, और जीवात्मा तथा शिव रूप परमात्मा के परस्पर सम्बन्ध को हम एक ही प्रकार से निर्दिष्ट कर सकते हैं और वह है—‘भेदाभेद’ सम्बन्ध। यह सम्बन्ध वैसा ही है, जैसा ज्वाला और उसके ताप का। ज्वाला में ताप सदा वर्तमान रहता है; परन्तु वह उनसे अभिन्न नहीं है। इसी प्रकार परमात्मा जीवात्मा में सदा वास करता है; परन्तु दोनों एक दूसरे से अभिन्न नहीं हैं। वास्तव में परमात्मा और जीवात्मा के इस सम्बन्ध में हम ‘श्वेताश्वतर’ उपनिषद् की उस कल्पना का विकास देख सकते हैं, जिसमें परमात्मा और जीवात्मा की दो पक्षियों से उपमा दी गई है, तथा जिससे सांख्यवादियों ने जीव और पुरुष के परस्पर सम्बन्ध के अपने विशिष्ट सिद्धान्त का विकास किया है। शैव सिद्धान्त की स्थिति भी आदि सांख्य की स्थिति से बहुत भिन्न नहीं है। अपने मूर्त्त रूप में यह जीवात्मा कुछ काल के लिए भौतिक शरीर से मिल जाते हैं, जो स्वयं अचेतन हैं; परन्तु जिसे जीवात्मा चेतनायुक्त करता है। इस प्रकार ‘शरीर’ से संलग्न होकर जीवात्मा ‘अविधा’, काम और ‘माया’ के त्रिविध बन्धन

में कसे जाते हैं और परमशिव के अनुग्रह से ही फिर उनकी इस बन्धन से मुक्ति होती है। इस स्थल पर शैव सिद्धान्त में काम के सिद्धान्त का भी समावेश कर दिया गया है। इसा आत्मानुप्राणित स्थूलतत्त्व मय जगत् में ही मानव मोक्ष-प्राप्ति का प्रयास करता है और उसका यह प्रयास कर्म के सिद्धान्त से नियमित होता है। अतः इस भौतिक जगत् की सृष्टि के पीछे एक महान् नैतिक और आध्यात्मिक उद्देश्य है तथा इसको केवल माया नहीं समझा जा सकता। आत्मा का कर्मबन्धन ही पाप है और परमशिव की दया तथा अनुग्रह से ही इस बन्धन से मुक्ति मिलती है। जब यह बन्धन हट जाता है तब आत्मा विमुक्त हो जाता है और आवागमन के चक्कर से छूट कर संपूर्ण रूप से शिवसमान हो उन्हीं के सान्निध्य में जाकर परमानन्द को प्राप्त होता है। आत्मा का शिव से तादात्म्य नहीं होता, अपितु वह उनके समक्ष एक आदर्श अवस्था में रहता है और परमशिव का प्रकाश उसे ज्योतिर्मय बनाये रखता है। यह शैव सिद्धान्त और विशुद्ध अद्वैत का तीसरा प्रमुख मेद है। क्योंकि विशुद्ध अद्वैत के अनुसार मोक्ष-प्राप्ति होने पर जीवात्मा परमात्मा अथवा ब्रह्म में पूर्णतया विलीन हो जाता है और उसका अपना कोई अलग अस्तित्व नहीं रह जाता।

ये ही शैव सिद्धान्त की मौलिक मान्यताएँ हैं, जिनका निरूपण आगम ग्रन्थों में किया गया है। इसके बाद इनमें कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ। अपरकालीन सभी दार्शनिकों ने इनको स्वीकार किया और इनका कार्य अधिकतर इन्हीं सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन करना रहता था। इस प्रकार का विवेचन मुख्यतः दक्षिण में हुआ, जो छठी शताब्दी के पश्चात् शैव-धर्म का प्रधान केन्द्र बन गया तथा इस समय से बाद के लगभग सभी शैव विद्वान् दाक्षिणात्य ही थे। इनमें सबसे प्रसिद्ध सातवीं शताब्दी में 'आपर' और 'मणिकवासगर' हुए हैं। दोनों शैव सिद्धान्त में पारंगत थे और उसके महान् प्रचारक थे। इन दोनों ही ने आगमों को अपने प्रामाणिक शास्त्र माना, और कहाँ भी उनके सिद्धान्तों के प्रतिकूल नहीं गये।

शैव सिद्धान्त के प्रचार का काम इन दो संतों के बाद अनेक अन्य विद्वानों ने भी किया होगा, यद्यपि वे इतने प्रसिद्ध नहीं हैं। फिर नवीं शताब्दी में शंकराचार्य हुए, और जब उन्होंने विशुद्ध अद्वैत का प्रचार करना प्रारम्भ किया तथा अपनी विद्वत्ता, प्रखर बुद्धि और शास्त्रार्थ-कौशल से सब मतों के विद्वानों को एक के बाद एक परास्त करने लगे, तब शैव सिद्धान्त के लिए एक कठिन समस्या उत्पन्न हो गई। शंकराचार्य ख्ययं शैव थे, और जब उन्होंने ही विशुद्ध अद्वैत का समर्थन किया, जो आगमिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल था, तब शैव दार्शनिक एक विचित्र दुविधा में पड़ गये। इन लोगों ने शंकर के प्रति कैसा रखैया रखा, इसका हमें उपलब्ध अभिलेखों से ठीक-ठीक पता नहीं चलता। उन्होंने शंकर के मुख्य सिद्धान्तों के विरोध तो अवश्य किया होगा। विद्यारण्य ने एक शैव सिद्धान्ती का उल्लेख भी किया है जिसने वेदान्त के 'तत्त्वमसि' सिद्धान्त पर आक्षेप किया था। परन्तु सामान्य रूप से ऐसा जान पड़ता है कि शैव सिद्धान्तियों ने शंकर को कभी सीधी चुनौती नहीं दी। इसके दो मुख्य कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि शंकर के

साथ विधिवत् शास्त्रार्थ करने में उनकी पराजय निश्चित थी। साथ ही शंकर भी स्वयं शैव ही थे, अतः उनका विरोध करने और उनके सिद्धान्तों पर कड़े आच्छेप करने से जनसाधारण में वह भ्रम उत्पन्न हो सकता था कि शैव मत में ही फूट पड़ गई है। यह एक ऐसी संभावना थी—जब कि शैव मत बौद्ध, जैन, चार्वाक आदि विधर्मी मतों के विरुद्ध घोर संघर्ष में लगा हुआ था—जिसकी शैव सिद्धान्ती कल्पना करने का भी साहस नहीं कर सकते थे। दूसरा कारण यह था कि शंकर स्वयं इन विधर्मी मतों के कट्टर विरोधी थे और इस रूप में शैवों के लिए तो वे एक देवप्रेषित उपहार बनकर आये थे, और उनका ध्यान दूसरी ओर बटाकर उनके इस महान् कार्य में बाधा डालना बुद्धिमत्ता का काम नहीं था। अतः शंकर के जीवन-काल में शैव लोग अधिकतर चुप ही रहे। परन्तु उनके दिवंगत होने पर शैवों ने अपने को शंकर के सिद्धान्तों का विरोधी घोषित किया, और वे फिर ब्राह्मणिक सिद्धान्तों का प्रचार करने में लग गये। शंकर के विशुद्ध अद्वैत और माया के सिद्धान्त की अतिमात्र दुरुहता ही अब शैव सिद्धान्तियों की सहायक बनी; क्योंकि इस दुरुहता के कारण ही विशुद्ध अद्वैत कभी भी लोकप्रिय न बन सका।

इसवीं अथवा ग्यारहवीं शती में या इससे थोड़े समय बाद 'मेयकन्द देवुर' नाम के प्रस्वात संत और विद्वान् दक्षिण में हुए। उन्होंने तत्कालीन समस्त शैव सिद्धान्त का सार केवल बारह संस्कृत अनुष्टुप् पद्मों में दिया है। 'मेयकन्द देवुर' की यह कृति 'शिवज्ञानबोधम्' के नाम से प्रसिद्ध है और शैवों में इसका वही स्थान है जो वैष्णवों में भगवद्गीता का। शैवमत के दार्शनिक पक्ष का संपूर्ण विकास हम इस ग्रन्थ में पाते हैं, और इसी ने उसका रूप भी निश्चित कर दिया। यही शैव सिद्धान्त का अन्तिम मौलिक ग्रन्थ भी है; किन्तु और सब ग्रन्थ प्राचीन ग्रन्थों की टीका के रूप में ही हैं, या फिर उनके सार मात्र हैं।

जिस समय दक्षिण में अनेक संत और विद्वान् शवमत को प्रधानता दिलाने और उसके दार्शनिक पक्ष का विकास करने में लगे हुए थे, उसी समय भारत का एक और भाग भी शैव विद्वानों का केन्द्र बन गया। यह था कश्मीर। यह कहना कठिन है कि ठीक किस समय और किस रूप में कश्मीर में शैव धर्म का प्रचार हुआ। परन्तु अति प्राचीन काल से ही कश्मीर उत्तर भारत के सांस्कृतिक क्षेत्र के अन्तर्गत रहा है, और उत्तर भारत में जो-जो धार्मिक आन्दोलन हुए, उन सबका प्रभाव अनिवार्य रूप से कश्मीर पर भी पड़ा। इसके अतिरिक्त 'बसुगुप्त' के समय तक, जो आठवीं शती में हुए थे, कश्मीर में शैव आगमों की बड़ी प्रतिष्ठा थी और उन्हें अति प्राचीन माना जाता था। अतः कश्मीर में उनका प्रचार बहुत पहले से रहा होगा। प्रारम्भ में कश्मीर में भी इन आगमों की व्याख्या उसी प्रकार की जाती थी, जिस प्रकार अन्यत्र। 'बसुगुप्त' ने तो स्पष्ट रूप से कहा है कि इनकी व्याख्या इसी प्रकार की जाती थी। फिर हमें छठी या सातवीं शती का एक प्राचीन ग्रन्थ भी मलता है, जिसका नाम 'विरूपाक्षपंचाशिका' है और जिसमें शैव मत के दार्शनिक पक्ष का सारांशतः विवरण उसी प्रकार किया गया है जिस प्रकार आगम ग्रन्थों में। परन्तु लगभग इसी समय कश्मीर में एक नई विचार-धारा का प्रादुर्भाव हुआ, जिसके

प्रवर्तक आगमिक सिद्धान्तों की अधिक शुद्ध अद्वैतवादी ढंग पर व्याख्या करना चाहते थे। इस विचारधारा का जन्म कैसे और किस प्रभाव से हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। सम्भव है कि कश्मीर में पहले ही से कोई विशुद्धाद्वैतवादी सम्प्रदाय रहा हो, और उसके कुछ योग्य विद्वान् अनुयायियों ने शैव आगामों की अपने ढंग पर व्याख्या करने का उसी प्रकार प्रयास किया हो, जिस प्रकार शंकर ने समस्त उपनिषदों में विशुद्ध अद्वैत दृढ़ने का प्रयास किया था। इनमें से एक विद्वान् तो स्वयं 'वसुगुप्त' ही थे^१। कश्मीर में इस विद्वान् के जो अर्द्ध ऐतिहासिक वृत्तान्त मिलते हैं, उनसे इतना तो पता चलता ही है कि उन्हाने स्वयं कुछ सूत्र रचे थे जो 'शिवसूत्र' कहलाते थे। या हो सकता है कि यह सूत्र उन्होंने अपने किसी गुरु से सीखे हों। परन्तु उन्होंने इसका प्रचार अवश्य किया। इन सूत्रों में उन्हाने शैवमत के दार्शनिक सिद्धान्तों की विशुद्ध अद्वैतवाद के अनुसार व्याख्या की और इस प्रकार अद्वैतवादी शैव सिद्धान्त की नींव डाली जो बाद में कश्मीरी शैवमत कहलाया। यह शिवसूत्र उन सूत्रों से सर्वथा भिन्न है जो आजकल शिवसूत्रों के नाम से प्रसिद्ध हैं, और जिनका रचयिता अज्ञात है। 'वसुगुप्त' के सिद्धान्तों का और अधिक प्रचार उनके शिष्य 'कल्पट' ने अपनी टीकाओं द्वारा किया, जिनमें एक अब 'स्पन्द सूत्र' अथवा 'स्पन्दकारिका' के नाम से प्रसिद्ध है।

'वसुगुप्त' और 'कल्पट' दोनों ने ही इस नये दर्शन की रूपरेखा मात्र को निर्धारित किया। उन्होंने तकों द्वारा इसकी विस्तृत विवेचना नहीं की। यह काम सौमानन्द ने उठाया जो 'कल्पट' के समकालीन थे। हा सकता है, वह 'वसुगुप्त' का शिष्य भी रहे हो। 'सौमानन्द' ने प्रख्यात 'शिवष्टि' नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसमें उन्होंने 'वसुगुप्त' और 'कल्पट' द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तों की पूर्ण विवेचना की और उनको एक निश्चित दर्शन का रूप दिया। 'सौमानन्द' के बाद इस काम को उनके शिष्य 'उत्पल' ने जारी रखा। इन्होंने 'प्रत्यभिज्ञा' सूत्रों की रचना की और उनके द्वारा इस 'प्रत्यभिज्ञा' शब्द के प्रयोग करने पर ही इस दर्शन का नाम 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' पड़ गया। 'सर्वदर्शनसंग्रह' में इसका इसी नाम से उल्लेख किया गया है।

लगभग इसी समय भारत में शंकराचार्य हुए। इनके विशुद्ध अद्वैत का प्रचार करने से कश्मीर के इस नये अद्वैतवादी शैवमत को बहुत कल मिली और उसकी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई। शंकर के कश्मीर जाने का भी परम्परागत वृत्तान्त मिलता है। सम्भव है कि वह वास्तव में वहाँ गये हों और एक ओर तो बौद्ध तथा जैन मतों के उन्मूलन करने में (जो सातवीं और आठवीं शती में कश्मीर में बहुत प्रबल थे) और दूसरी ओर वहाँ अद्वैतवाद को ढप रूप से स्थापित करने में सहायक हुए हाँ। कुछ भी हो, शंकर के समय से कश्मीर में अद्वैतवादी शैव सिद्धान्त सर्वमान्य हो गया, और अनेक प्रख्यात विद्वान् उसके अनुयायी हो गये। इनमें सबसे बड़े 'उत्पल' के शिष्य 'अभिनवगुप्त' थे। उन्होंने 'परमार्थसार' नामक ग्रन्थ की रचना की, और तत्पश्चात् 'उत्पल' के 'प्रत्यभिज्ञा सूत्र' और

१. कश्मीर में शैवमत का यह वर्णन श्री चट्टोपाध्याय की कश्मीरी शैव-र्धर्म विषयक पुस्तक पर आधारित है।

‘अभिनवगुप्त’ का ‘परमार्थसार’ कश्मीरी शैव सिद्धान्त के प्रामाणिक ग्रन्थ माने जाने लगे। इन्हीं दो ग्रन्थों में कश्मीर में शैव सिद्धान्त का पूर्ण विकास होता है। अभिनवगुप्त के शिष्य ‘क्षेमराज’ ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ‘शिवसूत्रविमर्शिनी’ में वसुगुप्त के शिवसूत्रों की व्याख्या की। क्षेमराज ने अन्य भी अनेक प्रामाणिक ग्रन्थ लिखे, जिनमें उन्होंने इस प्रत्यभिज्ञादर्शन की विस्तृत व्याख्या की। इनमें से ‘प्रत्यभिज्ञाहृदय’, ‘स्पन्दसन्दोह’ और ‘रूपन्दनिर्णय’ प्रमुख हैं।

क्षेमराज के बाद प्रत्यभिज्ञादर्शन का विकास प्रधानतः उपर्युक्त ग्रन्थों पर टीकाओं द्वारा ही हुआ। इन टीकाकारों में सबसे बड़े ‘योगराज’ हुए हैं। यह भी ‘अभिनवगुप्त’ के ही शिष्य थे। इन्होंने ‘अभिनवगुप्त’ के परमार्थसार पर एक टीका लिखी थी। कुछ काल बाद बारहवीं शती में ‘जयरथ’ ने ‘अभिनवगुप्त’ के ‘तंत्रालोक’ पर टीका लिखी। ‘योगराज’ के बाद तेरहवीं शती के अन्ततक, जब हमारा यह दिव्यदर्शन समाप्त होता है, कश्मीरी शैवमत के इतिहास में और कोई बड़ा विद्वान् नहीं हुआ।

कश्मीरी शैवमत के विकास और इतिहास का इस प्रकार संक्षिप्त विवरण दे देने के बाद अब हम जरा उन विशेष सिद्धान्तों पर भी एक दृष्टि डाल लें। उनमें से पहला तो शक्ति अथवा प्रकृति-सम्बन्धी है। शैव सिद्धान्त में शक्ति को लगभग उसी प्रकार शिव की समर्वतीनी माना जाता था, जिस प्रकार सांख्य में प्रकृति को। परन्तु कश्मीर के प्रत्यभिज्ञादर्शन में उसको परमशिव अथवा पुरुष की अभिव्यक्ति मात्र माना गया है। उसका निवास भी परमशिव में और केवल उन्हीं में है, और उसको हम परमशिव की सृजनशक्ति कह सकते हैं। इसी कारण वह परमशिव से अभिन्न है। इस प्रकार शैव सिद्धान्त में जो द्वौत का भास होता था, उसको प्रत्यभिज्ञादर्शन के अद्वौत में परिणत कर दिया गया। इस शक्ति के पांच मूल रूप हैं—(१) चित्तशक्ति अर्थात् परमशिव की आत्मानुभूति की शक्ति; (२) ‘आनन्द शक्ति’ अर्थात् परमशिव की परमानन्द की शक्ति; (३) इच्छा शक्ति अर्थात् परमशिव की वह शक्ति जिसके द्वारा वह अपने-आपको सृष्टि का निर्माण करने के हेतु एक परम इच्छा से युक्त पाते हैं; (४) ज्ञान शक्ति, अर्थात् परमशिव की सर्वज्ञता की शक्ति और (५) क्रिया शक्ति अर्थात् परमशिव की वह शक्ति जिसके द्वारा वह इस अनेकरूप विश्व को ढ्यक्त करते हैं। शक्ति जब अपना यह अन्तिम रूप धारण करती है, तब सृष्टि का कार्य वास्तव में प्रारम्भ होता है, जिसे ‘आभास’ कहते हैं। इस आभास की कल्पना लगभग वैसी ही है जैसी वेदान्त में ‘विवर्त’ की। भेद केवल इतना ही है कि वेदान्त में इस व्यक्त विश्व की अनेकरूपता को ‘माया’ माना गया है, वह न सत् है न असत्—“सदसद्भ्याम् निर्वाच्याः”। परन्तु प्रत्यभिज्ञादर्शन में इस अनेकरूपता को सत् माना गया है; क्योंकि जिस किसी वस्तु को परमशिव से सम्बन्ध है वह असत् नहीं हो सकती। जीवात्मा सारभाव से परमशिव की ही अभिव्यक्ति मात्र है और माया द्वारा सीमित है। माया का यहाँ अर्थ है—परमशिव के तिरोभूत हो जाने की शक्ति, भौतिक विश्व की सृष्टि से ठीक पहले परमशिव इस अवस्था को प्राप्त होते हैं। इस अवस्था में परमशिव का विश्व से जो वास्तविक सम्बन्ध है, उसका तिरोभाव हा जाता है और परमशिव अपने-आपको

‘काल’, ‘नियति’, ‘राग’, ‘विद्या’ और ‘कला’ के पंचविध बन्धन में सीमित कर लेते हैं। इसी के साथ-साथ परम-शिव एक से अनेक हो जाते हैं और इस प्रकार असंख्य जीवात्माओं का प्रादुर्भाव होता है। यह जीवात्मा जन्म-मरण के अनेक चक्करों में से गुजरते हैं और अन्त में सद्ज्ञान प्राप्त कर और अपने सच्चे रूप और परमशिव के साथ अपने सच्चे सम्बन्ध को पहचान कर बन्धनमुक्त होते हैं। वे फिर असीम परमशिव का रूप धारण कर लेते हैं। यहाँ भी हम देखते हैं कि प्रत्यभिज्ञादर्शन वेदान्त के ब्रह्म और जीव के तादात्म्य के सिद्धान्त और मोक्ष प्राप्ति पर जीव के ब्रह्म में संपूर्ण रूप से विलीन हो जाने के सिद्धान्त के ही अधिक निकट है।

अष्टम अध्याय

पिछले अध्यायों में हमने अति प्राचीन काल से लेकर तेरहवीं शती तक, भारत में शैव धर्म के प्रादुर्भाव और एक प्रसुख धार्मिक सम्प्रदाय के रूप में, उसके पूर्ण विकास के लम्बे इतिहास का, दिग्दर्शन किया है। परन्तु शैव धर्म का प्रचार केवल भारत तक ही सीमित नहीं रहा। ईस्ती सन् के प्रारम्भ से और वास्तव में तो उससे भी बहुत पहले से, भारत के पड़ोसी देशों पर और सुदूरपूर्व के प्रदेशों पर भारतीय सभ्यता का प्रभाव पड़ा। उपलब्ध अभिलेखों से पता चलता है कि अति प्राचीन काल से ही भारत का अपने पड़ोसी देशों के साथ तथा पूर्वी द्वीप-मण्डल और हिन्दू-चीन के साथ बड़ा घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध रहा है। इसके अतिरिक्त अति प्राचीन काल से ही भारतीय प्रवासियों का पूर्व की आर प्रायः निरन्तर ही एक प्रवाह सा चलता रहा है और ये लोग अधिकतर इहाँ देशों में जाकर बसे, यद्यपि कुछ साहसी लोग सुदूर यूरोप और अमेरिका भी पहुँचे थे। इन देशों का भारत के साथ इस प्रकार इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होने के फलस्वरूप यहाँ एक सर्वतोमुखी सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ जिसने कुछ समय तक तो भारत की प्रौढ़ सभ्यता से टक्कर ली। इन देशों में भारतीय धर्म का भी प्रचार हुआ और अन्य मतों के साथ-साथ शैवमत भी वहाँ पहुँचा, और जबतक वह सभ्यता वहाँ बनी रही, तब तक शैव धर्म का भी वहाँ प्रचार रहा। अतः अपने इस दिग्दर्शन को समाप्त करने से पहले हम इस अध्याय में उपलब्ध अभिलेखों से संक्षेप में यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि भारत के बाहर शैवधर्म ने क्या रूप धारण किया और वहाँ उसका क्या इतिहास रहा?

भारत की सीमा से लगे हुए देशों (नेपाल और तिब्बत, बर्मा और सिंहल द्वीप) में अशोक के समय से ही बौद्ध धर्म ने बड़ी पक्की जड़ पकड़ ली थी और एक नेपाल को छोड़ कर, जहाँ ब्राह्मण-धर्म का पुनः प्रचार हुआ, शेष सब देशों में तब से लेकर आज तक बौद्ध धर्म का ही प्राधान्य रहा है। नेपाल में बैण्णव, शैव और महायान बौद्ध मत दीर्घ काल तक साथ-साथ प्रचलित रहे। 'हेन-सांग' के समय तक वहाँ यही स्थिति थी, उसके बाद भी बहुत दिनों तक इस स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। परन्तु फिर वैष्णव और शैव मतों का प्रचार धीरे-धीरे बढ़ता गया और बौद्ध धर्म का प्रभाव क्षीण होता गया। इसी समय यहाँ शाक्त मत भी फैला और आजकल तो नेपाल में देवी के अनेक मन्दिर हैं जिनमें 'भाटगाँव' का 'देवी भवानी' का मन्दिर तो बड़ा भव्य है। परन्तु इस देश में उपलब्ध अभिलेख चौदहवीं शती से पहले के नहीं हैं, अतः इससे पूर्वकाल के धार्मिक इतिहास का सम्यक् अध्ययन करना सम्भव नहीं है। तिब्बत में भी कुछ शैवमन्दिर पाये जाते हैं, और वहाँ शैव और बौद्ध दोनों ही मन्दिरों के सामने गणेश की मूर्तियाँ भी पाई जाती हैं। परन्तु इससे अधिक शैव मत के सम्बन्ध में हमें कुछ पता नहीं लगता। अतः अब हम इन देशों से कुछ अधिक पूर्व की आर हिन्दू-चीन और पूर्वी द्वीप मण्डल की ओर चलते हैं जहाँ शैव मत का प्रचार काफी पहले हो चुका था और जहाँ उपलब्ध अभिलेख भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। यह अभिलेख अधिकतर शिलालेखों और इमारतों के रूप में हैं जो ईरवी

सन् की प्रथम शती से लेकर पन्द्रहवीं या सोलहवीं शती तक के हैं। इन अभिलेखों से हमें इन देशों के धार्मिक इतिहास का काफी ब्योरा मिल जाता है। सबसे अधिक अभिलेख हिन्दु-चीन के चम्पा और कम्बोज प्रदेशों में पाये जाते हैं। अतः हम अपना अध्ययन यहाँ से प्रारम्भ करते हैं।

हिन्दु-चीन में शैव मत का उल्लेख प्रथम बार चम्पा में ४०० ईस्वी के 'चोहदिन' शिलालेख में मिलता है। इस समय तक शैवमत इस देश में दृढ़ रूप से स्थापित ही गया था और स्वयं नृपति इसका अनुयायी था। परन्तु यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस शिलालेख में शैव मत की उपासना का जो प्रकार दीखता है, वह न तो पौराणिक है, न रामायण-महाभारत जैसा है; अपितु वह वैदिक उपासना के अधिक निकट है। इस शिलालेख में एक यज्ञ का उल्लेख किया गया है जो राजा 'भद्रवर्मा'^{१.} ने भगवान् शिव की उपासना के रूप में किया था और जो लगभग वैदिक कर्मकाण्ड के अनुसार संपन्न हुआ था। शिलालेख की भाषा भी हमें वैदिक मंत्रों का रमरण कराती है^{२.}। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि सबसे पहले इस देश में वैदिक धर्म का प्रचार हुआ था; परन्तु चूँकि यह देश भारत से इतना दूर था, अतः यहाँ का धार्मिक विकास भारत के धार्मिक विकास के साथ-साथ न चल सका और इसके फलस्वरूप यहाँ एक विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गई। वह स्थिति यह थी कि एक ओर तो यहाँ दीर्घ काल तक उपासना का वाह्य प्रकार वैदिक ही रहा, और दूसरी ओर भारत में जो नई धार्मिक परिपाठी बनी थी, उसके प्रधान दो देवताओं, विष्णु और शिव की उपासना का प्रचार भी भारत से आये प्रवासियों द्वारा होने लगा और पुरानी तथा नवीन दोनों परिपाठियों का सम्मिश्रण हो गया। इस धारणा की पुष्टि एक दूसरे शिलालेख से होती है जो इसी शिलालेख की पूर्ति करता है। इस दूसरे शिलालेख में केवल एक बाक्य है 'शिवो दासो बध्यते'। वैदिक उपासना में नरमेघ की प्रथा का उल्लेख हम प्रारम्भिक अध्यायों में कर आये हैं। बहुत सम्भव है कि यह प्रथा अन्य देशों के समान चम्पा में भी प्रचलित रही हो, और इस शिलालेख का संकेत उस व्यक्ति की ओर है जिसको शिव के सम्मान में अनुष्ठित यज्ञ में वलि दिया जा रहा था। शिव को अतिप्राचीन काल में नर-वलि दी जाती थी, यह भी हम पहले देख चुके हैं।

समकालीन भारतीय धार्मिक परिपाठी का प्रभाव भी इन देशों पर धीरे-धीरे पड़ रहा था। यह इसी राजा के एक अन्य शिलालेख से स्पष्ट हो जाता है जिसमें शिव को 'महेश्वर' कहा गया है और उनकी पत्नी उमा का भी उल्लेख किया गया है। इसके साथ ब्रह्मा और विष्णु की चर्चा भी की गई है और इनकी वन्दना की गई है^{३.}। पाँचवीं शती के अन्त और छठी शती के प्रारम्भ तक इस देश में शैवमत का स्वरूप लगभग पौराणिक हो गया था और इसी समय के राजा 'शम्भुवर्मा' के 'माइसोन शिलालेख' में शिव को जगत्कर्ता, जगत्पालक और जगत्-संहर्ता—तीनों लोकों का एक कारण, शुद्ध, केवल, सर्वश्रेष्ठ और सर्वज्ञ बतलाया गया है। यह वर्णन लगभग उसी प्रकार किया गया है जैसा कि पुराणों

१. उदाहरणार्थ : 'अग्नये त्वा जुष्टं करिष्यामि' ।

२. देखो परिशिष्ट न० २ ।

में^१। छठी शती के उत्तरार्द्ध में 'प्रकाशधर्म' के अनेक शिलालेखों से हमें पता चलता है कि इस समय तक इस देश में शिवलिंग की उपासना का भी खूब प्रचार हो गया था और स्वयं 'प्रकाशधर्म' ने एक मन्दिर में शिवलिंग की स्थापना की थी। इसी राजा के 'माइसोन शिलालेख' में शिव को परमब्रह्म और दृश्यजगत् का स्रोत माना गया है^२। इसी शिलालेख में शिव के 'कपाली' रूप की ओर इस रूप में उनके श्मशान-भूमि से सम्बन्ध की ओर भी संकेत किया गया है और जिस ढंग से यह संकेत किया गया है, वह भी ध्यान देने योग्य है। लेखकर्ता को अच्छम्भा होता है कि जिस देवता का ब्रह्मा और विष्णु सहित सब देवता सम्मान करते हैं, वह श्मशान-भूमि में नृत्य करना पसन्द करता है ! यद्यपि उसके इस विचित्र आचरण में भी मानव का कल्याण अवश्य निहित होगा, तथापि साधारण मनुष्यों की समझ में यह बात सुगमता से नहीं आती^३। इससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि लेखक शिव के इस कपाली रूप से अभिज्ञ था और इस रूप का ज्ञान भारतीय पुराणों तथा अन्य भारतीय ग्रन्थों, में जिनका यहाँ प्रचार था, शिव की कपाली स्वरूप-सम्बन्धी उपाधियों से प्राप्त हुआ था। आगे देखेंगे कि शिव के इस रूप का उल्लेख हिन्दू-चीन के अभिलेखों में बहुत कम होता है, और कापालिक सम्प्रदाय की तो कभी कोई चर्चा आती ही नहीं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस सम्प्रदाय का यहाँ प्रादुर्भाव नहीं हो सका। इसी शिलालेख के एक अन्य पद्य में शिव की अष्टमूर्ति का उल्लेख किया गया है और कहा गया है कि इनके विना सृष्टि का कार्य नहीं हो सकता। राजा 'प्रकाशधर्म' को इसी स्थान में एक पत्थर की चौकी पर एक और लेख मिला है जिसमें कुवेर को शिव का सखा बताया गया है, और पार्वती की ओर देखने पर कुवेर के 'काना' हो जाने की, पौराणिक कथा की, और भी संकेत किया गया है^४।

सातवीं शती के अभिलेखों में भी हमें 'चम्पा' में शैव धर्म का पौराणिक रूप दिखाई देता है। राजा 'विक्रान्तवर्मा' के 'माइसोन शिलालेख' में वृषभ को शिव का वाहन कहा गया है, और उपमन्यु की तपस्या तथा शिव द्वारा वर प्राप्त करने की कथा का भ। उल्लेख किया गया है^५। शिव की अष्टमूर्ति की चर्चा भी की गई है, और दूसरे पद्य में इन आठों मूर्तियों का सम्बन्ध शिव के आठ विभिन्न नामों से किया गया है। 'विक्रान्तवर्मा' के बाद विक्रान्तवर्मा द्वितीय राजा हुआ, और यह भी शैवमत का संरक्षक था। उसका 'माइसोन शिलालेख' आठवीं शती के प्रारम्भ का है, और उस शिव को ब्रह्मा और विष्णु से बड़ा माना गया है। इन दोनों देवताओं को शिव के चरणों की वन्दना करते हुए भी बताया गया है^६। आठवीं शती के उत्तरार्द्ध के राजा सत्यवर्मा के 'पो-नगर' वाले शिलालेख

१. देखो परिशिष्ट में नं० ३।

२. " " नं० ६।

३. " " नं० ६।

४. " " नं० ७।

५. " " नं० ६।

६. " " नं० २०।

में प्रथम बार 'मुखलिंगों' का उल्लेख किया गया है। इसके साथ-साथ देवी और गणेश की प्रतिमाओं की चर्चा भी की गई है। अतः इस समय तक इन सबका यहाँ प्रचार हो चुका था।

राजा 'सत्यवर्मा' के शिलालेख के बाद हमें नवीं शती के राजा 'इन्द्रवर्मा' का 'श्लाई-लामोव' शिलालेख मिलता है, जिसमें 'त्रिपुरदाह' की कथा का उल्लेख है। इसी शिलालेख में शिव के तीन नेत्रों तथा उनके शरीर पर मली भस्म की भी चर्चा की गई है तथा शिवभक्तों के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे मृत्यु के पश्चात् सीधे स्फरलोक को जाते हैं। इसी राजा के 'यांग-तिकुह' शिलालेख में जो ७६६ ईस्वी का है, शिव के मन्दिरों में दास और दासियाँ समर्पण करने की प्रथा का उल्लेख किया गया है^१। पहले अध्यायों में हम देख चुके हैं कि यह प्रथा दक्षिण भारत में प्रचलित थी, और सम्भवतः वहाँ से यहाँ चम्पा में भी लाई गई थी। यहाँ प्रतीत होता है कि इसका प्रचार खूब हो गया; क्योंकि अन्य भी अनेक शिलालेखों में इसकी चर्चा आई है^२। इसी शिला-लेख में शिव को 'पाताल-प्रभव' कहा गया है। यह एक बिलकुल नई उपाधि है, जिसकी ठीक-ठीक उत्पत्ति का पता हमको नहीं चलता।

नवीं शताब्दी के 'वकुल-शिला-लेख' में एक सामन्त का उल्लेख किया गया है, जिसने जैनों और शैवों दोनों को दान दिये थे^३। इससे पता चलता है कि इस समय तक यहाँ कोई धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक संघर्ष नहीं था। वास्तव में इस प्रकार के संघर्ष का नितान्त अभाव हिन्दू-चीनी और पूर्वी द्वीपमण्डल के धार्मिक इतिहास का मुख्य लक्षण है। धार्मिक सिंहणुता की यह भावना नवीं शती के उत्तरार्द्ध के राजा 'इन्द्रवर्मन' द्वितीय के 'दोंग-डुओंग' शिलालेख में भी दिखाई देती है^४। यह शिलालेख बौद्ध है। राजा भी बौद्ध ही प्रतीत होता है; क्योंकि लेख में कहा गया है कि उसने 'स्वभवद' और 'लोकेश्वर' की मूर्तियों की स्थापना की थी। परन्तु इसी शिलालेख से हमें ज्ञात होता है कि इस राजा ने एक शिवलिंग का भी स्थापना की थी। इस धार्मिक सिंहणुता का एक कारण यह भी हो सकता है कि महायान बौद्धमत ब्राह्मण-धर्म के बहुत निकट आ गया था और धीरे-धीरे वह अधिकाधिक इसके प्रभाव में आता ही चला गया। इस प्रकार महायान बौद्धमत के ब्राह्मण-धर्म विरोधी लक्षण मिट जाने पर इसको अब ब्राह्मण धर्मानुकूल मतों का प्रतिस्पर्धी नहीं, अपितु उन्हीं में से एक माना जाने लगा था। इन मतों में भी परस्पर साम्प्रदायिक विद्वेष कभी नहीं हुआ। इसके विपरीत इन प्रदेशों में, हम इन विभिन्न मतों में, एक दूसरे के विशिष्ट लक्षणों को आत्मसात् कर लेने की एक स्पष्ट प्रवृत्ति देखते हैं, जिसके फलस्वरूप इनकी अपनी-अपनी विशिष्टता अस्पष्ट होती जा रही थी। इस प्रवृत्ति का संकेत हमें उपर्युक्त शिलालेख में ही मिलता है। प्रथम तो

१. देखो परिशिष्ट नं० १२।

२. „ „ „, नं० ११।

३. „ „ „, नं० १५।

४. „ „ „, नं० १३।

५. „ „ „, नं० १५।

इससे हमें यह ज्ञात होता है कि राजा ने बौद्ध 'लोकेश्वर' के मन्दिर को दास और दासियाँ ठीक उसी प्रकार समर्पण की थीं, जिस प्रकार शैव मन्दिरों को की जाती थीं। इससे पता चलता है कि बौद्धमत शैवमत के आचारों को ग्रहण कर रहा था। दूसरे इस शिलालेख में लोकेश्वर को सर्वत्र 'लक्ष्मीन्द्र' कहा गया है जिससे सिद्ध होता है कि बौद्धमत में वैष्णव देवताओं का भी समावेश हो रहा था। आगे चलकर हमें इस प्रवृत्ति के और भी संकेत मिलेंगे।

नवीं शताब्दी में हमें 'इन्द्रवर्मा' तृतीय और 'जयसिंहवर्मा' प्रथम के शिलालेख भी मिलते हैं, और इनसे तत्कालीन शैवमत का रूप कुछ और स्पष्ट होता है। इन्द्रवर्मा तृतीय के 'बो-मांग' शिलालेख में 'मुखलिंगों' का उल्लेख किया गया है, जिनकी स्थापना इस राजा ने की और इसके साथ-साथ शिव की सहचरी देवी की प्रतिमाओं का भी उल्लेख किया गया है, जिनकी शिव-मूर्तियों के साथ-साथ रखा गया था^१। इसी शिलालेख से हमें यह भी ज्ञात होता है कि मन्दिरों को दास और दासियाँ इस कारण समर्पित की जाती थीं कि वह उन खेतों में काम करें जो मन्दिरों को चलाने के लिए दान में दिये जाते थे। जहाँ कहाँ खेत नहीं होते थे, वहाँ ये दास-दासियाँ मन्दिर के कुछ और छोटे-मोटे काम करते थे।

'जयसिंहवर्मा' प्रथम के 'वाड-इयान्ह' शिलालेख, जो दसवीं शती के प्रारम्भ का है, ध्यान देने योग्य है। इसका कुछ भाग संस्कृत में और कुछ 'चाम' (चम्पा की भाषा) में लिखा गया है। संस्कृत भाग में शिव को 'गुहेश्वर' की असाधारण उपाधि दी गई है जो पुराणों में केवल कहाँ-कहाँ पाई जाती है। इससे सिद्ध होता है कि पुराण-ग्रन्थों का खूब अच्छी तरह अध्ययन हुआ था। लेख का जो भाग चाम भाषा में लिखा हुआ है, उसमें एक संदर्भ इस प्रकार है—‘जो लोग यह धर्मकार्य करेंगे……जो अपने पुत्रों और पुत्रियों को मन्दिर की सम्पत्ति होकर रहने के लिए वहाँ छोड़ देंगे’……इत्यादि। यहाँ दास-दासियों को नहीं, अपिनु स्वयं अपनी सन्तान की मन्दिर में सेवार्थ समर्पण करने की ओर संकेत किया गया है। यह देव-दासी प्रथा भी नहीं है; क्योंकि उसमें केवल लड़कियों को ही देवता के सेवार्थ समर्पित किया जाता था। यह कहना कठिन है कि यहाँ इस विशेष प्रथा का जन्म कैसे हुआ? दाता के पुत्रों और पुत्रियों को यहाँ मन्दिर की सम्पत्ति माना गया है, इसका यह अर्थ हो सकता है कि वह मन्दिर में मन्दिर के संरक्षकों के आदेशानुसार काम करते थे। परन्तु यह काम क्या होता था, इसका कोई संकेत नहीं मिलता।

उपर्युक्त शिलालेख से कुछ समय बाद का हमें ६०६ ई० का 'भद्रवर्मा' का 'होअ-केव' शिलालेख मिलता है, जिसमें 'लिंग-पुराण' के ढंग पर शिवलिंग का उत्कर्ष किया गया है। शिवलिंग को शाश्वत, असीम इत्यादि कहा गया है और ब्रह्मा तथा विष्णु द्वारा शिव-लिंग का पार न पा सकने की कथा का उल्लेख इसके उदाहरणस्वरूप किया गया है। शिलालेख के अन्त में 'त्रिमूर्ति' का उल्लेख भी किया गया है जिसमें शिव के दक्षिण पक्ष में ब्रह्मा और बाम पक्ष में विष्णु हैं^२। इसी राजा के 'बांग-अन्' शिलालेख में शिव को भस्म-

१. क्लो परिशिष्ट नं० १६।

२. „ „ नं० १७।

पुंज पर समासीन बताया गया है, जहाँ अन्य सब देवता उनकी वन्दना करते हैं। इसी समय के एक और शिलालेख में जो सद्रवर्मा तृतीय का है, मदन-दहन की कथा की ओर संकेत किया गया है। इसी समय के 'इन्द्रवर्मा' तृतीय के 'न्हन-विअं' शिलालेख में, एक राजकर्मचारी और उसके पुत्र द्वारा पहले एक शिवलिंग का प्रतिष्ठापन किये जाने और फिर उन्हीं के द्वारा अवलोकितेश्वर के बौद्ध-विहार की स्थापना किये जाने का उल्लेख किया गया है। इससे एक बार फिर शैव और बौद्धमतों के बीच किसी प्रकार के संघर्ष का अभाव सिद्ध होता है। इन्द्रवर्मा तृतीय के 'पी-नगर' शिलालेख से हमें पहली बार यहाँ शैव-श्रुतियों के अस्तित्व का पता चलता है। इनको यहाँ 'उत्तरकल्प' कहा गया है, और 'इन्द्रवर्मा' तृतीय को इनमें पारंगत बताया गया है^१। परन्तु इनके सम्बन्ध में हमें न तो इस शिलालेख से न अन्य किसी स्रोत से कुछ और पता चलता है, अतः उनके स्वरूप और भारतीय शैव आगमों के साथ इनके सम्बन्ध के विवर में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

दसवीं और भ्यारहवीं शती के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि चम्पा में शैवर्धम का अभी तक खूब प्रचार था। 'परमेश्वरवर्मा' प्रथम के 'पो-क्लम-गरई' शिलालेखों में, जो लगभग १०५० ई० के हैं, बताया गया है कि एक बार जब कुछ विद्रोहियों को शिवलिंग और उसके चिह्न दिखाये गये, तब वह उनसे बहुत प्रभावित हुए। इसी राजा के 'पो-नगर' मन्दिर के शिलालेख से हमें इस समय यहाँ शक्ति-पूजा के अस्तित्व का भी पता चलता है। इस शिलालेख में देवी को पराशक्ति कहकर उसकी स्तुति की गई है, और उसे शिव के साथ संयुक्त माना गया है। उसको 'यम्पु-नगर' की अधिष्ठातृ देवी कहा गया है^२। इस स्थल पर इसी राजा के एक दूसरे शिलालेख में देवी का फिर उल्लेख किया गया है, जिसके मन्दिर में विभिन्न जातियों के पचपन दास सेवार्थ समर्पित किये गये थे। इसी स्थल पर एक अपरकालीन शिलालेख में देवी को 'मलदकुठारा' कहा गया है^३, जो एक स्थानीय नाम मालूम होता है। इस शिलालेख में फिर कहा गया है कि 'यम्पुनगर' में देवी की बड़ी ख्याति थी। अतः यह स्थान देवी की उपासना का एक प्रधान केन्द्र रहा होगा।

यहाँ हमें एक बात का ध्यान रखना चाहिए। वह यह कि यद्यपि उपर्युक्त शिलालेख में देवी की उपासना का प्रथम बार उल्लेख किया गया है, फिर भी स्वयं देवी का उल्लेख इससे पूर्वकालीन अभिलेखों में भी हुआ है। शिव की सहचरी के नाम और उसकी प्रतिमाओं का उल्लेख हम ऊपर देख आये हैं। इसके अतिरिक्त अन्य शिलालेखों में भी शिव की शक्ति के रूप में देवी का अनेक बार उल्लेख हुआ है, और इस रूप में उनका स्वरूप वही था जैसा भारत में। उदाहरणार्थ नवीं शती के 'फनीम-ग्राह' विहार के एक शिलालेख में देवी को 'शिवशक्ति' कहा गया है और उनके उपासक का नाम भी शिवशक्ति ही था^४। लगभग इसी

१. देखो परिशिष्ट नं० १८।

२. „ „ नं० २०।

३. „ „ नं० २०।

४. „ „ नं० ३४।

शैव मत

१८०

समय के ‘पित्र-केव’ शिलालेख में भी इसी प्रकार देवी को ‘शमुशक्ति’ कहा गया है^१। दसवीं शती के ‘पित्र-आइनकोसी’ शिलालेख में देवी का सरस्वती के साथ तादात्म्य किया गया है, और उन्हें वागीश्वरी का नाम दिया गया है^२। भारतीय तंत्रों के समान ही यहाँ भी उनको सर्वश्रेष्ठ देवता माना गया है, जो सृष्टि-विलय के समय इस विश्व-रूपी कमल को तोड़कर ऊपर चली जाती है, और तदनन्तर एक बार फिर सृष्टि का काम प्रारम्भ करने के लिए नीचे उतरती हैं। उनकी एक उपाधि ‘भुवनेश्वरोदयकरी’ है, जिसका संकेत उनको पुरुष की चेतन-बुद्धि और क्रिया-शक्ति होने की ओर है। इससे सिद्ध होता है कि देवी के स्वरूप के दार्शनिक बुद्धि और क्रिया-शक्ति होने की ओर है। इससे सिद्ध होता है कि देवी के स्वरूप के दार्शनिक पक्ष का भी चम्पा में पर्याप्त ज्ञान था। इसके साथ-साथ चम्पा-निवासी शैवमत के उस पक्ष का भी चम्पा में पर्याप्त ज्ञान था। इसके साथ-साथ चम्पा-निवासी शैवमत के उस सिद्धान्त से भी अनभिज्ञ नहीं थे, जिसके अनुसार शिवजन्य अनेक शक्तियों के अस्तित्व को माना गया है। कम-से-कम एक शिलालेख में इसका उल्लेख किया गया है^३।

बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी के शिलालेखों में भी शैवमत का लगभग यही स्वरूप दिखाई देता है। सन् ११६३ ईस्वी के राजा ‘इन्द्रवर्मा’ चतुर्थ के ‘माइसोन मन्दिर’ के एक शिलालेख में शिव के चतुर्मुख और पंचमुख रूप का उल्लेख किया गया है। इसी राजा के एक अन्य ‘माइसोन-शिलालेख’ भी, जो कुछ समय बाद का है, शिव की बन्दना से प्रारम्भ होता है; परन्तु इसमें राजा द्वारा लोकेश्वर और देवी ‘जय इन्द्रेश्वरी’ की प्रतिमाओं की स्थापना का उल्लेख किया गया है तथा फिर अगले ही वाक्य में राजा को एक शैवमतक बताया गया है। उल्लेख किया गया है तथा फिर यह पता चलता है कि बौद्ध और शैवमतों में किसी प्रकार का विवेच इससे एक बार फिर यह पता चलता है कि बौद्ध और शैवमतों में किसी प्रकार का विवेच नहीं था और राजा लोग प्रायः सभी धर्मों को प्रश्रय देते थे। सूर्यवर्मा के ‘माइसोन-स्तम्भ’ नहीं था और राजा लोग प्रायः सभी धर्मों को प्रश्रय देते थे। महायान धर्म का अनुयायी बताया गया है; परन्तु उसका पुत्र शैव था और उसने शिव की महायान धर्म का अनुयायी बताया गया है; परन्तु उसका पुत्र शैव था और उसने शिव की एक प्रतिमा का प्रतिष्ठापन किया था। तेरहवीं शती के ही ‘जयपरमेश्वरवर्मा’ द्वितीय के ‘पो-नगर’ मन्दिर के एक शिलालेख में शिव-मन्दिर को सब जातियों के दास-दासियों का समर्पण किये जाने का उल्लेख किया गया है। इसी राजा के ‘पो-दिन्ह’ के मन्दिर के एक शिलालेख में, शिव को ‘स्वयमुत्पन्न’ की उपाधि दी गई है जो शिव की प्रचलित उपाधि ‘स्वयंभू’ का ही रूपान्तर है।

हिन्दू-चीन में वहाँ की धार्मिक स्थिति का ज्ञान हमें मुख्यतः शिलालेखों से ही होता है। जो इमारतें और अन्य पुरातात्त्विक अभिलेख वहाँ हैं, उनसे इन शिलालेखों के प्रमाणों की ही पुष्टि होती है। किसी नई बात का उनसे हमें पता नहीं चलता। परन्तु जब हम पूर्वी द्वीपमण्डल में आते हैं, तब हमारे ज्ञान के मुख्य स्रोत येही इमारतें और प्रतिमाएँ होती हैं, शिलालेखों का यहाँ प्रायः अभाव है। इस द्वीपमण्डल में यवद्वीप (जावा) ही प्रमुख है। अतः पहले हम इसी को लेते हैं।

जावा में भी ब्राह्मण-धर्म का प्रचार अति प्राचीन काल में हुआ था। जब पाँचवीं शती

१. देखो परिशिष्ट नं० २५।*

२. " " नं० २३।

३. प्रकाशधर्मा का माइसोन शिलालेख (छठी शती), परिशिष्ट नं० ६।

में चीनी यात्री 'फा-हियान' वहाँ पड़ुँचा था, तब ब्राह्मण-धर्म का ही वहाँ सर्वाधिक प्रचार था। और उसी के शब्दों में बौद्धमत का प्रभाव तो वहाँ 'चर्चा करने योग्य भी नहीं था' । सातवीं शती में 'तुकमस' स्थान पर एक शिलालेख के नीचे शैव और वैष्णव प्रतीक दिखाई देते हैं। मध्य जावा में तजांगल' स्थान पर एक अन्य शिलालेख में 'अगस्त्य' गोत्र के एक ब्राह्मण द्वारा एक शैव मन्दिर बनवाये जाने का उल्लेख किया गया है। इस मन्दिर को भारत में 'कुंजरकोण' के शैव मन्दिर के ढंग पर बनवाया गया था। इससे सिद्ध होता है कि जावा द्वीप का दक्षिण भारत से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। यह सम्बन्ध दीर्घकाल तक बना रहा और अप्रकालीन जावा संस्कृति के अनेक लक्षणों की उत्पत्ति इसी सम्बन्ध के फलत्वरूप हुई।

जावा में शैव मत के प्रचार का प्रथम दृश्य प्रमाण 'दिएंग उच्चसमस्थल' (Dieng Plateau) में सातवीं शती के अनेक शैव मन्दिर हैं। उनका आकार दक्षिण भारतीय पगोडा के समान ही है और दक्षिण भारत के जावा पर प्रभाव का यह एक और विशेष प्रमाण है। इनमें से 'चरण्डी श्रीखण्डी' नाम के एक मन्दिर की मूर्तियों पर शिव, ब्रह्मा और विष्णु के चित्र अंकित हैं। आठवीं शती के उत्तरार्द्ध अथवा नवीं शती के प्रारम्भ का 'चरण्डी बनोन' नाम का एक और शैव मन्दिर है, जिसपर शिव, ब्रह्मा और विष्णु के ही नहीं, अपितु गणेश का चित्र भी अंकित है। इससे सिद्ध होता है कि इस समय तक वहाँ गणेश की उपासना का भी प्रसार हो चुका था। इसी मन्दिर में अगस्त्य मुनि की भी एक मूर्ति पाई गई है। कालान्तर में यह मुनि 'शिव गुरु' के नाम से प्रसिद्ध हुए और जावा में यह माना जाता है कि इन्होंने ही इस द्वीप में पहला शैव मन्दिर बनवाया था। इस किंवदन्ती के पीछे ऐतिहासिक तथ्य यह था कि अगस्त्य गोत्र के एक ब्राह्मण ने यहाँ एक शैव मन्दिर बनवाया था, जैसा कि हम ऊपर 'तुकमस' के शिलालेख में देख आये हैं। सम्भवतः यह मन्दिर जावा का प्रथम शैव मन्दिर था। इसी समय की (अर्थात् आठवीं शती के अन्त अथवा नवीं शती के प्रारम्भ की) एक दुर्गा की मूर्ति भी पाई गई है, जो आजकल हालैड के 'लीउन' नगर के अजायबघर में है। इसमें देवी 'अष्टमुजा' है और सर्वविध शस्त्र धारण किये हुए हैं। यह मूर्ति साधारणतया देवी की भारतीय प्रतिमाओं के समान ही है। इस मूर्ति से सिद्ध होता है कि आठवीं या नवीं शती तक जावा में देवी की उपासना का भी प्रचार हो गया था। परन्तु जावा में सबसे प्रसिद्ध शैव मन्दिर वह है, जो सामूहिक रूप से 'चरण्डी लो-रो-जंगरंग' कहलाते हैं। यह नवीं शती के अन्त का है, और अपने गौरव और वैभव में बौद्ध 'बोरोबुदूर' के तुल्य है। इनमें से केन्द्रीय मन्दिर शिव का है, और इसमें भगवान् शिव की जो मूर्ति है, उसमें उन्हें खड़े हुए और चतुर्भुज दिखाया गया है। इसी स्थल पर अष्टमुजा देवी की एक मूर्ति भी पाई गई है, जिसमें देवी को महिषासुर का वध करते हुए चित्रित किया गया है। इस मूर्ति की अभी तक पूजा की जाती है। इसी समय का काँसे की बनी हुई शिव की एक और मूर्ति भी मिली है जो आजकल 'एस्सेन' के अजायबघर में है। इसमें शिव चतुर्भुज, त्रिनेत्र कमण्डलधारी हैं और उनकी

मुजाएँ सर्प-बेष्टित हैं। इससे सिद्ध हाता है कि इस समय तक शिव के इस योगी स्वरूप का भी जावा-निवासियों को ज्ञान था।

दसवीं, ग्यारहवीं और बारहवीं शतियाँ में भी जावा में शैवमत का प्रचार रहा, यद्यपि इस काल की इमारतें आदि अधिक संख्या में नहीं मिलतीं। परन्तु तेरहवीं शती में ये फिर प्रचुरता से पाई जाती हैं। पूर्वी जावा में 'चण्डी किदन' नाम का एक शैव मन्दिर इसी समय का है, जिससे ज्ञात होता है कि इस समय तक शैवमत जावा की पूर्वी सीमा तक फैल गया था। इसी समय हमें इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि कुछ समय पहले जावा में तांत्रिक मत का भी प्रचार हो गया था और तेरहवीं शती तक वह यहाँ दृढ़ रूप से स्थापित हो गया था। 'सिंगासुरी' स्थान पर 'चण्डी-जागे' नाम के मन्दिर में गणेश की एक मूर्ति पाई गई है, जिसमें गणेश के तांत्रिक रूप को ही दिखाया गया है। उनके मस्तक और कानों के ईद-गिर्द नरमुण्डों के चिह्न अंकित हैं और जिस आसन पर वह आसीन है, वह मैरव रूप की भी, एक मूर्ति पाई गई है जिसमें शिव, दंष्ट्रन् और मुण्डमाला से परिवेष्टित है। इसके अतिरिक्त इसी स्थल पर और इसी समय की, शिव के मैरव रूप की भी, एक मूर्ति पाई गई है जिसमें शिव, दंष्ट्रन् और मुण्डमाला से परिवेष्टित है। इस मूर्ति का यह विशेष लक्षण यह है कि इसमें भगवान् शिव को एक कुत्ते पर आरूढ़ दिखाया गया है। हम पहले ही देख आये हैं कि शिव के कूर रूप में कभी-कभी एक कुत्ते का उनके साथ साहचर्य रहता था। परन्तु शिव को इस प्रकार कुत्ते पर आरूढ़ भारत की किसी मूर्ति में नहीं दिखाया गया है, और न तो इसका वर्णन किसी ग्रन्थ अथवा शिलालेख में किया गया है। अतः इसको हमें जावा में शिव के खरूप का एक नया विकास मानना होगा। शिव और गणेश की इन मूर्तियों के साथ ही 'महिषमर्दिनी' रूप में देवी की मानना होगा। शिव और गणेश की इन मूर्तियों के साथ ही 'महिषमर्दिनी' रूप में देवी की एक और मूर्ति भी मिली है। संपष्टतः देवी के इस रूप की जावा में सर्वाधिक उपासना होती थी। तेरहवीं शती की ही 'बारा' में मिली गणेश की प्रख्यात प्रतिमा है जिसमें गणेश का वही तांत्रिक रूप दिखाया गया है, और उनके भयावह रूप को पीछे की ओर भी एक मुख बना कर और भी भयानक बना दिया गया है।

तेरहवीं शती में ही जावा में 'मजिट' साम्राज्य फैला हुआ था। प्रख्यात सम्राट् 'कृतनगर' इसी वंश का था। इस राजा का राज्यकाल कई दृष्टियों से बड़े महत्त्व का है। वह साहित्य और कला का तो एक महान् प्रश्रय-दाता था ही, इसके राज्यकाल में दोनों की ही खूब अभिवृद्धि हुई; परन्तु इसके साथ-साथ यह भी प्रसिद्ध है कि उसी राजा ने तांत्रिक मत को भी राजाश्रय दिया था, और स्वयं तांत्रिक विधियों के अनुसार अनेक संस्कार कराये थे। परन्तु हमारे दृष्टिकोण से इस राजा के राज्यकाल में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह हुई थी कि शैव और बौद्ध मतों के परस्पर सम्मिश्रण की जो प्रक्रिया दीर्घकाल से चल रही थी और जिसके अनेक संकेत हम हिन्द-चीन में देख आये हैं, वह अब आकर पूर्ण हो गई। जावा में अति प्राचीन काल से शैव और बौद्ध मन्दिर साथ-साथ बनाये जाते थे। शिव और गणेश की तांत्रिक प्रतिमाएँ भी, जिनका उल्लेख किया गया है, एक बौद्ध-मन्दिर के पास ही पाई गई थीं। राजा 'कृतनगर' के राज्यकाल में ये दोनों मत लगभग एक दूसरे से मिलकर एक हो गये। स्वयं राजा अपने-आपको शिव और

बुद्ध दोनों का अवतार मानता था। उसी समय के एक बौद्ध ग्रन्थ में शिव को बुद्ध से अभिन्न माना गया है^१। शायद उस समय तक एक 'शिव-बुद्ध' उपासना का भी प्रादुर्भाव हो गया था; क्योंकि एक मन्दिर में शिव की मूर्ति के ऊपर ही बुद्ध की मूर्ति भी रखी हुई है। 'चुपचाल' नाम के एक और मन्दिर में एक मूर्ति है जिसे हम 'स्तूपलिंग' कह सकते हैं। जावा में बौद्ध मत शैव मत का ही एक रूप बन गया था।

चौदहवीं शती में 'सिमिंग' नामक स्थान पर शिव और विष्णु की एक संयुक्त मूर्ति मिली है, जिसमें शैव और वैष्णव मतों के परस्पर सम्मिश्रण का संकेत पाया जाता है। उस स्थल पर देवी के सौम्य रूप की भी एक प्रतिमा पाई गई है। ऐसी प्रतिमाओं की संख्या बहुत कम है।

बालि द्वीप में शैव धर्म के प्रचार के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के विषय में एक प्रारम्भिक वाचा यह है कि यहाँ प्राचीन अभिलेख नहीं मिलते। शिलालेखों की संख्या तो बहुत है; परन्तु उनमें से कोई भी नवीं शती से पहले का नहीं है। फिर भी इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि हिन्दू-चीन और जावा द्वीप के समान बालि में भी भारतीय संस्कृति का प्रभाव अति प्राचीन काल में ही पहुँच गया होगा। पाँचवीं शती में 'फा-हियान' ने बालि द्वीप में बौद्ध मत के हीनयान के 'मूलसर्वास्तिवादी' शखा का उल्लेख किया है। कालान्तर में इसका स्थान बौद्ध मत के महायान ने ले लिया। इसी किसी समय यहाँ शैवमत का भी प्रचार हुआ और जब महायान बौद्धमत का यहाँ प्रथम रथान था, तब उसके बाद दूसरा स्थान शैवमत का ही था। फिर आगे चलकर शैवमत का प्राधान्य हुआ और अन्त में इसने महायान बौद्ध मत को आत्मसात् कर लिया, जैसा कि जावा द्वीप में हुआ था। शिव की सबसे प्राचीन मूर्ति आठवीं से दसवीं शती के बीच की है। इसमें शिव चतुर्भुज हैं और उनका रूप सौम्य है। इसके अतिरिक्त बालि में 'लिंग' और 'योनि' प्रतीक प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं, जिससे शैवमत की लोकप्रियता सिद्ध होती है^२। इसके अतिरिक्त बालि में अनेक मुख्यलिंग भी पाये गये हैं जिनमें कुछ पर शिव के आठ मुख अंकित हैं^३। 'मुख्यलिंग' की एक विशेष किस्म वह है जिसमें शिव की चार मूर्तियाँ अंकित हैं, जिनमें से प्रत्येक में ब्रह्मा, विष्णु और शिव के विशिष्ट लक्षण भी अंकित कर दिये गये हैं। यह एक अनूठी कल्पना है और इसका सबसे अच्छा वर्णन यही हो सकता है कि यह 'त्रिमूर्ति' की 'चतुष्कांश' है^४। इस प्रकार के मुख्यलिंग 'तेरहवीं अथवा चौदहवीं शती' के हैं। अतः इनसे सिद्ध होता है कि उस समय तक यहाँ शैवमत का प्रचार था।

पुरातात्त्विक अभिलेखों के अतिरिक्त बालिद्वीप में अनेक साहित्यिक अभिलेख भी मिलते हैं, जिनमें से अधिकांश भारतीय संस्कृत-ग्रन्थों के भ्रष्ट संस्करण हैं। जिस रूप में यह ग्रन्थ अब उपलब्ध है, वह रूप कुछ बहुत पुराना नहीं है। परन्तु इनमें शिव, देवी और

१. 'संग दिव्यांग कामहयनिकन' नाम का ग्रन्थ।

२. षट्टरहाइम : इंडियन इन्फ्लुएंस औन ओल्ड बलिनीज आर्ट : पृष्ठ ३०।

३. षट्टरहाइम : „ „ „ „ „ : पृष्ठ ३१।

४. „ : „ „ „ „ : पृष्ठ, ३२।

शैव मत

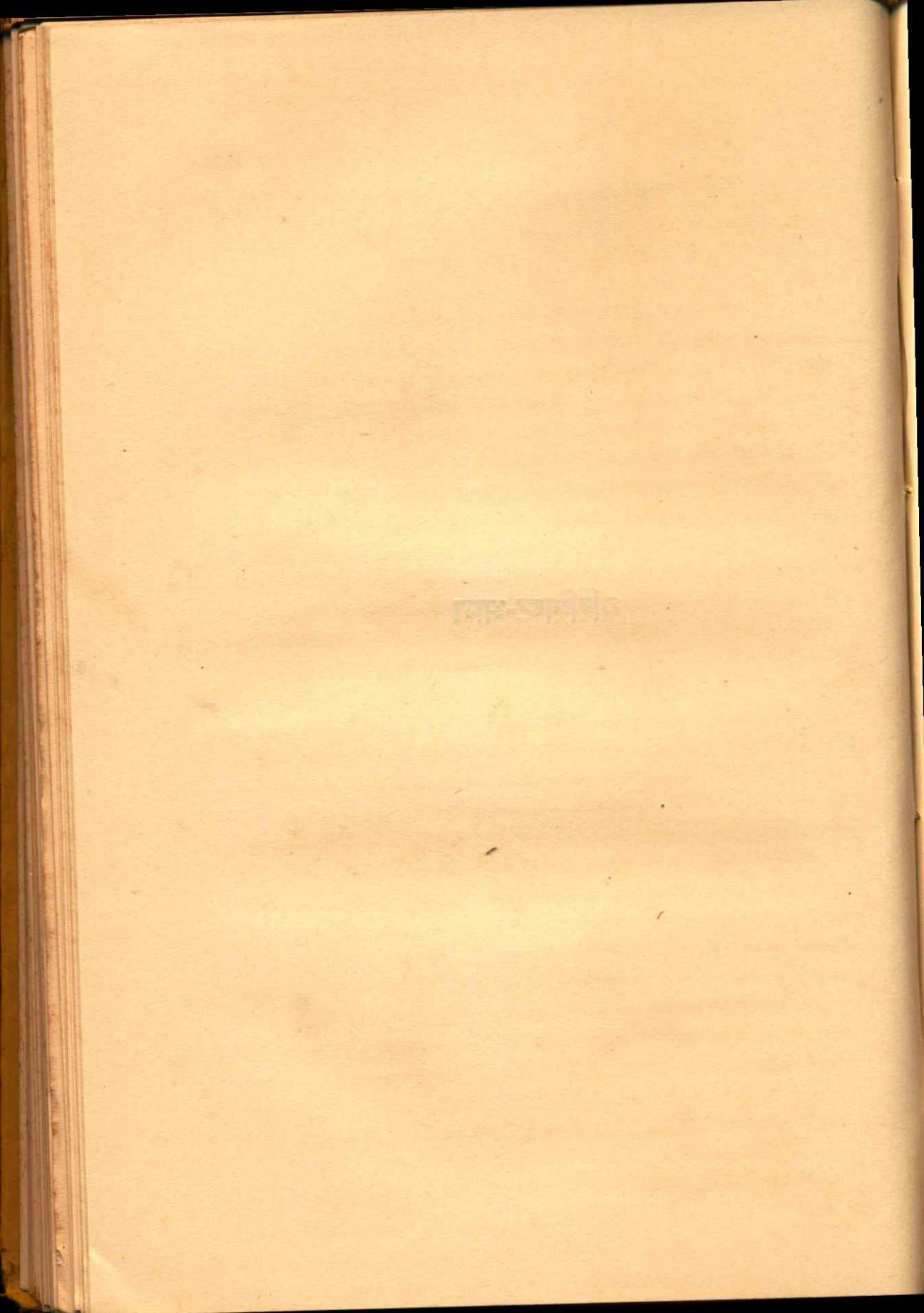
१८४

गणेश की अनेक स्तुतियाँ मिलती हैं, जिनका रूप विल्कुल पौराणिक है। अतः इनसे सिद्ध होता है कि बालि द्वीप में शैव धर्म का प्रचार लगभग आधुनिक समय तक रहा और उसका रूप सारांशतः पौराणिक था। इन ग्रन्थों का संकलन प्रसिद्ध कांसीसी विद्वान् 'श्रीलेखी' ने किया है।^{१.}

पूर्वों द्वीप-मंडल के अन्य द्वीपों और मलय प्रायद्वीप में शैव धर्म के प्रचार के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान केवल इतने तक ही सीमित है कि वहाँ भी शिव, गणेश और देवी की मूर्तियाँ पाई गई हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि यहाँ भी किसी समय शैवधर्म का प्रचार रहा होगा। सुमात्रा द्वीप को छोड़कर अन्य प्रदेशों में यह अभिलेख भी इतना आंशिक है कि इसके आधार पर वहाँ शैव धर्म के इतिहास का कोई क्रम-बद्ध विवरण देना सम्भव नहीं है। 'सुमात्राद्वीप' में शैव मत का स्वरूप 'हिन्द-चीन' और 'जावा' से किसी भी रूप में भिन्न नहीं था। अतः इस दिग्दर्शन की हम अब इति करते हैं।

१. लेखी : संस्कृत ट्रैक्सदस्स फॉर्म बालि।

परिशिष्ट-भाग



परिशिष्ट : प्रथम अध्याय

ऋग्वेद में रुद्र-सम्बन्धी सूक्त और मन्त्र¹

मण्डल सूक्त मंत्र अग्नि को रुद् कहा गया है—

- १ २७ १० जरावोध तद् विविड्धं, विशेषिशे यज्ञियाय |
स्तोमं स्त्राय दृशीकम् ॥

सूद्र-सोमसूक्त

- | | | | |
|---|----|---|--|
| ” | ४३ | १ | कद् रुद्राय प्रचेतसे मीहूष्टमाय तव्यसे । वोचेम शंतमम् हृदे ॥ |
| ” | ” | २ | यथा नो अदितिः करत् पश्वे नृभ्यो यथा गवे । |
| | | | यथा तोकाय रुद्रियम् ॥ |
| ” | ” | ३ | यथा नो मित्रो वस्त्रो यथा रुद्रश्चिकेतति । यथा विश्वे सजोषसः ॥ |
| ” | ” | ४ | गाथपतिं मेषपतिं रुद्रं जलापभेषजम् । तच्छुंयोः सुमनम् ईमहे ॥ |
| ” | ” | ५ | यः शुक्र इव सूर्यो हिरण्यमिव रोचते । श्रेष्ठो देवानां वसुः ॥ |
| ” | ” | ६ | शं नः करत्यर्वते सुगं मेषाय मेष्ये । नृभ्यो नारिभ्यो गवे ॥ |

अगले तीन मंत्र सोम के हैं —

- “ ” ७ अस्मे सोमश्रियम् अधि निधेहि शतस्य नृणाम् । महिश्रवस्तुविनृमणम् ॥
 “ ” ८ मा नः सोमपरिवाधो मारातयो ज्ञुरन्त । आ न इन्दो वाजे भज ॥
 “ ” ९ यास्ते प्रजा अमृतस्य परस्मिन्, धामन् कृतस्य ।
 मूर्धा नाभा सोम वेन आभूषन्तीः सोम वेदः ॥

रुद्र-सूत्र

- | | | | |
|---|-----|---|---|
| ” | ११४ | १ | इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्रभरामहे मतीः ।
यथा शम् असद् द्विपदे चतुष्पदे, विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम् । |
| ” | ” | २ | मूला नो रुद्रोत नो मयस्कुधि, क्षयद्वीराय नमसा विधेम ते ।
यच्छ्रम् च योश्च मनुरायेजे पिता, तदश्याम तव रुद्र प्रणीतीषु ॥ |
| ” | ” | ३ | अश्याम ते सुमति देवयज्यया, क्षयद्वीरस्य तव रुद्र मीढवः ।
सुम्नायन्निद्विशो अस्माकम् आचरा-रिष्टवीरा जुहवाम ते हविः ॥ |
| ” | ” | ४ | त्वेषं वयं रुद्रं यज्ञसाधं, वकुं कविं, अवसे निह्यामहे ।
आरे अस्मद् दैव्यं हैलो अस्यत्, सुमतिम् इट् वयम् अस्या वृणीमहे ॥ |

१. छपाई की सविधा के लिए यहाँ वैदिक मंत्रों के स्वर-संकेत नहीं दिये गये हैं।

शैव मत

१८६

मा०	सू०	मं०	
१	११४	५	दिवो वराहम् अस्थं कपर्दिनं, त्वेषं रूपं नमसा निह्यामहे ।
"	"	६	हस्ते विश्रद् भेषजा वार्याणि, शर्म वर्म छर्दिरसमस्यं यंसत् ॥
"	"	७	इदं पित्रे मरुताम् उच्यते वचः, स्वादोः स्वादीयो रुद्राय वर्धनम् ।
"	"	८	रास्वा च नो अमृत मर्त-भोजनं, त्मने तोकाय तनयाय मूल ॥
"	"	९	मा नो महान्तम् उत मा नो अर्मकं, मा न उक्षन्तम् उत मा न उक्षितम् ।
"	"	१०	मा नो वधीः पितरं मीत मातरं, मा नः प्रियास्तन्वी रुद्र रीरिषः ।
"	"	११	मा नरतोके तनये मा न आयौ, मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः ।
"	"	१२	वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्विष्मन्तः सदम् इत्वाहवामहे ॥
"	"	१३	उप ते स्तोमान् पशुपा इवाकरं, रास्वा पितर् मरुतां सुमनम् अस्मे ।
"	"	१४	भ्रद्रा हिते सुमतिर्मृलयत्तमाथा वयं अब इत्ते वृणीमहे ॥
"	"	१५	आ रे ते गोप्त्र मुत पुरुषन्तं, क्षयद्वीर सुमनं अस्मे ते अस्तु ।
"	"	१६	मूला च नो अथि च ब्रूहि देवाधा च नः शर्म यच्छ द्विबर्हा ॥
"	"	१७	अवोचाम नमो अस्मा अवस्यवः, शृणोतु नो हवं रुद्रो मरुत्वान् ।
"	"	१८	तन्मो मित्रो वस्णो मामहन्ताम्, अदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ॥

विश्वे देवा मंत्रः

,, १२२ १ प्र वः पान्तं रघुमन्यवोऽन्धो यज्ञं रुद्राय मीहृषे भरध्वम् ।

तीन केशियों का उल्लेखः

,, १६४ ४४ त्रयः केशिन ऋतुथा विचक्षते, संवत्सरे वपत एक एषाम् ।
विश्वम् एको अभिचष्टे शचीभि-प्रजिरेकस्य ददृशे न रूपम् ॥

अग्नि को रुद्र कहा गया है

२ १ ६ त्वम् अग्ने रुद्रो असुरो महो दिवस्त्वं शर्थो मास्तं पृष्ठ ईशिषे ।
त्वं वातैरस्यैर्यासि शंगयस्त्वं पूषा विघतः पासि नु त्मना ॥

रुद्र-सूक्त

,,	३३	१	आ ते पितर्मरुतां सुमनम् ऐतु, मानः सूर्यस्य संदशो युयोथाः । अभिनो वीरो अर्वति क्षमेत, प्र जाये महि रुद्र प्रजाभिः ॥
,,	"	२	त्वा दत्तेभि रुद्र शन्तमेभिः, शतं हिमा अशीय भेषजेभिः । व्यस्मद् द्वेषो वितरं व्यंहो, व्यमीवाश्चातयस्वा विषूचीः ॥
,,	"	३	श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियासि, तवस्तमस्तवसां बज्रवाहो । पर्विणः पारं अंहसः स्वस्ति, विश्वा अभीती रपसो युयोधि ॥
,,	"	४	मा त्वा रुद्र चुकुधामा नमोभिर्मा दुष्टुती वृषभ मा सहूती । उन्मो वीरान् अर्पय भेषजेभिर्भिषक्तमं त्वां भिषजां शृणोमि ॥

म०	सू०	मं०	
२	३३	५	हवीम् अभिर्वते यो हविभिरव, स्तोमेभी रुद्रं दिष्टीय ।
"	"	६	ऋदूदरः सुहवो मा नो अस्यै बग्नुः सुशिग्रो रीरघन्मनायै ॥
"	"	७	उन् मा ममन्द वृषभो मरुत्वान्, त्वक्षीयसा वयसा नाधमानम् ।
"	"	८	द्वृणीव छायामरपा अशीया विवासेयं रुद्रस्य सुम्नम् ॥
"	"	९	क्वस्य ते रुद्र मूलयाकुर्हस्तो, यो अस्ति भेषजो जलाषः ।
"	"	१०	अपभर्ता रपसो दैव्यस्याऽमी नु मा वृषभ चक्षमीथाः ॥
"	"	११	प्रवभ्रवे वृषभाय शिवतीचे, महो महीं सुष्टुतिमीरयामि ।
"	"	१२	नमस्या कल्मलीकिनं नमोभिर्गृणीमसी त्वेषं रुद्रस्य नाम ॥
"	"	१३	स्थिरेभिरङ्गैः पुरुष उग्रो बग्नुः शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः ।
"	"	१४	ईशानादस्य भुवनस्य भूरेन वा उ योषद् रुद्राद् असुर्यम् ॥
"	"	१५	अर्हन् विभर्ति सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम् ।
"	"	१६	अर्हन् इदं दयसे विश्वम् अर्घ्वं, न वा ओजियो रुद्र त्वदरित ॥
"	"	१७	स्तुहि श्रुतं गर्तं सदं युवानं, मृगं न भीमम् उपहलुम् उग्रम् ।
"	"	१८	मृला जरित्रे रुद्र स्तवानोऽन्यं ते अस्मन् निवपन्तु सेनाः ॥
"	"	१९	कुमारशिच्त् पितरं वन्दमानं, प्रतिनानाम रुद्रोपयन्तम् ।
"	"	२०	भूरे दातारं सत्पतिं गृणीषे, स्तुतस्वं भेषजा रास्यस्मे ॥
"	"	२१	या वो भेषजा मस्तः शुचीनि, या शंतमा वृषणो या मयोमु ।
"	"	२२	यानि मनुरवृणीता पिता नस्ता शं च योश्च रुद्रस्य वशिम ॥
"	"	२३	परि रणो हेती रुद्रस्य वृज्याः परित्वेषस्य दुर्मतिर्मही गात् ।
"	"	२४	अवस्थिरा मघवद्य त्वनुष्ठव, मीढवस्तोकाय तनयाय मृल ॥
"	"	२५	एवा बग्नो वृषभं चेकितान यथादेव न हृणीषे न हंसि ।
"	"	२६	हवनश्रुत्वा रुद्रे ह बोधि वृहद् वदेम विदये सुवीराः ॥

मस्तों के प्रति

" ३४ २ द्वावो नस्तुभिश्चितयन्त खादिनो, व्यभ्रिया न द्युतयन्त वृष्टयः ।
रुद्रो यद्वो मस्तो रुक्मवद्वासो, वृषाजनि पृश्न्याः शुक्र ऊधनि ॥

सविता के प्रति

" ३८ ६ न यस्येन्द्रो वरुणो न मित्रो, ब्रतम् अर्यमा न मिनन्ति रुद्रः ।
नारातयस्तम् इदं स्वस्ति, हुवे देवं सवितारं नमोभिः ।

अग्नि को रुद्र कहा गया है

३ २ ५ अग्निं सुम्नाय दधिरे पुरो जना, वाजश्रवसमिह वृक्तब्रह्मिः ।
यतसूचः सुरुचं विश्वेदेव्यं रुद्रं यज्ञानां साधद् इष्टिमपसाम् ॥

४ ३ ६ परिज्ञने नासत्याय क्षे ब्रवः कदम्ने रुद्राय वृच्ने ॥

म० स० म०

४ ३ ७ कथामहे पुण्ठिंभराय पूष्णो, कदुद्राय सुमखाय हविदेँ ।
कद् विष्णुव ऊरुगायाय रेतो, ब्रवकदम्ने शरवे वृहत्यै ॥

मित्रावरुण के प्रति

५ ४१ २ ते नो मित्रो वरुणो अर्यमायुरिन्द्र ऋभुक्षा मरुतो जुपन्त ।
नमोभिर्वा ये दधते सुवृक्तिं, स्तोमं रुद्राय मील्हुषे सजोपाः ।

रुद्र के प्रति

” ४२ ११ तमु षुहि यः स्विषुः सुधन्वा, यो विश्वस्य क्षयति भेषजस्य ।
यद्वामहे सौमनसाय रुद्रं नमोभिर्देवम् असुरं दुवस्य ।

” ४६ २ उभा नासत्या रुद्रो अधम्नाः, पूषा भगः सरस्वती जुपन्त ॥

स्वस्ति मंत्र

” ५१ १३ विश्वे देवा ना अद्या स्वस्तये, वश्वानरो वसुरग्निः स्वस्तये ।
देवा अवन्त्वृभवः स्वस्तये, स्वस्ति नो रुद्रः पात्वंहसः ।

रुद्र के प्रति

” ५२ १६ प्र ये मे बन्ध्वेषे गां वोचन्त सूरयः, पृश्नीं वोचन्त मातरम् ।
अद्या पितरम् इष्मिणं रुद्रं वोचन्त शिक्षपः ॥

स्वस्ति मंत्र

” ५६ ८ मिमातु द्यौरदितिर्वितये नः, सं दानुचित्रा उपसा यतन्ताम् ।
आचुच्यवुर्दिव्यं कोशमेत ऋषे रुद्रस्य मरुतो गृणानाः ॥

रुद्र के प्रति

” ७० ३ पातं नो रुद्रा पायुभिरुत त्रायेथां सुत्रात्रा । तुर्याम दस्यून् तनूभिः ॥

आपस् के प्रति

६ २८ ७ प्रजावतीः सूयवसं रिशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिवन्तीः ।
मा वः स्तेन ईशत माघशंसः परि वो हेती रुद्रस्य वृज्याः ॥

रुद्र के प्रति

” ४६ १० भुवनस्य पितरं गीर्भिराभि रुद्रं, दिवावर्धया रुद्रमक्तौ ।
बृहन्तम् ऋष्मजरं सुषुम्न मृधम्बुवेम कपिनेषितासः ॥

म० स० म०

सोमरौद्र सूक्त

- | | | | |
|---|----|---|---|
| ६ | ७४ | १ | सोमारुद्रा धारयेथाम् असुर्ये प्र वाम् इष्टयोऽरमश्नुवन्तु ।
दमेदमे सप्तरत्ना दधाना शं नो भूतं द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ |
| " | " | २ | सोमारुद्रा वि वृहतं विषूचीं, अभीवा या नो गयमाविवेश ।
आरे बाधेथां निर्मृतिं पराचै रस्मे भद्रा सौश्रवसानि सन्तु ॥ |
| " | " | ३ | सोमारुद्रा युवमेतान्यस्मे, विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तम् ।
अवस्यतं मुं चतं यन्नो अस्ति, तनूषु बद्धं कृतमेनो अरमत् ॥ |
| " | " | ४ | तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेषौ, सोमारुद्राविह सुमृलतं नः ।
प्र नो मुञ्चन्तं वरुणस्य पाशाद् गोपायतं नः सुमनस्यमाना ॥ |

अग्नि और रुद्र में भेद

- | | | | |
|---|----|---|---|
| ७ | १० | ४ | इदं नो अग्ने वसुभिः सजोषा, रुद्रं रुद्रे भिरावहा वृहन्तम् । |
|---|----|---|---|

ग्नाओं का उल्लेख

- | | | | |
|---|----|---|---|
| " | ३५ | ६ | शं नो रुद्रो रुद्र मिर्जलापः, शं नस्त्वप्ता ग्नाभिरिह शृणोतु । |
| | | | रुद्र के प्रति |
| " | ३६ | ५ | वि पृक्षो बावधे नृभिः स्तवान् इदं नमो स्द्राय प्रेष्ठम् । |
| " | ४० | ५ | अस्य देवस्य मीलहुपो वया, विष्णोरेषस्य प्रभृथे हविर्भिः ।
वि देहि रुद्रो रुद्रियं महित्वम्, यासिष्टं वर्तिरश्वनाविरावत् ॥ |

सह स्तुति

- | | | | |
|---|----|---|---|
| " | ४१ | १ | प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणरपतिं, प्रातः सोमसुत रुद्रं हुवेम । |
|---|----|---|---|

रुद्र-सूक्त

- | | | | |
|---|----|---|---|
| " | ४६ | १ | इमा रुद्राय स्थिरधन्वन्ते गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्वे ।
अषाल्हाय सहमानाय वेषसे, तिग्मायुधाय भरता शृणोतु नः । |
| " | " | २ | स हि क्षयेण क्षम्यरय जन्मनः, साम्राज्येन दिव्यस्य चेतति ।
अवज्ञवन्तीरुप नो दुरश्चरानमी वो रुद्र जासु नो भव ॥ |
| " | " | ३ | या ते दिव्युद्वसृष्टा दिवस्परि, इमया चरति परि सा वृणक्तु नः ।
सहस्रं ते स्वपिवात भेषजा, मा नस्तोकेषु तनयेषु रीरिषः ॥ |
| " | " | ४ | मा नो वधी रुद्र मा परा दा, मा ते भूम प्रसितौ हीलितस्य ।
आ नो भज वर्हिषि जीवशसे, यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ |

इन्द्र के प्रति

- | | | | |
|---|----|----|---|
| ८ | १३ | २० | तदिद् रुद्रस्य चेतति यहं प्रत्नेषु धामसु । मनो यत्रा वितद्दधु विचेतसः ॥ |
|---|----|----|---|

शैव मत

म० स० म०

मुनिसखा इन्द्र

८ १७ १४ वास्तोस्पते ग्रुवा स्थूणाऽसत्रं सोम्यानाम् ।
द्रप्सो भेत्ता पुरां शश्वतीनाम्, इन्द्रो मुनीनां सखा ॥

रुद्र के प्रति

१० ६४ ८ कृशानुमस्तून तिष्यं सधस्थ आ रुद्रं रुद्रेषु रुद्रियं हयामहे ॥
रुद्रो रुद्रे भिर्देवो मूलयाति न स्तवष्टा नो भाभिः सुविताय जिन्वतु ॥
,, ६६ ३ प्र रुद्रेण यथिना यन्ति सिन्वत् रितरो महीमरमर्ति दधन्विरे ।
,, ६२ ५
,, ६३ ४ कदुद्रो नृणां स्तुतो मरुतः पूषणो भगः ।

वाक् सूक्त में रुद्र का उल्लेख

” १२५ ६ अहं रुद्राय धनुरातनोमि, ब्रह्मद्विने शरवे हन्तवा उ ।

रुद्र और अग्नि में भेद

” १२६ ५ उं रुद्रं मरुद्धी रुद्रं हुवेमन्द्रम् अग्निं स्वतये अति द्विपः ।

रुद्र और केशी

” १३६ १ केश्यमिन् केशी विषं केशी विभर्ति रोदसी ।
केशी विश्वं स्वर्वशो केशीदं ज्योतिश्चयते ॥
” ” २ सुनयो वात रशानः पिशङ्गा वसते मला ।
वातस्यानुप्राञ्जि यन्ति यदेवासो अविकृत ॥
” ” ३ उन्मदिता मौनेयेन वातामातधिथमा वयम् ।
शरीरेदस्माकं यूं मर्तासो अभिपश्यथ ॥
” ” ४ अन्तरिक्षेण पतति विश्वारूपावच्चाकशत् ।
भुनिदेवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः ॥
” ” ५ वातस्याश्वो वायोः सखाऽथो देवेषितो मुनिः ।
उभौ समुद्रावाक्षेति यश्च पूर्वं उतापरः ॥
” ” ६ अप्सरसां गन्धर्वाणां मृगाणां चरणे चरन् ।
केशी केतस्य विद्रान् सखा स्वादुर्मदिन्तमः ॥
” ” ७ वायुरस्मा उपामन्थत्, पिनष्टि स्मा कुनञ्चमा ।
केशी विषस्य पात्रेण यदुद्रेणापिवत् सह ॥

रुद्र के प्रति

” १६६ १ मयोभुवर्तो अभिवातसा, ऊर्जस्वती रोषधीरारिषन्ताम् ।
पीवस्वतीर्जीवधन्याः पिवन्त्ववसाय पद्मते रुद्र मूल ॥

अथर्ववेद में रुद्र-सम्बन्धी सूक्त और मंत्र

काण्ड सूक्त मंत्र

रुद्र के प्रति

- | | | | |
|---|----|---|---|
| १ | १६ | ३ | यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्ठयो यो अस्मा अभिदासति ।
रुद्रः शरव्ययैतान् ममामित्रान् वि विध्यतु । |
| २ | २७ | ६ | रुद्र जलाप भेषज नीलशिखरण्ड कर्मकृत ।
ग्राशं प्रतिग्राशो जह्वरसान् कृषबोधे ॥ |

पशुपति रुद्र

- | | | | |
|----|----|---|--|
| ,, | ३४ | १ | य ईशो पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् ।
निष्क्रीतिः स यज्ञियं भागमेतु रायस्योपा यजमानं सचन्तात् ॥ |
|----|----|---|--|

सह-स्तुति

- | | | | |
|---|----|---|--|
| ३ | १६ | १ | प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे, प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्वना ।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्ति प्रातः सोममुत रुद्रं हवामहे ॥ |
|---|----|---|--|

रुद्र के प्रति

- | | | | |
|---|----|---|---|
| ३ | २२ | २ | मित्रश्च वरुणश्चेन्द्रो रुद्रश्च चेततु ।
देवासो विश्वधायसर्ते माङ्गन्तु वर्चसा ॥ |
| ४ | २१ | ७ | परिवो रुद्रस्य हेतिवृणक्तु । |

भव और शर्व का उल्लेख

- | | | | |
|----|----|---|---|
| ,, | २८ | १ | भवाशवौ मन्वे वां तस्य वित्तं ययोर्वामिदं प्रदिशि यद् विरोचते ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुचन्तमंहसः ॥ |
| ,, | ,, | २ | ययोरम्यध उत यद्गूरे चिद् यौ विदिताविषु भृतामसिष्ठौ ।
यावस्येशाथे……इत्यादि । |

वाक्सूक्त

- | | | | |
|----|----|---|--|
| ,, | ३० | १ | अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः । |
| ,, | ,, | ५ | अहं रुद्राय धनुरातनोमि, ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ । |

मरुतिपता और पशुपति रुद्र

- | | | | |
|---|----|----|--|
| ५ | २४ | १२ | मरुतां पिता पशूनामधिपतिः स मावतु । |
| ६ | २० | २ | सह-स्तुति
नमो रुद्राय नमो अस्तु तक्षमने नमो राजे वरुणाय त्विषीमते । |

का० सू० मं०
६ ३२ २

पिशाचहन्ता रुद्र
रुद्रो वो ग्रीवा अशरैत् पिशाचाः पृष्ठीर्वोऽपि शृणात् यातुधानाः ।
बीरुद् वो विश्वतो वीर्या यमेन समजीगमत् ॥

ओषधि के प्रति

” ४४ ३
रुद्रस्य मूत्रमस्यमृतस्य नामिः ।
विषाणुका नाम वा असि पितृणां मूलादुक्षिता वातीकृतनाशनी ॥

रुद्र का भेषज

” ५७ १
इदमिद् वा उ भेषजमिदं रुद्रस्य भेषजम् ।
येनेषुमेकतेजनांशतशल्यामपब्रवत् ॥

रुद्र का आतंक

” ५८ ३
विश्वरूपां सुभगाम् अच्छावदामि जीवलाम् ।
सा नो रुद्रस्याख्यतां हैर्ति दूरं नयतु गोभ्यः ।

सहस्रुति

” ६८ १
आदित्या रुद्रा वसव उन्दन्तु सचेतसः सोमस्य राजो वपत प्रचेतसः ।

रुद्र सूक्त

” ६० १
यां ते रुद्र इषुमास्यदङ्गे भ्यो हृदयाय च ।
इदं तामय लद् वर्यं विषूचीं वि वृहामसि ॥
” ” २
यास्ते शतं धमनयोऽङ्गान्यनु विष्ठिताः ।
तासां ते सर्वासां वर्यं निर्विष्ठाणि हृदयामसि ॥
” ” ३
नमस्ते रुद्रास्यते नमः प्रतिहितायै ।
नमो विसृज्य मानायै नमो निपतितायै ॥

नीलशिखएड रुद्र

” ६३ १
यमो मृत्युरघमारो निर्दृश्यो वभ्रुः शबोऽस्ता नीलशिखएडः ।

शर्व और भव

” ” २
मनसा होमैर्हरसा धृतेन शर्वायास्त्र उत राजे भवाय ।
नमस्येभ्यो नम एभ्यः कृष्णोभ्यन्यत्रास्मदधविषा नयन्तु ॥

अश्विनी सूक्त

” १४१ १
वायुरेनाः समाकरत् त्वष्टा पोषाय त्रियताम् ।
इन्द्र आभ्यो अधिब्रवद् रुद्रो भूमे चिकित्सतु ॥

का० सू० मं०

आग्नी सूत्र

७ ७५ १ प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रणाणे पिबन्तीः ।
मा वस्तेन ईशत माघशंसः परिवो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु ॥

रुद्र और अग्नि का तादात्म्य

७ ८७ १ यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्वर्तर्य ओषधीर्विरुद्ध आविवेश ।
य इमा विश्वा भुवनानि चाकलृपि तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये ॥

अग्नि के प्रति

८ ३ ५ यत्रेदानीं पश्यसि जातवेदस्तिष्ठन्त मग्न उत वा चरन्तम् ।
उतान्तरिक्षे पतन्तं यातुधानं तमस्ता विद्य शर्वा शिशानः ॥

मणि-मंत्र

,, ५ १० अस्मै मणिं वर्मं वधनन्तु देवा इन्द्रो विष्णुः सविता रुद्रो अग्निः ॥
प्रजापतिः परमेष्ठी विराङ् वैश्वानर ऋषयश्च सर्वे ॥

भव और शर्व

,, ८ १७ धर्मः समिद्धो अग्निनायं होमः सहस्रहः ।
भवश्च पृश्निवाहुश्चर्शर्व सेनाममूः हतम् ॥
,, „ १८ मृत्योराधमा पद्यन्तां कुर्वं सेदिं वर्वं भयम् ।
इन्द्रश्चाक्तु जालाभ्यां शर्वं सेनाममूः हतम् ॥

महादेव

६ ७ ७ मित्रश्च वरुणश्चासौ त्वाटा चार्यमा च दोषणी महादेवा बाहू ।

भव और शर्व

१० १ २३ भवाशर्वावस्य पापकृते कृत्याकृते । दुष्कृते विद्युतं देवहेतिम् ॥

विविध नाम रुद्र

११ २ १ भवाशर्वौ मृडतं माभि यातं भूतपती पशुपती नमोवाम् ।
प्रतिहितामायतां मावि स्थाष्टं मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः ॥
,, „ २ महिकास्ते पशुपते वयासि ते विश्वसे मा विदन्त ।
,, „ ३ कन्दाय ते प्राणाय याश्च ते भव रोपयः ।
नमस्ते रुद्र कृणमः सहस्राक्षायामत्य ॥

- का० स० म०
 ११ २ ५ मुखाय ते पशुपते यानि चक्रंषि ते भव ।
 त्वचे रूपाय संदृशे प्रतीचीनाय ते नमः ॥
 „ „ ७ अस्त्रा नीलशिखएडेन सहस्राक्षेण वाजिना ।
 रुद्रेणार्थकथातिना तेन मा समरामहि ॥
 „ „ ८ चतुर्नमो अष्टकुलो भवाय दशकृत्वः पशुपते नमस्ते ।
 तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वा पुरुषा अजावयः ॥
 „ „ १० तव चतुर्स्थः प्रदिशस्तव योस्तव पृथिवी तवेदमुग्रोर्वन्तरिक्षम् ।
 तवेदं सर्वात्मन् वद् यत् प्राणत् पृथिवीमनु ॥
 „ „ ११ उहः कोशो वसुधानस्तवायं यस्मिन्निमा विश्वा भुवनान्यन्तः ।
 स नो मृड पशुपते नमस्ते परः क्रोष्टारो अभिभाः श्वानः परो
 यन्त्रघस्तो विकेश्यः ॥
 „ „ १२ धनुर्विभिं हरितं हिरण्ययं सहस्रनिं शतवधं शिखएडनम् ।
 रुद्रस्येषु श्ररति देवहेतिस्तस्यै नमो यतमस्यां दिशीतः ॥
 „ „ १४ भवारुद्वौ सयुजा संविदानानु भावुग्रौ चरतो वीर्याय ।
 ताम्यां नमो यतमस्यां दिशीतः ॥
 „ „ १६ श्यावाश्वं कृष्णमणितं मृणन्तं भीमं रथं केशिनः पादयन्तम् ।
 पूर्वे प्रतीमो नमो अस्त्वस्मै ॥
 „ „ १८ मानोऽभिल्ला मत्यं देवहेति मानः कुधः पशुपते नमस्ते ।
 अन्यत्रास्मद् दिव्यां शाखां वि धूनु ॥
 „ „ २१ मा नो गोषु पुरुषेषु मा गृधो नो अजाविषु ।
 अन्यत्रोग्र वि वर्तय पियारुणां प्रजां जहि ॥
 „ „ २२ यस्य तक्मा कासिका हेतिरेकमश्वस्येव वृषणः कन्द एति ।
 अभिपूर्वं निर्णयते नमो अस्त्वस्मै ॥
 „ „ २३ योऽन्तरिक्षे तिष्ठति विष्टभितोऽयज्वनः प्रमृणन् देवपीयून् ।
 तस्मै नमो दशभिः शक्तरीभिः ॥
 „ „ २४ तुम्यमारेण्याः पशवो मृगा वने हिता हंसाः सुपर्णा शकुना वयासि ।
 तव यक्षं पशुपते अस्वन्तस्तुभ्यं क्षरन्ति दिव्या आपो वृषे ॥
 „ „ २५ शिशुमारा अजगरा: पुरीक्या जषा मत्स्या रजसा येम्यो अस्यसि ।
 न ते दूरं न परिष्ठास्ति ते भव सद्यः सर्वान् ।
 परिपश्यसि भूमि पूर्वस्माद्दं स्युत्तरस्मिन् समुद्रे ॥
 „ „ २७ भवो दिवो भव इशे पृथिव्या भव आ पप उर्वन्तरिक्षम् ।
 तस्मै नमो यतमस्यां दिशीतः ॥
 „ „ २८ भव राजन् यजमानाय मृड पश्तां हि पसुपतिर्बमूथ ।
 यः श्रद्धाति सन्ति देवा इति चतुर्ष्पदे द्विपदेऽस्य मृड ॥

का० सू० मं०

११ २ ३० रुद्रस्यैलवकारेभ्योऽसंसूक्तगिलेभ्यः । इदं महासेभ्यः स्वभ्यो अकरं नमः ॥
” ” ३१ नमस्ते घोषणीभ्यो नमस्ते केशिनीभ्यः ।
नमो नमस्कृताभ्यो नमः सम्भुजन्तीभ्यः ॥

भव और शब्द

” ६ ६ भवाशर्वाविदं ब्रूमो रुदं पशुपतिश्चयः ।
इष्ठूर्या एषां संविच्च ता नः सन्तु सदा शिवाः ॥

रुद्राः

१२ २ ६ पुनस्त्वादित्या रुद्रा वसवः पुनर्ब्रह्मा वसुनीतिरमे ।
पुनस्त्वा ब्रह्मण्यपतिराधाद् दीर्घयुत्वाय शतशारदाय ॥
” ” ४७ तेषाप हत शरुमापतन्त तेन रुद्रस्य परिपातास्ताम् ।

भव और शर्व

” ४ १७ य एनामवशामाह देवानां निहितं निर्धि ।
उभौ तस्मै भवाशर्वौ परिक्रम्येषुमस्यतः ॥

रुद्र की हेति

” ” ५२ ये गोपतिं पराणीयाथाहुर्मा ददा इति । रुद्रस्यास्तां ते हेति
परियन्त्यचित्या ॥

अङ्ग्यात्म

१३ २ २ रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः ॥
” ४ ४ सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ।
” ” २६ स रुद्रो वसुवनिर्वसुदेये नमोवाके वषट्कारोऽनुसंहितः ॥
” ” २७ तस्येमे सर्वे यातव उप प्रशिष्मासते ॥
” ” २८ तस्यामू सर्वा नक्षत्रा वशे चन्द्रमसा सह ॥

त्रात्यसूक्त

१५ १ १ त्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापर्ति समैरयत् ।
” ” २ सः प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्पश्यत् तत् प्राजनयत् ।
” ” ३ तदेकमभवत् तल्ललामभवत् तन्महदभवत् तज्ज्येष्टमभवत् तद्
ब्रह्माभवत् तत् तपोऽभवत् तत् सत्यमभवत् तेन प्राजायत ।
” ” ४ सोऽवर्धत स महानभवत् स महादेवोऽभवत् ।
” ” ५ स देवानामीशां पयैत् स ईशानोऽभवत् ।

का०	सू०	मं०	
१५	१	६	स एक व्रात्योऽभवत् स धनुरादत्त तदेवेन्द्र धनुः ।
" "	"	७	नीलमस्योदरं लोहितं पृष्ठम् ।
" "	"	८	नीलेनैवाप्रियं भ्रातृव्यं प्रोणोति लोहितेन द्विष्टन्तं विघ्यतीति ब्रह्मवादिनो वदन्ति ।
"	२	५	श्रद्धा पुः श्चली मित्रो मागधो विज्ञानं वासोऽहस्तीषं रात्री केशा हरितौ प्रवत्तौ कल्पलिर्मणिः ।
" "	"	६	भूतं च भविष्यच्च परिष्कन्दौ मनो विषथम् ।
" "	५	१	तस्मै प्राच्या दिशो अन्तर्देशाद् भवमिष्वास मनुष्ठातारमकुर्वन् ।
" "	"	२	भव एनमिष्वासः प्राच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु तिष्ठति नैनं शर्वो न भवोनेशानः ॥
" "	"	३	नास्य पश्यत् न समानान् हिनस्ति य एवं वेद ।
" "	"	४	तस्मै दक्षिणाया दिशो अन्तर्देशाच्छर्वमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ।
" "	"	५	शर्वं एनमिष्वासो दक्षिणाया दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः—इत्यादि ।
" "	"	६	तस्मै प्रतीच्या दिशो अन्तर्देशात् पशुपतिमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ।
" "	"	७	पशुपतिरेनमिष्वासः प्रतीच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः—इत्यादि ।
" "	"	८	तस्मा उदीच्या दिशो अन्तर्देशादुग्रं देवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ।
" "	"	९	उग्र एनं देव इष्वास उदीच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु तिष्ठति । नैनं शर्वो न भवो नेशानः—इत्यादि ।
" "	"	१०	तस्मै ध्रुवाया दिशो अन्तर्देशाद् रुद्रमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ।
" "	"	११	रुद्र एनमिष्वासो ध्रुवाया दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः—इत्यादि ।
" "	"	१२	तस्मा ऊर्ध्वायादिशो अन्तर्देशान्महादेवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ।
" "	"	१३	महादेव एनमिष्वास ऊर्ध्वाया दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु तिष्ठति । नैनं शर्वो न भवो नेशानः—इत्यादि ।
" "	"	१४	तस्मै सर्वेभ्यो अन्तर्देशैभ्यं ईशानमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ।
" "	"	१५	ईशान् एनमिष्वासः सर्वेभ्यो अन्तर्देशैभ्योऽनुष्ठातानु तिष्ठति । नैनं शर्वो न भवो नेशानः ।
" "	"	१६	नास्य पश्यत् न समानान् हिनस्ति य एवं वेद ।
"	१४	११	स यत् पश्यनुव्यचलद् रुद्रो भूत्वानुव्यचलदोषधीरन्नादीः कृत्वा ।
" "	"	१२	ओषधीभिरन्नादीभिरन्नमति य एवं वेद ।
" "	"	१६	स यद् देवाननुव्यचलदीशानो भूत्वानुव्यचलन्मन्युमन्नादं कृत्वा ।
" "	"	२०	मन्युनान्नादेनान्नमति य एवं वेद ।

का० सू० मं०

रुद्र के प्रति

१८ १ ४० स्तुहि श्रुतं गर्तसदं जनानां राजानं भीममुपहत्नुमुग्रम् ।
मृडा जरित्रे रुद्र स्तवानो अन्यमस्मत् ते निवपन्तु सेन्यम् ॥

शान्ति मंत्र

१८ ६ १० शं नो मृत्युधूमकेतुः शं रुद्रास्तिगमतेजसः ।
,, ११ ४ आदित्या रुद्रा वसवो जुषन्तामिदं ब्रह्म क्रियमाणं नवीयः ।

सोमारुद्र मंत्र

,, १८ ३ सोमं ते रुद्रवन्तमृच्छन्तु ।
ये माधायवो दक्षिणाया दिशोऽभिदासात् ॥

पशुपति रूप में अग्नि

,, ३१ २ यो नो अग्निर्गाहपत्यः पश्चनामधिपा अस्त् ।
आौदुम्बुरो वृषा मणिः स मा सज्जतु पुष्ट्या ॥

अन्नपति रुद्र (अग्नि)

,, ५५ ५ अन्नादायान्नपतये रुद्राय नमोऽग्नये ।

यजुर्वेद में रुद्र-सम्बन्धी सूक्त और मंत्र

तैत्तिरीय संहिता (कष्ण यजुर्वेद)

रुद्र की हेति

१ १ १ मा वः स्तेन ईशत् माऽधरांसो रुद्रस्य हेतिः परिणो वृणक्तु ब्रुवा
अस्मिन् गोपतौ स्यात् बहीर्यजमानस्य पश्चत् पाहि ।

रुद्र का सूर्य से सम्बन्ध

,, २ ४ रुद्रस्त्वाऽवर्तयतु मित्रस्य पथा ।
अग्नि और रुद्र का तादात्म्य

,, ५ १ देवासुराः सयंता आसन्ते देवा विजयमुपयन्तोऽग्नौ वामं वसु संन्यदध-
तेद्वसु नो भविष्यति यदि नो जेष्यन्तीति । तदग्निर्न्यकामयत तेना
पाकामत् तदेवा विजित्यावरुत्समाना अन्वायन् तदस्य सहस्राऽ
दित्सन्त, सोऽरोदीवदरोदीत्तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् ।

काण्ड सूक्त मंत्र

,, ८ ६

ऋग्वक होम

पश्नां शर्मासि शर्म यजमानस्य शर्म मे यच्छक एव रुद्रो न
द्वितीयाय तस्थ । आखुरते रुद्र पशुस्तं जुषस्वैष ते
रुद्र भागः सह स्वस्ता अम्बिकया तं जुषस्व । भेषजं गवेऽश्वाय
पुरुषाय भेषजम् अथो अस्मभ्यं भेषजं सुभेषजं यथाऽसति । सुर्ग
मेषाय मेष्या । अवाम्ब रुद्रं अदि महाव-देवं ऋग्वकम् इति । ऋग्वकं
यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् । उर्वारुकमिव वन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय
माऽमृतात् इति । एष ते रुद्र भागस्तं जुषस्व तेनावसेन परो मूजवतो-
ऽति । अवतद् धन्वा पिनाकहस्तः कृत्तिवासाः ॥

सोमारौद्र चरु

२ २ १०

असावादित्यो न व्यरोचत तस्मै देवाः प्रायशिच्चिमैच्छन्तस्मा एतं
सौमारौद्रं चरुं निरवपन् ॥ १ ॥ यो ब्रह्मवर्चसकामः स्यात् तस्मा एतं
सौमारौद्रं चरुं निर्वपेत् ॥ २ ॥ तिष्यापूर्णमासे निर्वपेद् रुद्रो वै तिष्यः
३ ४ ५ ६ १ (देखो वाजसनेयि संहिता, अध्याय १६)
सौमारौद्रं चरुं निर्वपेत् प्रजाकामः सोमो वै रेतोधा अग्निः
प्रजानां प्रजनयिता ॥ ३ ॥ सौमारौद्रं चरुं निर्वपेदभिचरन् ॥ ४ ॥

शतरुद्रिय सूक्त

४ ५ १

अध्याय मंत्र

वाजसनेयी संहिता

३ ५७-६०

(देखो तैत्तिरीय संहिता 'ऋग्वक होम')

६१

अवतदधन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासा अहिं सन्नः शिवोऽतीहि ।

,, ६२

ऋग्यायुषं जमदग्ने कश्यपश्य ऋग्यायुषम् ।

यदेवेषु ऋग्यायुषं तन्नोस्तु ऋग्यायुषम् ॥

,, ६३

शिवोनामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्तेऽस्तु मा मा हिंसीः ।

निर्वतयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय ।

८ ५८

विश्वेदेवाश्चमसेषूनीतोऽसुरोंमायोद्यतो रुद्रो हूयमानो वातोऽभ्यावृतो
नृचक्षाः प्रतिख्यातो भक्षो भद्र्यमाणः पितरो नाराशंसाः ।

६ ३६

बृहस्पतिवाँच इन्द्रो ज्येष्ठश्याय रुद्रः पशुभ्यो मित्रः सत्यो वस्त्रणे
धर्मपतीनाम् ।

१० २०

रुद्र यत्ते कविः परं नाम तस्मिन् हुतमस्यमेष्टमसि स्वाहा ।

११ १५

प्रतूर्वन्नेह्यवक्रामन्नमशस्ती रुद्रस्य गाणपत्यं मयोभुरेहि ।

कावड सूक मंत्र

१६ १ ६६

शतरुद्रिय सूक्त

- नमस्ते रुद्र मान्यदउतो ताइषवे नमः । बाहुभ्यामुत ते नमः । १
या ते रुद्र शिवा तनूरघोरापापकाशिनी ।
तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभि चाकशीह । २
यामिषुं गिरिशन्त हस्ते विभर्ष्यस्तवे ।
शिवां गिरिश तां कुरु मा हिसीः पुरुषं जगत् । ३
शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छावदामसि ।
यथा नः सर्वा इज्जनः संगमे सुमनाऽत्रसत् । ४
अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिपक् ।
अहिंश्च सर्वाञ्जम्यन्सवर्णश्च यातुधान्योऽधराचीः परासुव ५
असौ यस्ताम्नो अरुण उत बभ्रुः सुमंगलः ।
ये चेमेरुद्राभितो दिन्तु श्रिताः सहस्रशोऽवैषाठंहेदईमहे ६
असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः । उतैनं गोपाऽत्रदश्वन् -
तैनमुदहार्यः । स दृष्टो मृडयातु नः । ७
नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे ।
अथो ये अस्य सत्वान इदं तेभ्योऽकरं नमः । ८
प्रमुञ्च धन्वनस्त्वमुभयोरात्म्योर्ज्याम् ।
याश्च ते हस्ताइपवः परा ता भगवो वप । ९
विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवं उत ।
अनेशब्रस्य या इपव आभुरत्य निपद्मिथः । १०
या ते हेतिर्मिंदुष्टम शिवं बभ्रु ते धनुः ।
तयास्मान्विश्वतस्त्वमयद्दमया परिमुज ११
परि ते धन्वनो हेतिरस्मान्वृणकु विश्वतः ।
अथो य इषुधिस्तवारे अस्मन्निधेहि तम् । १२
अवतत्य धनुष्टवं सहस्राक्षं शतेषुषे ।
निशीर्य शल्यानाम्मुखं शिवो नः सुमना भव । १३
नमस्ता आयुधायानातताय धृष्णवे ।
उभाभ्यामुत ते नमो बाहुभ्यां तव धन्वने । १४
मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्तन्तमुत मान उक्तिम्
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तनुवो रुद्र रीरिषः । १५
मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः ।
मा नो वीरान् रुद्र भामितो वधीहिष्मन्तः सदभित् त्वा हवामहे । १६
नमो हिरण्यबाहवे सेनान्येदिशां च पतये नमो नमो वृक्षेभ्यो
हरिकेशेभ्यः पश्चनां पतये नमो नमः शस्त्रजराय त्विषीमते
पथीनां पतये नमो नमो हरिकेशायोपवीतिने पुष्टानां पतये नमः । १७

नमो बभ्लुशाय विव्याधिनेऽन्नानां पतये नमो नमो भवस्य हेत्यै जगता
पतये नमो नमो रुद्रायातताविने क्षेत्राणां पतये नमो नमः
सूर्याहन्त्याय वनानां पतये नमः । १८

नमो रोहिताय स्थपतये वृक्षाणां पतये नमो नमो भुवन्तये
वारिवस्कृतायौषधीनां पतये नमो नमो मन्त्रिणे वारिजाय कक्षाणां
पतये नमो नम उच्चैर्घोषायाकन्दयते पतीनां पतये नमः । १९

नमः कृत्स्नवीताय धावते सत्वानां पतये नमः नमः सहमानायनि-
व्याधिन आव्याधिनीनां पतये नमो नमो निषंगिणे ककुभाय
स्तेनानां पतये नमो नमो निचेरवे परिचरायारण्यानां पतये नमः । २०

नमो बङ्गते स्तायूनां पतये नमो नमो निषंगिणेऽइषुधिमते
तस्कराणां पतये नमो नमः सूकाविभ्यो जिघांसद्भ्यो मुष्ट्यांता पतये नमः ।
नमोऽसिमद्भ्यो नक्तं चरद्भ्यो विकृत्नानां पतये नमः । २१

नम उष्णीषिणे गिरिचराय कुलुञ्चानां पतये नमो नमऽइषुमद्भ्यो
धन्वाविभ्यश्च वो नमो नमऽआतन्वानेभ्यः प्रतिदधानेभ्यश्च वो
नम आयच्छद्भ्योऽस्यद्भ्यश्च वो नमः । २२

नमो विसृजद्भ्यो विघ्यद्भ्यश्च वो नमो नमः स्वपद्भ्यो जाग्रद-
भ्यश्च वो नमो नमः शयानेभ्य आसीनेभ्यश्च वो नमो नमस्ति-
ष्ठद्भ्यो धावद्भ्यश्च वो नमः । २३

नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च वो नमो नमोऽश्वेभ्योऽश्वपति-
भ्यश्च वो नमो नम आव्याधिनीभ्यो विविध्यन्तीभ्यश्च वो नमो
नम उगणाभ्यस्तुथं हतीभ्यश्च वो नमः । २४

नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमो नमो व्रातेभ्यो व्रातपति-
भ्यश्च वो नमो नमो गृह्णेभ्यो गृह्णपतिभ्यश्च वो नमो नमो
विस्तेष्यो विश्वरूपेभ्यश्च वो नमः । २५

नमः सेनाभ्यः सेनानिभ्यश्च वो नमो नमो रथिभ्यो अरथेभ्यश्च
वो नमो नमः क्षत्रभ्यः संग्रहीतृभ्यश्च वो नमो नमो महद्भ्यो
अर्भकेभ्यश्च वो नमः । २६

नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च
वो नमो नमो निषादेभ्यः पुञ्जिष्टेभ्यश्च वो नमो नमः श्वनिभ्या
मृगयुभ्यश्च वो नमः । २७

नमः स्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च वो नमो नमो भवाय च रुद्राय च
नमः शर्वाय च पशुपतये च नमो नीलश्रीवाय च शितिकंठाय च । २८

नमः कपर्दिने च व्युत्सकेशाय च नमः सहस्राक्षाय च शतधन्वने च
नमो गिरिशाय च शिपिविष्टाय च नमो मीढुष्टमाय चेषुमुते च । २९

नमो हस्त्राय च वामनाय च नमो बृहते च वर्षीयसे च नमो

बृद्धाय च संवृद्धने च नमो अग्नियाय च प्रथमाय च । ३०
 नमऽआशवे चाजिराय च नमः शीत्रियाय च शीभ्याय च
 नम ऊर्ध्वाय चावस्वन्याय च नमोनादेयाय च द्वीप्याय च । ३१
 नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च नमः पूर्वजाय चापरजाय च नमो
 मध्यमाय चापगल्भाय च नमो जघन्याय च बुधिन्याय च । ३२
 नमः सोभ्याय च प्रतिसर्थ्याय च नमो याम्याय च क्षेम्याय च नमः
 श्लोक्याय चावसान्याय च नम उर्वर्याय च खल्याय च । ३३
 नमो वन्याय च कद्याय च नमः श्रवाय च प्रतिश्रवाय च नम
 आशुपेणाय चासुरथाय च नमः शूराय चावभेदिने च । ३४
 नमो विलिमने च कवचिने च नमो वर्मिणे च वस्त्रिने च नमः
 श्रुताय च श्रुतसेनाय च नमो दुन्हुभ्याय चाहन्याय च । ३५
 नमो धृष्टणवे च प्रसृशाय च नमो निषंगिणे चेषुधिमते च नम-
 स्तीक्ष्णेषुपवे चायुधिने च नमः स्वायुधाय च सुधन्वने च । ३६
 नमः स्तुत्याय च पथ्याय च नमः काट्याय च नीप्याय च नमः
 सूद्याय च सरस्याय च नमो नादेयाय च वैशन्ताय च । ३७
 नमः कूप्याय चावट्याय च नमो ईशिवाय चातप्याय च नमो
 मेधाय च विद्युत्याय च नमो वर्ष्याय चावर्ष्याय । ३८
 नमो वात्याय च रेष्मियाय च नमो वास्तव्याय च वास्तुपाय च
 नमः सोमाय च रुद्राय च नमस्ताम्राय चारुणाय च । ३९
 नमः शङ्खाय च पशुपतये च नम उग्राय च भीमाय च नमोऽग्रे-
 वधाय च द्वौरेवधाय च नमो हन्त्रे च हनीयसे च नमो वृक्षेभ्यो
 हरिकेशेभ्यो नमस्ताराय । ४०
 नमः शम्भवे च मयोभवे च नमः शंकराय च मयस्कराय
 च नमः शिवाय च शिवतराय च । ४१
 नमः पार्याय चावार्याय च नमः प्रतरणाय च नमस्तीर्थ्याय
 च कूल्याय च नमः शष्प्याय च फेन्याय च । ४२
 नमः सिकत्याय च प्रवाह्याय च नमः किंशिलाय च क्षयणाय च
 नमः कपर्दिने च पुलस्तये च नमऽहरिण्याय च प्रपथ्याय च । ४३
 नमो व्रज्याय च गोष्ठ्याय च नमः स्तल्प्याय च गेह्याय च
 नमो हृद्याय च निवेष्याय च च नमः काट्याय च गह्वरेष्ठाय च ४४
 नमः सुष्क्याय च हरित्याय च नमः पार्थेसव्याय च रजस्याय
 च नमो लोप्याय चोलप्याय च नम ऊर्ध्वाय च सूम्याय च । ४५
 नमः पर्णाय च पर्णशश्याय च नमउपगुरमाणाय चाभिव्यते च
 नमऽआखिदते च प्रखिदते च नमऽइषुकृदभ्यो धनुष्कृदभ्यश्च
 वो नमो नमो वः किरकेभ्यो देवानार्थंहृदयेभ्यो नमो विचिन्व-

त्केम्यो नमो विक्षिणकेम्यो नमऽआनिर्हतेभ्यः ।	४६
द्रापेऽग्रन्थसस्यते दरिद्रबीललोहित ।	
आसां प्रजानामेषां पशूनां मा भेमारोमो च नः किं चनाभमत् । ४७	
इमां रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्रभरामहे मतीम्	
यथा नः शमसद्द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्नातुरम् । ४८	
या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाहभेषजी ।	
शिवा रुद्रस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे ।	४९
परि नो रुद्रस्य हेतिर्वृण्कु परिव्वेषस्य दुर्मतिरघायो ।	
अवस्थिरा मधवद्भ्यस्तनुष्व मीढवस्तोकाय तनयाय मृड ।	५०
मीढुष्टम शिवतम शिवो नः सुमना भव ।	
परमे वृक्षाश्रायुषं कृतिं वसान आचर पिनाकम्बिभ्रदा गहि । ५१	
विकिरिद विलोहित नमस्ते अस्तु भगवः ।	
यास्ते सहस्रंहेतयोऽन्यमस्मन्निवपन्तु ताः	५२
सहस्राणि सहस्रशो वाहौस्तव हेतयः ।	
तासामीशानो भगवः पराचीना मुखा कृषि ।	५३
अर्सख्याता सहस्राणि ये रुद्राऽधिभूम्याम् ।	
तेषाथंसहस्रयोजनेऽवधन्वानि तन्मसि	५४
अस्मिन् महत्यर्णवेन्तरिक्षे भवाअथि ।	
तेषाथंसहस्रयोजनेऽवधन्वानि तन्मसि ।	५५
नीलग्रीवाः शितिकंठा दिवाथंरुद्राऽउपश्रिताः ।	
तेषाथंसहस्रयोजनेऽवधन्वानि तन्मसि	५६
नीलग्रीवाः शितिकंठाः शर्वा अधःक्षमाचराः ।	
तेषाथंसहस्रयोजनेऽवधन्वानि तन्मसि ।	५७
ये वृक्षेषु शष्ठिज्जरा नीलग्रीवा विलोहिताः ।	
तेषाथंसहस्रयोजनेऽवधन्वानि तन्मसि ।	५८
ये भूतानामधिपतयो विशिखासः कपर्दिनः ।	
तेषाथंसहस्रयोजनेऽवधन्वानि तन्मसि	५९
ये पंथां पथिरक्षय ऐलवृदाऽ आयुर्युधः ।	
तेषाथंसहस्रयोजनेऽवधन्वानि तन्मसि	६०
ये तीर्थनि प्रचरन्ति सुकाहस्ता निषङ्गणः ।	
तेषाथंसहस्रयोजनेऽवधन्वानि तन्मसि	६१
यदएतावन्तश्च भूयाथंश्च दिशो रुद्रा वितस्थिरे ।	
तेषाथंसहस्रयोजनेऽवधन्वानि तन्मसि	६२
नमोऽस्तु रुद्रे भ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः ।	
तेष्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्धा ।	६३

तेभ्यो नमोऽश्वनु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च
नो द्वे ष्ठि तमेषां जम्भे दध्मः । ६४
नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे येषां वातऽइषवः ।
तेभ्यो दश प्राचीदश दक्षिणा दश प्रतीचीदशोदीचीदशोर्ध्वां ।
तेभ्यो नमोऽश्वनु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो
द्वे ष्ठि तमेषां जम्भे दध्मः । ६५
नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येषामन्नमिषवः ।
तेभ्यो दश प्राचीदश दक्षिणा दश प्रतीचीदशोदीचीदशोर्ध्वां ।
तेभ्यो नमोऽश्वनु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं यश्च नो
द्वे ष्ठि तमेषां जम्भे दध्मः ।

अध्याय मंत्र

१६ ८२ तदश्विना भिषजा रुद्रवर्तनी सरस्वती वयति पेशोऽन्तरम् ।

पशुपति रुद्र

२४ ३ रुद्राय पशुपतये कणार्यामाऽवलिसा रौद्रा नभोरूपा पार्जन्याः ।

रुद्र और गना

३३ ४८ उमा नासत्या रुद्रो अध ग्नाः पूषा भगः सरस्वती जुषन्त ।

रुद्रानुवर्ती अश्विनीकुमार

३३ ५८ द्रस्ता युवाकवः सुता नासत्या वृक्तवहिषः आयातं रुद्रवर्तनी ।

सहस्रुति

३४ ३४ प्रातर्भर्गं पूषगां ब्रह्मण्यत्यतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम ।

रुद्र का दौर्बल्य के साथ सम्बन्ध

३६ ६ उग्रं लोहितेन मित्रं सौत्रत्येन रुद्रं दौर्बल्येनेन्द्रं प्रकीडेने मरुतो
बलेन साध्यात् प्रमुदा । भवस्य कण्ठ्यं रुद्रास्यान्तः पाश्व्यं
महादेवस्य यकृच्छर्वस्य वनिष्ठुः पशुपतेः पुरीतत् ।

ब्राह्मण ग्रन्थों में रुद्र-सम्बन्धी संदर्भ

एतेरेय ब्राह्मण

काण्ड सूक्त मंत्र
३ १३ ६

प्रजापति के पातक की कथा
 प्रजापतिवै स्वां दुहितरं अभ्यधायद् दिवम् इत्यन्य आहुष्वसमित्यन्ये ।
 तामृश्यो भूत्वा रोहितां भूतामभ्यैत् । तं देवा अपश्यन्नकृतं वै
 प्रजापतिः करोतीति ते तमैच्छन् य एनादिष्ययेनमन्योन्यम् अस्मिन्न
 विन्दन्स्तेषां या एव धोरतमास्तन्व आसन्त्ता एकधा सम भरन्त्यताः
 संभूता एष देवोऽभवत् । तस्यैतद् भूतवन्नाम इति……तं देवा
 अबुवन् अयं वै प्रजापतिरकृतम् अकारीम् विश्येति । स तथेत्य-
 ब्रवीत् । स वै वरं वृणा इति वृणीष्वेति स एतमेव वरमवृणीति
 पश्नामधिपत्यं तदस्यैतत्पश्नमन्नाम……तान् वा एषो देवोऽभ्यवदत्
 मम वा इदं मम वै वास्तुहम् इति तमेत्यार्या निरवदन्त ।

नाभानेदिष्ठ की कथा

५ २२ ६

तं स्वर्यन्तो व्रुवन्नेतत् ते ब्राह्मण सहस्रम् इति तदेनं समाकुर्वेण
 पुरुषः कृष्णस्वाध्युत्तरत उपोत्यायाश्रावीन् मम वा इदं ममै वै
 वास्तुहम् इति……तं पिताब्रवीत् तस्यैव पुत्रक तत् तत् तु स तुम्यं
 दास्यतीति ।……

अध्याय मंत्र

२	२	द्विस्तीर्चिं सुचं उद्यच्छति रुद्रमेव तत् स्वायां दिशि प्रीत्वावसृजति तस्माद्बुगामानस्योत्तरतो न तिष्ठेत्……
३	४	नेद रुद्रेण यजमानस्य पश्नून् प्रवृहाजनीति स्वाहा……
३	६	अथो रुद्रो वै स्विष्टिकृद् अन्तभाग वा एष तस्माद् एनम् अन्ततो यजति……
५	५	इत्यथो यदुंचः परेत्य न्यम्बैश्चरति रुद्रमेव तत् स्वायां दिशि प्रीणन्ति……

कौशीतकि ब्राह्मण

६ १

रुद्र जन्म की कथा
 प्रजापतिः प्रजाकामस्तपोऽतप्यत । तस्मात् तसात् पंचाजायंत अग्निर्
 वायुर् आदित्यश्चन्द्रमा ऊषा पञ्चमी ।……ऊषाः प्राजापत्यायाप्सरो
 रुपं कृत्वा पुरस्तात् प्रत्युदैत् । तस्याम् एषां मनः समपतत् । ते रेतो-
 ऽसिङ्गन्त । ते प्रजापतिं पितरम् एत्याब्रुवन् रेतो वैऽसिङ्गचामह
 इदं नो मा अमुया भूद् इति । स प्रजापतिर्हिंणमयं चमसमकराद्

अध्याय मंत्र
६ १

इषुमातरमूर्वमेवं तियैच । तस्मिन् रेतः समासचत् । तत् उदति-
ष्टत् सहस्राक्षः सहस्रपात् सहस्रे एव प्रतिहिताभिः । स प्रजापतिं पितरम्
भ्ययच्छत् । तम् अब्रवीत् कथा माभ्ययच्छसीति । नाम मे
कुर्वात्यब्रवीन्वै इदम् अविहितेन नामान्तस्यामीति । स वै त्वम्
इत्यब्रवीद् भव एवेति यद् भवः आपः । तेन न ह वा एनं भवो
हिनस्ति नास्य प्रजां नास्य पशूनास्य ब्रुवाणं च न । अथ य एनं
द्वे इति स एव पापीयान् भवति । न स य एव वेद । तस्य व्रतं आ
इम् एव वासः परिधितेति……… स वै त्वम् इत्यब्रवीच्छर्व एवेति
यच्छर्वोऽग्निः……… तस्य व्रतं सर्वमेव नाशनीयद् इति………
स वै त्वमित्यब्रवीत् पशुपति रेवेति यत्पशुपतिर्वायुः……… तस्य व्रतं ब्राह्मणम्
एव न परिवेददिति………
स वै त्वमित्यब्रवीद् उग्र एव देव इति यदुग्रो देव ओषधयो वनरपतयः
तस्य व्रतं स्त्रिया एव विवरं नेत्रेतेति ।………
स वै त्वमित्यब्रवीन् महादेव इति । यन्महान् देव आदित्यः………
तस्य व्रतम् उदयन्तमेव नेत्रेतास्तमयन्तं चेति………
स वै त्वमित्यब्रवीद् रुद्र एवेति यदुद्रशचन्द्रमाः……… तस्य व्रतं
विमूर्तमेव नाशनीयान् मज्जनं चेति ।………
स वै त्वमित्यब्रवीद् ईशान एवेति यदीशानोऽन्नम्……… तस्य व्रतम्
आन्नमेवेच्छमानं न प्रत्याचक्षीति………
स वै त्वमित्यब्रवीद् अशनिरेवेति यदशनिरिन्द्रः……… तस्य व्रतं
सत्यमेव वदेद् हिरण्यं च विभ्रियाद् इति……… स एषाऽष्टना-
माष्ठविहितो महान् देवः ।

८ ४

अहन् विभिं सायकानि धन्वेति पौष्टीं च रौद्रीं चाभिरूपे अभिष्टौति
पौष्टीं चैव रौद्रं च स्वाहा कारावेताभ्यामनुवदति ।
२१ ३

पशून् पञ्चमेनाहान्पुवन्ति रुद्रं देवं देवतानां यशोऽधिभूतं वीर्यम्
आत्मन् दधते ।
२३ ३

पशून् पञ्चमेनाहान्पुवन्ति पंक्ति छन्दस्त्रियवं स्तोमं शकासामार्वाचीं
दिशं हैमन्तम् ऋतूनां मरुतो देवान् देवयजतं रुद्रमधिपतिम् ।

तैत्तिरीय ब्राह्मण

ऋग्म्बक हवि:

का० सू० मंत्र
१ ६ १०

प्रतिपूरुषम् एककपालं निर्वपति । जात एव प्रजा रुद्रान्निरवदयते ।
एकमातृकम् । जनिष्यमान एव प्रजा रुद्रान्निरवदयते । एककपालं

२०६

शैव मत

का० सू० मंत्र
१ ६ १०

भवन्ति । एकधैव रुद्रं निरवदयते । नाभिधारयति । यदभि
धारयेत् । अन्तरवचारिणं रुद्रं कुर्यात् । एकोल्मुकेन यान्ति ।
एषा वै रुद्रस्य दिक् । स्वयमेव दिशि रुद्रं निरवदयते । रुद्रो वा
अपशुकाया आदुत्यै नातिष्ठत् । असौ ते पशुरिति निर्दिशेद् यं
द्विष्यात् । यमेव हौषि तमस्मै पशुं निर्दिशति । यदि न द्विष्यात्,
आरबुत्ते पशुरिदि ब्रूयात् । न ग्राम्यान् पशून् हिनस्ति नारण्यान् ।
चतुष्पथे जुहोति……अन्तमेनैव होतव्यम् । अन्तत एव रुद्रं
निरवदयते । एष ते रुद्र भागः सह स्वसम्बिकयेत्याह । शरदास्या
म्बिका स्वसा । तथा वा एष हिनस्ति यं हिनस्ति । तथैवैनं सह
शमयति । भेषजं गव इत्याह । यावन्त एव ग्राम्याः पशवः ।
तेभ्यो भेषजं करोति । अवांम्ब रुद्रम् इदमित्याह । आशिप-
मेवैतस्माशास्ते । व्यम्बकं यजामह इत्याह । मृत्योर्मृतीया मामृता-
दिति वावैतदाह । उत्क्रन्ति भागस्य लिङ्मन्ते · · · · एष ते रुद्र
भाग इत्याह निरवत्यै । अप्रतीक्षा यान्ति । आपः परिविचन्ति
रुद्रस्यान्तहित्यैः । प्र वा अस्माल्लोकाच्च्यवन्ते । य व्यम्बकैश्चरति ।
आदित्यं चरुं पुनरेत्य निर्वप्ति । इयं वा अदितिः । अस्यामेव
प्रतितिष्ठन्ति ।

३ २ ५
३ ३ २

रुद्रस्य हेतिः परिणो वृणकित्वत्याह । रुद्रदेवैनास्त्रायते ।
यस्यैतान्यग्नौ परिहरन्ति । तस्मादेतान्यग्नावेव प्रहरेत् । यतर-
स्तस्मिन्समृज्यात् । पशूनां धृत्यै । यो भूतानामधिष्ठिः, रुद्रस्त-
तिचरो वृषा पशून् अस्माकं मा हिंसीः । एतदस्तु हुतं तव स्वाहेत्य-
विनसम्मार्जनान्यग्नौ प्रहरन्ति ।

३ ६ १७
३ ११ २

[यहाँ रुद्र और अग्नि का तादात्म्य प्रतीत होता है]
रौद्रं चहं निर्वपेत् । यदि महति देवताभिमन्येत । एतद् देवत्यो
वा अश्वहः । स्वयैवैनं देवत्याभिपञ्ज्यति ।
त्वमने रुद्रो असुरो महो दिवः । त्वं राधो मस्तां पृष्ठ ईशिषे ।

तलावकार ऋथवा जैमिनीय ब्राह्मण

अथवा मंत्र

१ १३३

रुद्र का पशुओं से साहचर्य

यदीशानम् इन्द्रेति प्रतिहरेद् · · · · ईशानो यजमानस्य पशूनाम्
अभिमानकः स्याद् · · · · नेशानो यजमानस्य पशून् अभिमन्यते
शान्ताः प्रजाः एधन्ते ।

स्तु जन्म की कथा

३ २६१-६३

तासु श्रायन्तीयम् । देवा वै, सत्रमुपयन्तोऽब्रुवन् यन्नः क्रूरम्
आत्मनस्तन्निर्मिमामहै, मा सक्रूरा उपगमामेति । तद्यदेषां क्रूरम्
आत्मन आसीत् तौ निर्माय शरावयोः सम्मार्जं न्यदधुः । अतः
सत्र मुपायन्तरत एषोऽखलो देवोऽजायत तद्यच्छर्वाभ्याम् अजायत
तस्यैतन्नामैष हा वाव सोऽभिन्नज्ञे । न हैनम् एष हिनरित य
एनं वेद । स देवानब्रवीत् । कर्मै मामजीन्त्येत्यौपहृष्यायेत्यब्रुवन् ।
योऽतिपादयात् तं हनासा इति । प्रजापतिहौपसं स्वां दुहितरम् अस्य-
धायत् । स हताम् अस्यायत्यविध्यत् । ततः स एतद्रूपं
पर्यस्योर्ध्वं उदक्रामत् । स एष इषु त्रिकारणस्तमात् पृष्ठों
स्वादुतमः……..।

तारण्ड्य अथवा पञ्चविंश ब्राह्मण

६ ६ ७-६

यां समां महादेवः पशून् हन्यात् स नः पवस्य संगव इति चतुष्पदे
मेषजं करोति……विवेण वा तां समाम् ओषधयोक्ता भवन्ति यां
समां महादेवः पशून् हन्ति यच्छ्रुं राजन्नोपधीभ्य इत्याहौषधीरेवस्मै
स्वदयति ।

७ ६ १६-१८

देवा वै पशून् व्यभजन्त ते स्त्रमन्तरायन्तान् वामदेवस्य स्तोत्र
उपेक्षते……यन्निराह स्त्राय पशूनमि दधाति स्त्रस्तां सर्मा पशून्
धातुको भवन्ति ।

शतपथ ब्राह्मण

१ ७ ३ १-८

यज्ञेन वै देवाः । दिवमुपोदकामाननथायोऽयं देवः पशूनामभीष्टे
स इहाहियत तस्माद् वास्तव्य इत्याहुवास्तौ हि तद् अहीयत्……
सोऽनु चक्राम स आयतयोत्तरत उपोत्पेदे । स एष स्विष्टकृतः कालः ।
तद्वा अग्नय इति क्रियते । अभिनवैं स देवस्तस्येतानि नामानि शब्द
इति यथा प्राच्या आचक्षते भव इति यथा बाहीकाः । पशूनां पति
स्त्रोऽभिनरिति तानस्याशान्तान्येवेतरातराणि नामान्यभिनरित्येव शान्त-
तमं तस्माद् अग्नय इत् क्रियते स्विष्टकृत इति ।

गवेधुक होम

५ ३ १ १०

अथ श्वो भूते अक्षावपास्य च गृहेभ्यो गोविकर्तस्य च गवेधुकाः
संभृत्य सूयमानस्य गृहे रौद्रं गवेधुकं चर्वं निर्वपति । ते वा ऐते द्वे
सति रत्ने एकं करोति संपदः कामाय तद् यद् एतेनं यजते यां वा
इमां सभायां धन्ति स्त्रो हैतां अभिमन्यतेऽभिनवैं स्त्रो……।

५ ३ ३ ७

अथ रुद्राय पशुपतये रौद्रं गवेधुकं चर्हं निर्वपति । तदेनं रुद्र
एव पशुपतिः पशुन्यः सुवत्यथ यद् गवेधुको भवति वास्तव्यो
वा एष देवो वास्तव्या गवेधुकास्तस्माद् गवेधुको भवति ।
ब्रह्मनित्येव चतुर्यम् आमंत्रयते त्वं ब्रह्मासीतीतरः प्रत्यौह रुद्रोऽसि
सुवेव इति तद्वीर्यान्येवास्मिन्नेतत् पूर्वाणि दधात्ययैनम् एतच्छमयत्येत
तस्माद् एष सर्वस्थेशानो मृडयति यदेनं शमयति ।

रुद्र जन्म की कथा

६ १ ३ १८

प्रजापतिर्वा इदमग्रे आसीत् । एक एव सोऽकामयत स्यां प्रजायेयेति ।
सोऽशाम्यत स तथोऽतप्यत तस्माद्...आपोऽसृजन्त...आपोऽब्रुवन्
क्ष वयंभवामेति । तप्यध्वमित्यंब्रवीत्...ताः फेनमसृजन्त । फेनोऽब्रवीत्
काहं भवानीति.....स मृदमसृजत.....मृद् अब्रवीत् काहं
भवानीति.....स सिकता असृजत.....सिकताभ्यः शर्क-
रामसृज्यत शर्कराया अशमानम्...अशमनोऽयस्.....तद् यदसृजता
क्षरत् । यदष्टौ कृत्वोऽक्षरत् सैवाष्टाक्षरा गायत्र्यभवत् । अभूद्वा
इयं प्रतिष्ठेति । तद्भूमिरभवत् तामप्रथयत् । सा पृथिव्यभवत् ।
तस्यामस्यां प्रतिष्ठायां भूतानि भूतानां च पतिः । संवत्सरायादीक्षन्त
भूतानां पति गृहपतिरासीद् उषाः पल्ली । तद् यानि तानि
भूतानि ऋतवस्तेऽथ यः स भूतानः पतिः संवत्सरः सोऽथ यः सोषाः
पत्न्यौषसि स तानीमानि भूतानि भूतानां च पतिः संवत्सर उषसि
रेतोऽसिचन्त्स संवत्सरे कुमारोऽजायत सोऽरोदीत् । तं प्रजापतिर्
अब्रवीत् । कुमार किं रोदिषि.....सोऽब्रवीद् अनपहतपाप्म
वास्यहितनामा नाम मे देहीति तस्मात् पुत्रस्य जातस्य नाम
कुर्यात् ।.....तमब्रीवद् रुद्रोऽसीति । तद् यदस्य तन्नामाकरोद्
अग्निस्तद्रूपमभवद् अग्निर्वैरुद्रो यदरोदीत् तस्माद्रुद्रः.....तमब्रवीत्
शर्वोऽसीति । तद् यदस्य तन्नामाकरोद् आपस्तद्रूपम् अभवन्नापौ
वै शर्वोऽस्यो हीदं सर्वं जायते.....तमब्रवीत् पशुपतिरसीति । तद्
यदस्य तन्नामाकरोद् ओषधयस्तद्रूपम् अभवन्नोषधयो वै पशुपति-
स्तस्माद् यदा पशव ओषधीर्लभन्तेऽथ पतीयन्ति.....तमब्रवीदुग्रो-
ऽसीति.....वायुस्तद्रूपम् अभवद् वायुर्वा उग्रस्तस्माद् यदा वलवद्
वात्युग्रो वात्यित्याहुः.....तमब्रवीद् अशनिरसीति.....विद्युत्तद्रूपम-
भवद् विद्युद्वा अशनिस्तस्माद् यं विद्युद् हन्त्यशनिरवधीद् इत्याहुः
.....तमब्रवीद् भवोऽसीति.....पर्जन्यस्तद्रूपमभवत् पर्जन्यो वै
भवः पर्जन्याद् हीदं सर्वं भवति.....तमब्रवीन्महादेवोऽसीति.....चन्द्रमस्त
द्रूपम् अभवत् प्रजापतिर्वै चन्द्रमाः प्रजापतिर्वै महान् देवः.....

तमब्रवीदीशानाऽसीति……आदित्यस्तद्रूपमभवद् आदित्यो वा ईशान
आदित्योह्यस्य सर्वस्येष्टे……सोऽब्रवीद् एतावान् वह अस्मै मामेतः
परो नाम धा इति……।

६ ३ २ ७

सोऽश्वसुक्रामयति । प्रतूर्वन्नेह्यवकामन्नशस्तिरिति पाप्मा वा अशस्ति-
स्त्वरमाणं एह्यवकामन् पाप्मानम् इत्येतद् रुद्रस्य गाणपत्यं मयो
भुरेउहीति रौद्रा वै पश्चो या ते देवता तस्यै गाणपत्यं मयोभुरेही
त्येतद् एनमश्वेनान्विच्छति ।

अग्निं-चयन

६ १ १ १

अथातः शतरुद्रियं जुहोति । अत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतः स एषोऽत्र
रुद्रो देवता । तस्मिन् देवा एतममृतं रूपमुत्तम् अदधुः । स एषो-
ऽत्र दीप्यमानोऽतिष्ठद् अन्नम् इच्छमानस् तस्मादेवा अभिभुर्यद्
वै नोऽयं न हिस्याद् इति……प्रजापतेर् विस्मताद् देवता उदकाम-
न्तम् एक एव देवो नाजहान् मन्युरेव सोऽस्मिन्नन्तर्वितोऽतिष्ठत् ।
सोऽरोदीत् तस्य यान्यश्रूणि प्रास्कन्दन्त्स्तान्यस्मिन् मन्यौ प्रत्यतिष्ठन्
स एव शतशीर्षा रुद्रः समभवत् सहस्राक्षः शतेषुधिरथ य अन्या
विग्रुपोऽपातंस्त असंख्यात सहस्राणीमाङ्गोकान् अनुप्राविशंस्तद् यद्
रुदितात् समभवंस्तस्माद् रुद्रः सोऽयं शतशीर्षा रुद्रः सहस्राक्षः
शतेषुधिरधिज्यधन्वा प्रतिहितावी भीषयमाणोऽतिष्ठद् अन्नम् इच्छमान
स्तस्माद् देवा अभिभयुः ।

६ २ ३ ३२

अग्ने सहस्राक्षः, हिरण्यशकलैर्वा एष सहस्राक्षः शतमूर्धन्निति यददः
शतशीर्षा रुद्रोऽसृज्यत शतं ते प्राणाः ।

११ ५ ३ ५

महोदेवोद्यतम्……

१२ ७ ३ २०

तदाहुः । एतस्यै वा एतद् अधलार्ये देवतायै रूपं गदन्ते घोरा
आरण्याः पश्चो यदेतेषां पश्चनां लोमभिः पयो ग्रहाञ्छ्रीणीयाद्
रुद्रस्यास्ये पश्चनाम् अभिदध्याद् अपशुर्यजमानः स्याद् या न श्रीणीयाद्
अनवरुद्धा अस्य पश्चवः स्यु रुद्रोहि पश्चनाम् ईष्टा………।

परिशिष्ट : तृतीय अध्याय

उपनिषदों में रुद्र-सम्बन्धी संदर्भ

बृहदरण्यक उपनिषद्

- १ ४ ११ ब्रह्म वा इदमग्र आसीद् एकमेव तदेकं सन्न व्यभवत् । तत् श्रेर्यो
रूपम् अत्यसूजत क्वचं यान्येतानि देवत्रा क्वत्राणीन्द्रो वरुणः सीमो
रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति ।
- २ २ २ तद् या इमा अक्षन् लोहिन्यो राजयस्तामिरेनं रुद्रोऽन्वायतः ।
- ५ २ ३ तदेतदेवैषा दैवी वाग्नुवदति तत्नयित्युर्द द द इति ।

केन उपनिषद्

- ३ १२ स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानाम् उमां हैमवर्तीं तां
होवाच किमेतद् यक्षमिति ।

मैत्रायणी उपनिषद्

- ४ ५ यो ह खलु वावस्य तामसोऽशोऽसौ स योऽयम् । रुद्रोऽथ यो ह
खलु वावस्य सात्त्विकोऽशोऽसौ स एवं विष्णुः ।

भर्ग और रुद्र का तादात्म्य

- ५ ७ भर्गाख्यो भार्भिर्गतिस्य हीति भर्गो भर्ज इति वैष भर्ग इति रुद्रो
ब्रह्मावादिनो..... ।

रुद्र और प्रजापति का तादात्म्य

- ५ ८ एष हि खल्वात्मेशानः शंभुर्वो रुद्रः प्रजापतिर्विश्वसूडधिरण्यगर्भः
सत्यं प्राणो हंसः शान्तो विष्णुर्नारायणोऽर्कः सविता धाता सम्राट
इन्द्र ह इन्दुरिति य एष..... ।

प्रश्न उपनिषद्

- २ ६ इन्द्रस्त्वं प्राणतेजसा रुद्रोऽसि परिक्षिता ।*
- श्वेताश्वतर उपनिषद्
- २ १७ यो देवो ऽमौ यो ऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश ।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमोनमः ।

*यह प्रजापति के प्रति है ।

- ३ २ एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य
इमाँल्लोकान् ईशत ईशनीभिः
प्रत्यञ्जनास्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले
संसुज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥
- “ ३ विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो
विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
- “ ४ यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च
विश्वाधिषो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥
- “ ५ या ते रुद्र शिवा तनूरघोरा पापकाशिनी ।
तया नस्तनुवा शंतमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥
- “ ६ यामिषुं गिरिशन्त हस्ते विमर्घ्यस्तवे ।
शिवां गिरित्रि तां कुरु माहिंसीः पुरुषं जगत् ॥
- “ ७ ततः परं ब्रह्म परं वृहन्तम्.....
- “ ११ सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात् सर्वगतः शिवः ॥
- ४ १ य एको वरणो बहुधा शक्तियोगाद्, वरण्णन् अनेकान् निहितार्थो दधाति ।
- “ ५ अजमेकां लोहितशुक्लकृष्णां, वह्नीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजोह्ये को जुषमाणाऽनुशेते, जहात्येनां भुक्तभोगाम् अजोऽन्यः ॥
- “ ६ द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नयोऽभिचाकशीति ॥
- “ ८ अस्मान् मार्यी सूजते विश्वमेतत्, तर्मिश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ।
- “ १० मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम् ।
- “ ११ यो योनिं योनिम् अधितिष्ठत्येको, यस्मिन्निदं संच विचैति सर्वम् ।
तमीशानं वरदं देवमीडथं, निचारयेमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥
- “ १४ सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये, विश्वस्य स्थारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं, ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥
- “ २१ अजात इत्येवं कश्चिद् भीरुः प्रतिपद्यते
रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम् ।
- “ २२ वीरान् मा नो रुद्र भामितोऽवधीर्विष्मन्तः सदमि त्वा हवामहे ।
- “ ५ १४ भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम् ।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥
- ६ १३ तत्काररणं सांख्ययोगाधिगम्यं, ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।

सूत्र ग्रन्थों में रुद्रसम्बन्धी संदर्भ

शांखायन श्रौतसूत्र

३ ४ ८
३ १७ १०-११

व्याधिप्लाय रुद्राय.....

व्यम्बकं संस्थाप्य मैत्रश्चरु । आदित्ये वा.....

४ १७-२०

शूलगव होम

रुद्रं गवा यजते स्वस्त्ययनाय । शूलगव इत्याचक्षते । शुद्धपद्मं उपोष्य पुण्ये नक्षत्रे प्रागुदीच्यां दिशि । अग्निं मथित्वा प्राज्ञं प्रणीय । पुरस्तात् पलाशशाखां सपलाशां निखाय तथा उत्तरतः पशुम् उपस्थाप्य, रुद्राय त्वा जष्टमुपकरोमि रुद्रायत्वा जुष्टं प्रोक्षामि रुद्राय त्वा जुष्टं नियुजन्मि इति नियुनक्ति पलाशशाखायाम् । पर्यग्निकृतम् उदंतं नयन्ति । तं संज्ञापयन्ति प्राक् शिरसं उदक्पादं प्रत्यक्शिरसं बोदक्पादम् अरवमाणम् ।

यत्पशुर्मायुमकृतोरो वा पञ्चिराहते ।

अग्निर्मा तस्मादेनसो जादवेदः प्रमुचं चतु ॥

स्वाहेति रवमाणे जुहोति । वपामुद्धृत्य प्रक्षाल्य पूर्वेऽनौ श्रपयित्वा भिद्यार्येद्वास्य शिवं शिवमिति त्रिः पर्युद्याज्याहुतिर्जुहोति ।

या तिरश्ची निपद्यते अहं विधराणीति ।

तं वृतस्य धारया युजे समर्धमिमऽहं स्वाहा ॥

यस्येदं सर्वं हतमिमं हवामहे ।

स मे कामान् कामपतिः प्र यच्छतु ॥

स्वाहेति द्वितीयायाम् । अग्ने पृथिव्या अधिपति इति तृतीयायाम् ।

प्रजापत इति चतुर्थ्याम् । त्रीणि पलाशपलाशानि मध्यमानि संत्रयोपस्तीर्य वपामवधायाभिधार्य ।

यावन्तमहमीशे यावन्तो मे अमात्याः ।

तेभ्यस्त्वा देव बन्दे ते भ्यो नो देव मूल ॥

वेद ते पितरं वेद मातरं, वौस्ते पिता पृथिवी माता । तस्मै ते

देव भवाय शर्वाय पशुपतय उग्राय देवाय महते देवाय रुद्रायेशानाया

शनये स्वाहेति वपां हुत्वा.....पश्चिमेऽनौ स्थालीपाकं श्रपयति ।

उत्तरतोऽवदानानि । स्थालीपाकं यूषं मांसमाज्यमिति सन्निनीय

शंयोरिति त्रिः पर्युद्य जुहोति ।

भवाय स्वाहा शर्वाय स्वाहा रुद्राय स्वाहेशानाय स्वाहामनये स्वाहा

स्विष्टिकृते स्वाहेति । तयैव पर्युद्य । तान्यैव सन्निनीय । अग्नौ

पश्चिमे । भवान्यै स्वाहा शर्वाएवै स्वाहा रुद्राएवै स्वाहेशान्यै

स्वाहामनायै स्वाहेति……रुद्रसेनाभ्योऽनुदिशति । अधोषिन्यः प्रतिघोषिन्यः संघोषिन्यो विचिन्नत्यः श्वसनाः कन्याद एष वो भागस्ते जुषध्वं स्वाहेति । यजमानश्चोपतिष्ठते ।

भूपते भुवपते भुवनपते भूतपते भूतानां पते महतो भूतस्य पते मूल नो द्विपदे चतुष्पदे च पश्वे मूल नश्च द्विपदश्च चतुष्पदश्च पशून् योऽस्मान् द्वे इति यं च वर्यं द्विष्मो दुरापूरोऽसि सच्छायोऽधिनामेन । तस्य ते धनुः हृदयं मन इष्वश्चक्षुविसर्गर्तं त्वा तथा वेद नमस्ते अस्तु सोमस्त्वावतु मा मा हिंसीः ।

यावरण्ये पतयतो वृकौ जञ्जभताविव ।

महादेवस्य पुत्राभ्यां भवशर्वाभ्यां नमः ॥

६ २६ २ अग्नये गृहपतये सोमाय वनस्पतये सवित्रे सत्यप्रसवाय रुद्राय पशुपतये वृहरपतये वाचस्पतये इन्द्राय ज्येष्ठाय मित्राय सत्याय वश्णाय धर्मपतये ।

आश्वलायन श्रौतसूत्र

३ ११ १ यस्माद् भीषा निषिदसि ततो नो अभयं कृषि ।
पशूनः सर्वान् गोपाय नमो रुद्राय मीलदुप इति ॥
४ ११ ५ यदि देवानां हर्वांश्यन्वायतपेयुरविनर्ग्यहपतिः सोमो वनस्पतिः……
रुद्रः पशूमान् पशुपतिर्वा ।

लाट्यायन श्रौतसूत्र

ऋग्म्बक होम

५ ३ त्रैयम्बक नामापूरा भवन्येकष्मपालाः । तेषां यम् अध्वर्युर् अखू-
ल्कर उपोषेत् तत्राप उपस्थृतेयुः । शिवा नः शंतमा भव सुमृडीका
सरस्वती मा ते व्योम संदशा इति……
दुते तिष्ठन्तो जपेयुर्वा वारुद्रम् अयद्दम् ह्यवदेवं ऋग्म्बकं यथा नः
श्रे यस्करद् यथा नो वशीयस्करद् यथा नः पशुमद्करद् यथा नो
व्यवासयद् भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजं सुगं मषाय
मेष्यैस्तु भेषजं यथा सद् इति ।
तत्र ब्रह्मा पर्यज्जपेद् इति धानञ्जप्यस्तिष्ठन्ति शारिङ्लयस्त्यम्बकं
यजामहे सुर्गन्वि पुष्टिवर्धनमुवर्शकमिव बन्धान्मृत्योमुर्द्वीय
मामृतादिति ।……
यत्रैनान् अध्वर्युरासञ्जेत् तत्रोपतिष्ठेरन्नेषा ते रुद्र भागस्तेनावसेन
परोपूजवतोऽतीहि कृत्तिवासाः पिनाकहस्तोऽवतत धन्वोमित्यात-
मितोऽपेयुः ।

ग्रीष्म मत

२१६

बौद्धायन धर्मसूत्र

२ ५ ६

ओं भवं देवं तर्पयामि । ओं शिवं देव तपयामि ओम् ईशानं ॥ ओं पशुपतिं ॥ ॥ ओं रुद्रं ॥ ॥ ओमुग्रं ॥ ॥ ओं भीमं ॥ ॥ ओं महान्तं ॥ ॥ ओं भवस्य देवस्य पल्लो ॥ ॥ इत्यादि । ॥ ओं भवस्य देवस्य सुतं ॥ ॥ इत्यादि । ॥ ओं रुद्रपार्षदांतर्पयामि ॥ ॥ ओं रुद्रपार्षदीश्च तर्पयामि ॥

۲۶۹

ओं स्कन्दं तर्पयामि । ओं परमुखं…… । ओं जयन्तं……
 ओं विशाखं…… । ओं महासेनं…… । ओं सुब्रह्मण्यं……
 ओं स्कन्दं पार्षदान् तर्पयामि । ओं स्कन्दपार्षदीश्वं तर्पयामि ।

二 九 一〇

प्राणानां ग्रन्थिरसि रुद्रो न विशान्तकः ।
श्रव्यमाणे रुद्रां कुर्यात् । नमो रुद्राय भूताधिपतये ।

मानव ग्रन्थसूत्र

१३ ई-१४

अमंगल्यं चेद् अतिक्रामति अनुमायन्त्वति जपति । नमो रुद्राय
ग्रामसद इति ग्रामे । इमा रुद्रायेति च । नमो रुद्रायैकवृक्षासद्
इत्येकवृक्षे । ये वृक्षेषु शशिपंजरा इति च । नमो रुद्राय शमशानसद
इति शमशाने । ये भूतानामधिपतय इति च । नमो रुद्राय चतु-
ष्पथसद इति चतुष्पथे । ये पथां पथि रक्ष्य इहि च । नमो रुद्राय
तीर्थसद इति तीर्थे । ये तीर्थानि प्रचरन्तीति ।

二三

तस्यामिन् रुद्रं पशुपतिम् ईशानं व्यम्बकं शरदं पृष्ठातकं गा इति
यजति ।

शुलगव होम

二四

रैद्रः शरदि शूलगवः । प्रागुदीच्यां दिशि ग्रामस्यासकाशे निशि
गवां मध्ये तष्ठे यूपः । प्राक् स्विष्टिकृतोऽष्टौ शोणितपूतान् पूर्यत्वा
नमस्ते रुद्र मन्यव इति प्रभृतिभिरष्टभिरनुवाकैर्दिवन्तर्दिव्य
चोपहरेत् । नाशृतं ग्राममाहरेत् । शेषं भूमौ निखनेद् अपि चर्म ।
फाल्युन्यां पौर्णमास्यां पुरस्ताद् धानपूपाभ्यां भर्गं चार्यमनञ्च यजेत्
इन्द्राण्या हविष्यान् पिष्टवा पिष्टानि समुत्पूय यावन्ति पशुजातानि
तावता मिथुनान् प्रतिरूपान् श्रप्यत्वाकांस्येऽध्याज्यान् कृत्वा तेनैव
रुद्राय स्वाहैति जुहोति । ईशानयेवेके ।

२१०

विनायक

२१४

अथातो विनायकान् विख्याष्यामः । शालकटंकटश्च कूर्माएऽ-
राजपत्रश्चोस्मितश्च देवयजनश्चेति । एतैरधिगतानाम् इमानि

रूपाणि भवन्ति लोष्टं मृद्वाति । तृणानि छिनति । अंगेषु
लेखान् लिखति । अपस्वप्नं पश्यति । जटिलान् पश्यति ।
कपायवासान् पश्यति । उष्ट्रान् शूकरान् गर्दभान् दिवाकीर्त्यादीन्
अन्याँश्चाप्रयातान् स्वप्नान् पश्यति । अन्तरिक्षं क्रामति । अध्वानं
ब्रजन् मन्यंते पृष्ठतो मे कश्चिद् ब्रजति । एतैः खलु विनायकैराविष्टा
राजपुत्रा लक्षणवन्तो राज्यं न लभन्ते । कन्याः पतिकामा लक्षण-
वत्सो भर्तृन् न लभन्ते । स्त्रियः प्रजाकामा लक्षणवत्यः प्रजां न
लभन्ते । स्त्रीणाम् आचारवतीनाम् अपत्यानि मियन्ते । श्रोत्रियो-
ऽध्यापक आचार्यत्वं न प्राप्नोति । अव्येतणाम् अध्ययने महा-
विद्वानि भवन्ति । वणिजां वाणिज्यपथो विनश्यति । कृषिकराणां
कृषिरल्पफला भवति । तेषां प्रायशिच्चत्तं ······

नमस्तेऽस्तु भगवन् शतरश्मे तमोनुद ।

जहि मे दौर्मार्यं सौभाग्येन मां संयोजय ॥

मधुपर्क

२ ६ १२ उत्तमायाः प्रदोषे चतुष्पथेऽगशो गां कारयेत् । यो य आगच्छेत्
तस्मै तस्मै दद्यात् ॥

आश्वलायन गृह्यसूत्र

२ २ १-२ आश्वयुज्याम् आश्वयुजीकर्म । निवेशनम् अलंकृत्य स्नाताः शुचिवाससः
पशुपतये स्थालीपाकं निरूप्य जुहुयः । पशुपतये शिवाय शंकराय
पृष्ठातकाय स्वाहेति ।

शूलगव होम

४ ६ २ शरदि वसन्ते वा ······
४ ६ ६ रुद्राय महादेवाय जुष्टो वर्धस्वेति ।
४ ६ १७ हराय मृडाय । शर्वाय शिवाय भवाय महादेवायोग्राय भीमाय
पशुपतये रुद्राय शंकरायेशानाय स्वाहेति ।

बोधायन गृह्यसूत्र

शूलगव होम

१ २ ७ १-३० अरण्येऽग्निमुपसमाधाय संपरिस्तीर्य प्रणीताभ्यः कृत्वा बहिरादाय
गाम् उपकरोति ······ ईशानाय त्वा जुष्टम् उपकरोमि इति ।
तूष्णीम् इत्येके । अथैनाम् अद्विः प्रीकृति । ······ ईशानाय
त्वां जुष्टं प्रोक्षामि इति । तूष्णीम् इत्येके । तामत्रैव प्रतिचीन-

शिरसीमुदीचीनपदों संज्ञापयन्ति । तस्यै संज्ञायाया अद्विरभिषेकम् । प्राणानामप्यायति । तूष्णीं वपाम् उत्खित्य हृदयमुद्भरति । प्रज्ञातानि चावदानानि । तान्येतेष्वेव शूलेषूपनिक्षिप्य तरिमन्नेवाग्नौ श्रपयन्ति । ····परिधाना-प्रभृत्यविनिमुखात् कृत्वा दैवतम् आहायति । ····आ त्वा वहन्तु हरयः सचेतसः श्वेतैरश्वैसहकेतुमद्विवताजिरैर्बलव-द्विर्मनोजवैरायाहि शीघ्रं मम हृव्याय सर्वोभिति । अथ स्तुवेणोपस्तीर्णम् अभिधारितं वपां जुहोति सहस्राणि सहस्रशः इति । पुरोऽनुवाक्यमूच्य ईशानं त्वा भुवनानाम् अभिश्रियम् इति यज्यया जुहोति । अत्रैतान्यवदानानि कृदासने प्रलिङ्घौदनं मांसं यूषिमत्याज्येन समुदायुत्य मेक्षेनोपधातं पूर्वाद्देवं जुहोति ····भवाय देवाय स्वाहा, उग्राय देवाय स्वाहा, महते देवाय स्वाहा इति । अथ मध्ये जुहोति । भवस्य देवस्य पत्न्यै स्वाहा, शर्वस्य देवस्य पत्न्यै स्वाहा, ईशानस्य ····पशुपतेर् ····रुद्रस्य ····उग्रस्य ····भीमस्य ····महतो ····इति । अथ पराद्देवं जुहोति, भवस्य देवस्य सुताय स्वाहा ····पशुपतेर् ····रुद्रस्य ····उग्रस्य ····भीमस्य ····महतो ····इति । अथापराद्देवं जुहोति । भवस्य देवस्य सुताय स्वाहा ····(इत्यादि) । अथाज्याहुतिरुप्यजुहोति ····नमस्ते रुद्र मन्यव इत्यन्तादनुवाकस्य । स्विष्ठिकृत् प्रभृति सिद्धमाधेनु वर प्रदानात् । अथाग्रेणाग्निमर्कपर्णेषु हुतशेषं निदधाति ····यो रुद्रोऽग्नौ योऽप्सु य ब्रोपधीषु यो रुद्रो विश्वा मुवना विवेश तरमै रुद्राय नमोऽस्तु इति ।

अपि यदि गां न लभेत मेषमजं वा लभेत । ईशानाय स्थालीपाकं वा श्रपयन्ति तष्मादेतत् सर्वे करोति यद्गवा कार्यं ····एवम् अष्टम्यां प्रदीषे क्रियेतावदेव नाना नात्रोपकरणं पशोः ।

रुद्र-मूर्ति की स्थापना

३२ १६ १४३

चतुर्थ्याम् अष्टम्याम् अपभरण्यां वा चतुर्दश्यां वा यानि चान्यानि शुभनक्षत्राणि तेषु पूर्वेषु रेव युग्मान् ब्राह्मणानेव परिविष्य पुण्याहं स्वस्ति ऋद्विम् इति वाचयित्वा समागतायां निशायां कपिलपंचगव्येन सहिरण्य-यव-दूर्वाङ्कुराश्वत्थ-पलाशपर्णेन सुवर्णोपधानां प्रतिकृतिं कृत्वाभिषिञ्चति । आपो हिंडा मयोभुवः इति तिस्रमिः ··· हिरण्यवर्णाः शुचयः पावकाः इति चतस्रमिः ···पवमानः सुवर्चनः इत्येतेनानुवाकेन व्याहृतीभिश्च । पुष्पफलाक्षतमिस्त्रयवद्वाङ्कुरं पादपीठे निक्षिपति ···नमस्ते रुद्र मन्यव इति ···तेन ···नमस्ते अस्तु धन्वने इत्यष्टमिः स्नापयति ···हिरण्येन तेजसा चक्षु र्विमोचयेत् ।

तेजोऽसीति लिंगो चेन्निवर्तते चच्छुषोभावात् ।……अथ ऋब्बकं
यजामहे मा नो महान्तं मा न स्तीके, आद्राय रुद्रः, हेतिः रुद्रस्य
आरात्ते अग्निः, विकिरदविलोहितसहस्राणि सहस्रधा सहस्रशः
इति द्वादशनामिभिः शिवाय शंकराय सहमानाय शितिकण्ठाय कपर्दिने
ताम्राय अरुणाय अपगुरुमानाय हिरण्यवाहवे शशिंजराय बञ्जुपाय
हिरण्याय स्वाहा इति ।……हविषाबलिमुपाहरति……त्वमेकमाय
पुरुषं पुरातनं रुद्रं शिवं विश्वसूजं यजामहे । लामेव यजो विहितो
विधेयस्त्वमात्मनात्मन् प्रतिगृहीत्वा हव्यम् इति ।

रुद्र-प्रतिमा का स्नान

३ २ १८ अथैनं प्रसादयति……

आराधितो मनुष्यैस्त्वं सिद्धैर्देवासुरादिभिः ।

आराधयामि शक्त्या त्वाऽनुगृहाण महेश्वर ।

ऋब्बकं यजामहे इति च……

अथ रुद्रगायत्रीं जपेत्, ‘तत्पुरुषाय विज्ञाहे’ इत्येतां रौद्रीं सहस्र-
कत्वावर्तयेत् ।……

दुर्गा

३ ३ २ यजोपवीतं रक्तपुष्पद्वां संभारानुकल्प्य मासि मासि कृत्तिका पूर्वाह्ले
गोमयेन गोचर्ममात्रं चतुरस्तं स्थापिडलं कृत्वा प्रोक्ष्य शौचेन सुव्रत-
स्तिष्ठन् भगवतीम् आह्वयेत्……जातवेदसे इति । ‘ओम् आर्या
रौद्रीमाह्यामीत्याहर्य तमनिवर्णम् इति कूचं दत्वा अग्ने त्वां
पारय इति यजोपवीतं दत्वाथैनां स्नपयति । आपो हिष्ठा मयोभुवः इति
तिसुभिः हिरण्यवर्णाः इति चतुर्सुभिः पवमानाः इत्येतेनानुवाकेन
मार्जयित्वा आर्यायै रौद्रायै महाकालयै महायोगिन्यै सुवर्णपुण्यै,
देवसंकीर्त्यै महायज्ञै (यज्ञै) महावैष्णव्यै महावृथिव्यै मनोगम्यै
शंखधरिण्यै नमः इति……सावित्र्यै……भगवत्यै दुर्गादिव्यै हविर्निव-
दयामि इति हविर्निवेद्य शेषम् एकादशनामधेयै हुत्वा पञ्चदुर्गा जपेद्
दशस्वरित जपेत् ।

ज्येष्ठा

३ ३ ६ अथ श्वी भूते ज्येष्ठामनुस्मरन्तुत्थाय देवागारे रहस्यप्रदेशे वा यत्र
रोचते मनस्तत्र स्थापिडलं कृत्वा……ज्येष्ठा-देवीमाह्यति……
यस्यारिसंहा रथे युक्ता व्याघ्राश्चायनुगमिनः ।
तामिमां पुण्डरीकाक्षीं ज्येष्ठामाह्याम्यहम् ।
इत्याहर्य……ज्येष्ठायै नमः……हस्तिमुखायै नमः……विघ्नपा-
र्दायै नमः, विघ्नपार्षद्यै नमः इति ।

विनायक

३ ३ १० मासि मासि चतुर्थीं शुक्लपक्षस्य पञ्चम्यां वाभ्युदशैः सिद्धिकामः
ऋद्धिकामः पशुकामो वा भगवतो विनायकस्य बलिं हरेत्……

विघ्न-विघ्नेश्वरागच्छ विघ्नत्वेव नमस्कृत ।

अविघ्नाय भवान् सम्यक् सदस्माकं भव प्रभो ॥

अथ तृष्णीं वा गन्धपुष्पधूपदीपैरम्बन्ध्य उपतिष्ठते……भूपतये नमो
भुवनपतये नमो भूतानां पतये नमः इति ।

उपस्थाय तिक्षो विनायकाङ्गुर्जुहेति……विनायकाय भूपतये नमो,
विनायकाय स्वाहा । विनायकाय भुवनपतये नमो विनायकाय

स्वाहा विनायकायभूतानां पतये नमो, विनायकाय स्वाहा
इति जय प्रभृतिसिद्धिम् आधेनुवरप्रदानात् । अपूर्णं करम्भोदकं

सत्त्वून् पयसम् इत्यथास्मा उपाहरते……विघ्नाय स्वाहा विनायकाय
स्वाहा वीराय स्वाहा शूराय स्वाहा उग्राय स्वाहा भीमाय स्वाहा
हस्तिमुखाय स्वाहा व्रदाय स्वाहा विघ्नपार्षदेभ्यः स्वाहा विघ्नपार्ष-

दीभ्यः स्वाहा इति ।
अथ भूतेभ्यो बलिम् उपहरेत्……ये भूताः प्रचरन्तीति ।

अथ पञ्चसूत्रं कङ्कणं हस्ते व्याहृतीभिर्बध्नाति……विनायक महा-
बाहो विघ्नेश्वरदाङ्गया कामा मे साधिताः सर्वे इदं बध्नामि
कंकणम् इति ।

अथ सामिनकं विनायकं प्रदिक्षणां कृत्वा प्रणम्याभिवाद्य विनायकं
विसर्जयति—

कृतं यदि मया प्राप्तं श्रद्धया वा गणेश्वर ।

उतिष्ठ सगणः साधो याहि भद्रं प्रसीदताम् ॥

परिशिष्ट : चतुर्थ अध्याय

रामायण (बर्मई संस्करण, निर्णयसागर प्रेस)

काण्ड	सर्ग	श्लोक	मदन-दहन
बाल	२३	१०	कन्दपो मूर्तिमानासीत् काम इत्युच्यते युधैः । तपस्यन्तमिह स्थाणुं नियमेन समाहितम् ॥
"	"	११	कृतोद्वाहं तु देवेण गच्छन्तं समरुद्गणम् । धषयांमास दुर्मेधा हुक्तश्च महात्मना ।
"	"	१२	अवध्यातश्च रुद्रेण चक्षुपा रघुनन्दन । व्यशीर्यन्त शरीरात्खात् सर्वगात्राणि दुर्मतेः ॥
"	"	१३	तत्र गात्रं हतं तस्य निर्दग्धस्य महात्मनः । अशरीरः कृतः कामः क्रोधाद्वेशवरेण ह ॥
"	"	१४	अनंग इतिविख्यातस्तदा-प्रभृति राघव । स चाङ्गविषयः श्रीमान्यत्रांगं स मुमोच ह ॥
"	३५	१५	तस्यां गङ्गे यमभवज्ज्येष्ठा हिमवतः सुता । उमा नाम द्वितीयाऽभूत् कन्या तस्यैव राघव ॥
"	"	१६	या चान्या शैलदुहिता कन्यासीद् रघुनन्दन ॥
"	"	२०	उग्रेण तपसा युक्ताँ ददौ शैलवरः सुताम् । रुद्राय प्रतिरूपाय उमां लोकनमस्कृताम्
कार्त्तिकेय का जन्म			
"	३६	५	पुरा राम कृतोद्वाहः शितिकण्ठो महातपाः ।
"	"	६	दृष्ट्वा च भगवान् देवीं मैथुनायोपचक्रमे । तस्य संक्रीडमानस्य महादेवस्य धीमतः ।
"	"	७	शितिकण्ठस्य देवस्य दिव्यं वर्षशतं गतम् । न चापि तनयो राम तस्यामासीत् परंतप ।
"	"	८	सर्वे देवाः समयुक्ताः पितामहपुरोगमाः ॥ यदि होत्यते भूतं कस्तत् प्रतिसहिष्यति ।
"	"		अभिगम्य सुराः सर्वे प्रणिपत्येदमत्रुचन् ।

का० सर्ग श्लो०

- बाल ३६ ६ देवदेव महादेव लोकस्यास्य हिते रत ।
 सुराणां प्रणिपातेन प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥
- ” ” १० न लोका धारयिष्यन्ति तव तेजः सुरोत्तम ।
 ब्राह्मण तपसा युक्तो देव्या सह तपश्चर ॥
- ” ” ११ त्रैलाक्ष्य हितकामार्थं तेजस्तेजसि धारय ।
 रक्त सर्वानिमाँल्लोकान् नालोकं कर्तुमर्हसि ॥
- ” ” १२ देवतानां वचः श्रुत्वा सर्वलोकमहेश्वरः ।
 बाढमियब्रवीत् सर्वान् पुनश्चेदसुवाच ह ॥
- ” ” १३ धारयिष्याम्यहं तेजस्तेजसैव सहोमया ।
 त्रिदशाः पृथिवी चैव निर्वाणमधिगच्छतु ॥
- ” ” १४ यदिदं क्लुभितं स्थानान् मम तेजोद्यनुत्तमम् ।
 धारयिष्यति कस्तन्मे ब्रुवन्तु सुरसत्तमाः ॥
- ” ” १५ एवमुक्तास्ततो देवाः प्रत्युत्तुर्वृपभव्यजम् ।
 यत्तेजः क्लुभितं ह्यय तद् धरा धारयिष्यति ॥
- ” ” १६ एवमुक्तः सुरपतिः प्रसुमोच महावलः ।
 तेजसा पृथिवी येन व्याप्ता सगिरिकानना ॥
- ” ” १७ ततो देवाः पुनरिदमूचुश्चापि हुताशनम् ।
 अविश त्वं महातेजो रौद्रं वायुसमन्वितः ॥
- ” ” १८ तदविना पुनव्याप्तं सङ्कातं श्वेतपर्वतम् ।
 दिव्यं शरवणं चैव पावकादित्यसन्निभम् ॥
- ” ” १९ यत्र जातो महातेजाः कार्त्तिकेयोऽग्निसम्भवः ।
 अर्थोमां च शिवं चैव देवाः सर्विगणास्तथा ॥
- ” ” २० पूजयामासुरत्यर्थं सुप्रीतमनसस्तदा ।
 अथ शैलसुता राम त्रिदशानिदमब्रवीत् ॥
- ” ” २१ समन्युरशपत्सर्वान्क्रोधसंरक्तलोचना ।
 यस्मान्निवारिता चाहं संगता पुत्रकाम्यया ॥
- ” , २२ अपत्यं स्वेषु दारेषु नोत्पादयितुमर्हथ ।
 अद्यप्रभृति युष्माकमप्रजाः सन्तु पत्नयः ॥
- ” ” २३ एवमुक्त्वा सुरानसर्वानशशाप पृथिवीमपि ।
 अवने नैकरूपा त्वं बहुभार्या भविष्यसि ॥
- ” ” २४ न च पुत्रकृतां प्रीतिं मत्कोधकल्पीकृता ।
 प्राप्स्यसे त्वं सुदुर्मेधो मम पुत्रमनिच्छती ॥
- ” ” २५ तान् सर्वान् पीडितान् दृष्ट्वा सुरान् सुरपतिस्तदा ।
 गमनायोपचक्राम दिशं वरुणपालिताम् ॥

का०	संग	श्लो०
बाल	३६	२६ स गत्वा तप आतिष्ठत्पाश्वें तस्योक्तरे गिरेः । हिमवत्प्रभवे शृंगे सह देव्या महेश्वरः ॥

गंगावतरणा

„	४३	२ अथ संवत्सरे पूर्णे सर्वलोकनमस्कृतः । उमापतिः पशुपती राजानमिदमब्रवीत् ॥
„	३	प्रीतस्तेऽहं नरश्चेष्ठ करिष्यामि तव प्रियम् । शिरसा धारयिष्यामि शैलराजसुतामहम् ॥
„	४	ततो हैमवती ज्येष्ठा सर्वलोकनमस्कृता । तदा साति महद्रूपं कृत्वा वेगं च दुःसहम् ॥
„	५	आकाशादपत्राम शिवे शिवशिरस्युत । अचिन्तयच सा देवी गंगापरमदुर्धरा ॥
„	६	विशाम्यहं हि पातालं स्तोतसा गृह्य शंकरम् । तस्यावलेपनं ज्ञात्वा क्रुद्धस्तु भगवान् हरः ॥
„	७	तिरोभावयितुं बुद्धिं चक्रे त्रिनयनसदा । सा तस्मिन् पतिता पुण्ये पुण्ये रुद्रस्य मूर्द्धनि ॥
„	८	हिमवत्प्रतिमे राम जटामंडलगहरे । सा कथञ्चिन्महीं गन्तुं नाशक्त्यात्मास्थिता ॥
„	९	नैव सा निर्गमं लेखे जटामंडलमन्ततः । तत्रैवावभ्रमद्वेषी संवत्सरगणान्वहून् ॥
„	१०	तामपश्यत् पुनस्तत्र तपः परममास्थितः । स तेन तोषितश्चासीदत्यन्तं खुनन्दन ॥
„	११	विसर्ज ततो गङ्गां हरो बिन्दुसरः प्रति । तस्यां विसृज्यमानायां सप्तखोतांसि जश्निरे ॥

शिव द्वारा विषपान

„	४५	१८ ततो निश्चित्य मथनं योक्त्रं कृत्वा च वासुकिम् । मन्थानं मन्दरं कृत्वा ममन्थुरमितौजसः ॥
„	१६	अथ वर्षसहस्रेण योक्त्रसर्पशिरांसि च । बमन्तोऽति विषं तत्र ददंशुर्दशनैः शिलाः ॥
„	२०	उत्पाताबिनिसंकाशं हालाहलमहाविषम् । तेन दशं जगत्सर्वं सदेवासुरमानुषम् ॥
„	२१	अथ देवा महादेवं शंकरं शरणार्थिनः । जमुः पशुपतिः रुद्रं त्राहि त्राहीति तुष्टुवुः ॥

२३४

शैव मत

का०	संग	श्लो०	
बाल	४५	२२	एवमुक्तस्तो देवैदेवैदेवेश्वरः प्रभुः । प्रादुरासीन्नितोऽत्रैव शंखचक्रधरो हरिः ॥
" "		२३	उवाचैनं स्मितं कृत्वा रुद्रं शूलभृतं हरिः । दैवतैर्मध्यमाने तु यत्पूर्वं समुपस्थितम् ॥
" "		२४	तत्त्वदीयं सुरश्चेष्ट सुराणामग्रतोहि यत् । अग्रपूजामिह स्थित्वा गृहाणेदं विषं प्रभो ॥
" "		२५	इत्युक्त्वा च सुरश्चेष्टत्रैवान्तरधीयत । देवतानां भयं दृष्ट्वा श्रुत्वा वाक्यं तु शार्ङ्गिणः ॥
" "		२६	हालाहलं विषं धोरं संजग्राहामृतोपमम् । देवान्विसृज्य देवेशो जगाम भगवान् हरः ॥

विश्वामित्र द्वारा शिव-पूजा

,,	५५	१२	स गत्वा हिमवत्पाशवै किञ्चलेरगसेविते । महादेवप्रसादार्थं तपस्तेपे महातपाः ॥
,,	"	१३	केनचित्त्वथ कालेन देवेशो बृषभध्वजः । दर्शयामास वरदो विश्वामित्रं महामुनिम् ॥

शिव-धनुष

,,	६६	८	देवरात इति ख्यातो निमेज्येष्ठो महीपतिः । न्यासोऽयं तस्य भगवन् हस्ते दत्तो महात्मनः ॥
,,	"	९	दक्षयज्ञवधे पूर्वं धनुरायम्य वीर्यवान् । विष्वस्य त्रिदशान् रोषात् सलीलमिदमवीत् ॥
,,	"	१०	यस्माद्भागार्थिनो भागान्नाकल्पयत मे सुराः । वराङ्गानि महार्हाणि धनुषा शात्यामि वः ॥
,,	"	११	ततो विमनसः सर्वे देवा वै मुनिषुं गव । प्रसादयन्ति देवेशं तेषां प्रीतो भवद्भवः ॥
,,	"	१२	प्रीतियुक्तस्तु सर्वेषां ददौ तेषां महात्मनाम् । तदेतद्वै देवस्य धनूरलं महात्मनः ॥
,,	"	१३	न्यासभूतं तदा न्यस्तमस्माकं पूर्वजे विभौ । अथ मे कृपतः क्षेत्रं लाङ्गलादुत्थिता ततः ॥
,,	"	१४	क्षेत्रं शोधयता लब्धा नामा सीतेति विश्रुता । भूतलादुत्थिता सा तु व्यवर्धत ममात्मजा ॥

शिव-धनुष

१	७५	११	इमे द्वे धनुषी श्रेष्ठे दिव्ये लोकामिष्टिते । द्वे बलवती मुख्ये सुकृते विश्वकर्मणा ॥
---	----	----	---

का० सर्ग श्लो०

बाल ७५ १२ अनुसुष्टु शुरैरेकं त्यग्वकाय युयुत्सवे ।
त्रिपुरद्वन्नं नरश्चेष्ट भग्नं काकुत्स्थ यत्त्वया ॥

अन्धक-वध

किञ्चिं० ४३ ५५

भगवाँस्तत्रविश्वात्मा शंभुरेहकादशात्मकः ।
ब्रह्मा वसति देवेशो ब्रह्मर्थि परिवारितः ॥

शिवादि की राम से बिनती

युद्ध ११७ २

तेतो वैश्रवणो राजा यमश्च पितृभिः सह ।
सहस्राक्षश्च देवेशो बहुगच्छ जलेश्वर ॥
षडर्धनयनः श्रीमान् महादेवो बृपथ्वजः ।
कर्ता सर्वस्य लोकस्य ब्रह्मा वेदविदां वरः ॥
त्रिब्रुवंस्त्रिदशश्रेष्ठाः राघवं प्राजलिं स्थितम् ॥
उपेक्षसे कथं सीतां पतन्तीं हव्यवाहने ॥

सीता-ग्रहण करने पर शिव का साधु-वाक्य

, ११६ १

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं राघवेणानुभाषितम् ।
ततः शुभतरं वाक्यं व्याजहार महेश्वरः ॥
” , २ पुष्कराक्ष महावाहो महावक्षः परंतप ।
दिष्ट्या कृतमिदं कर्म त्वया धर्मभृतां वर ॥

विद्युत्केश के पुत्र की कथा

उत्त० ४ २७

ततो बृपभमास्थाय पार्वत्या सहितः शिवः ।
वायुमार्गेण गच्छन् वै शुश्राव रुदितस्वनम् ॥
” , २८ अपश्यदुमया साद्वै रुदन्तं राक्षसात्मजम् ।
कारण्यभावात्पार्वत्या भवस्त्रिपुरसूदनः ॥
” , २९ तं राक्षसात्मजं चक्रे मातुरेव वयः समम् ।
अमरं चैव तं कृत्वा महादेवो क्षरोव्ययः ॥
” , ३० पुरमाकाशगं प्रादात् पार्वत्याः प्रियकाम्यया ।
उमयापि वरो दत्तो राक्षसीनां नृपात्मज ॥
” , ३१ सधोपलविर्भास्य प्रसूतिः सद्य एव च ।
सद्य एव वयः प्रासिर्मातुरेव वयः समम् ॥

शिव का असुरवध करने से इनकार

” ६ ६

इत्युक्तस्तु सुरैः सर्वैः कपर्दी नीललोहितः ।
सुकेशं प्रति सापेक्षः प्राह देवगणान् प्रभुः ॥
” , १० अहं तात्र हनिष्यामि ममावध्या हि तेऽसुराः

कुवेर द्वारा शिव-पूजा

का०	संगे	श्लो०	
उत्त०	१३	२१	अहं तु हिमवत्पृष्ठं गतो धर्मसुपासितुम् । रौद्रं व्रतं समास्थाय नियतो नियतेन्द्रियः ॥
" "	२२		तत्र देवो मया दृष्ट उमया सहितः प्रभुः ।
" "	२३		सव्यं चक्षुर्मया दैवातत्र देव्यां निपातितम् ॥
" "	२४		का न्येषेति महाराज न खल्वन्येन हेतुना । रूपं चानुपमं कृत्वा रुद्राणी तत्र तिष्ठति ॥
" "	२५		देव्या दिव्यप्रभावेण दध्नं सव्यं ममेक्षणम् । रेणुध्वस्तमिव ज्योतिः पिंगलत्वमुपागतम् ॥
" "	२६		ततोहमन्यद्विरतीर्णे गत्वा तस्य गिरेस्तटम् । तूष्णीं वर्षशतान्यष्टौ समधारं महाव्रतम् ॥
" "	२७		समाप्ते नियमे तस्मैस्तत्र देवो महेश्वरः । ततः प्रीतेन मनसा प्राह वाक्यमिदं प्रभुः ॥
" "	३०		प्रीतोर्मि तव धर्मश्च तपसानेन सुव्रत । मया चैतद् व्रतं चीर्णे त्वया चैव धनाधिप ॥
" "	३१		देव्या दिव्यं प्रभावेण यच्च सव्यं तवेक्षणम् । पैङ्गल्यं यदवाप्तं हि देव्या रूपनिरीक्षणात् ॥ एकाक्षिपिंगलीत्येव नाम स्थास्यति शाश्वतम् । एवं तेन सखित्वं च प्राप्यानुजां च शंकरात् ॥

नन्दी और रावण का मानमर्दन

" १६	८	इति वाक्यान्तरे तस्य करालः कृष्णपिंगलः । वामनो विकटो मुँडी नन्दी हस्तमुजो बली ॥
" "	९	ततः पाश्वमुपागम्य भवस्यानुचरोऽब्रवीत् । नन्दीश्वरो वचश्चेदं राक्षसेन्द्रमशंकितः ॥
" "	१०	निवर्तस्व दशश्रीव शैले क्रीडति शंकरः । सुपर्णानागव्यक्ताणां देवगन्धर्वरक्षसाम् ॥
" "	११	सर्वेषामेव भूतानामगम्यः पर्वतः कृतः । इति नन्दिवचः श्रुत्वा कोधात् कम्पितकुण्डलः ॥
" "	१२	रोषात् ताम्रनयनः पुष्पकादवरुद्ध सः । कोऽयं शंकर इत्युक्त्वा शैलमूलमुपागतः ॥
" "	१३	सोऽपश्यनन्दिनं तत्र देवस्यादूरतः स्थितम् । दीप्तं शूलमवृष्टम्य द्वितीयमिव शंकरम् ॥
" "	१५	तं कुद्धो भगवान्नन्दी शंकरस्यापरा तनुः । अब्रवीत्व तद्रक्षो दशाननमुपस्थितम् ॥

का०	संग०	श्लो०	परिशिष्ट : चतुर्थ अध्याय
उत्त०	१६	२२	अचिन्तयित्वा स तदा नन्दिवाक्यं महाबलः ।
			पर्वतं तु समासाद्य वाक्यमाह दशाननः ॥
" "	२३		पुष्पकस्य गतिश्छिन्ना यत्कृते मम गच्छतः ।
			तमिमं शैलमुन्मूलं करोमि तव गोपते ॥
" "	२४		केन प्रभावेण भवो नित्यं क्रीडति राजवत् ।
			विज्ञातव्यं न जानीते भयस्थानमुपस्थितम् ॥
" "	२५		एवमुक्त्वा ततो राम भुजान् विक्षिप्य पर्वते ।
			तोलयामास तं शीघ्रं स शैलः समकम्पत ॥
" "	२६		चालनात्पर्वतस्यैव गणा देवस्य कम्पिताः ।
			चचाल पार्वती चापि तदाशिलश्च महेश्वरम् ॥
,	२७		ततो राम महादेवो देवानां प्रवरो हरः ।
			पादाङ्गुठेन तं शैलं पीडयामास लीलया ॥
" "	२८		रक्षसा तेन रोपाच्च भुजानां पीडनात्तथा ।
			मुक्तो विरावः सहसा त्रैलोक्यं येन कम्पितम् ॥
" "	२९		मेनिरे वज्रनिषेधं तस्यामात्या युग्मये ।
			तदा वर्त्मसु चलिता देवा इन्द्रपुरोगमाः ॥
" "	३१		समुद्राश्चापि संकुञ्चाश्चलिताश्चापि पर्वताः ।
			यथा विद्याधराः सिद्धाः किमेतदिति चात्रवन् ॥
" "	३२		तोपयस्व महादेवं नीलकंठमुमापतिम् ।
			तमृते शरणां नान्यं पश्यामीऽत्र दशानन ॥
" "	३३		स्तुतिभिः प्रणतो भूत्वा तमेव शरणां त्रज ।
			कृपालुः शंकरस्तुष्टः प्रसादं ते विद्यास्यति ॥
" "	३४		एवमुक्त्वामात्यैस्तुष्टाव वृषभध्वजम् ।
			सामभिर्विवैः स्तौत्रैः प्रणम्य स दशाननः ॥
			संवत्सरसहस्रं तु रुदतो रक्षसो गतम् ।
" "	३५		ततः प्रीतो महादेवः शैलाश्रे विष्टितं प्रभुः ।
			मुक्त्वा चास्य भुजान् राम प्राह वाक्यं दशाननम् ॥
" "	४०		एवमुक्तस्तु लंकेशः शम्भुना स्वयमब्रवीत् ।
			प्रीतो यदि महादेव वरं मे देहि याचतः ॥
" "	४३		एवमुक्तस्ततस्तेन रावणेन स शंकरः ।
			ददौ खड्गं महादीपं चन्द्रहासमिति श्रुतम् ॥

शिव का स्त्रीरूप धारण करना

,, ८७ ११ तस्मिन् प्रदेशे देवेश शैलराजसुतां हरः ।
रमयामास दुर्धर्षः सर्वैरनुचरैः सह ॥

१२८

शैव मत

का० सर्ग श्लो०

उत्त०	८७	१२	कृत्वा स्त्रीरूपमात्मानमुमेशो गोपतिष्ठजः । देव्याः प्रियचिकीर्षुः सँस्तस्मिन् पर्वतनिभरे ॥
" "	१३		यत्र यत्र वनोद्देशे सत्वाः पुरुषवादिनः । बृद्धाः पुरुषनामानस्ते सर्वे स्त्रीजनाभवन् ॥
" "	१४		यत्त्वं किंचन तत्सर्वं नारीसंज्ञं बभूत् ह । एतस्मिन्नन्तरे राजा स इलः कर्दमात्मजः ॥
" "	१५		निघन् मृगसहस्राणि तं देशमुपचक्रमे । स दृष्टवा स्त्रीकृतं सर्वं सव्यालमृगपक्षिणम् ॥
" "	१६		आत्मनं स्त्रीकृतं चैव सानुगं रघुनन्दन । तस्य दुःखं महच्चासीदृष्ट्वात्मानं तथागतम् ॥
" "	१७		उमापतेश्च तत्कर्म ज्ञात्वा त्रासमुपागमत् । ततो देवं महात्मानं शितिकंठं कपर्दिनम् ॥
" "	१८		जगाम शरणं राजा सभृत्यबलवाहनः । ततः प्रहस्य वरदः सह देव्या महेश्वरः ॥

शिव का भेषज

"	६०	१२	नान्यं पश्यामि भैषज्यमन्तरा वृषभध्वजम् । नाश्वमेधात्परो यज्ञः प्रियश्चैव महात्मनः ॥
---	----	----	--

रामायण (गोरसियो संस्करण)

४	५	३०	यथा कुद्रस्य रुद्रस्य त्रिपुरं वै विजित्वा उपः । रुद्रस्य किल संस्थानं शरो वै सार्वमेधिकम् ।
"	४४	४६	तमतिकम्य शैलेन्द्रं महादेवाभिपालितम् ॥
५	८६	६	ततः सभायां देवस्य राज्ञो वैश्वरणस्य स । धनाध्यक्षस्य सभां देवः प्राप्तो हि वृषभध्वजः ॥
६	५१	१७	रुद्रवनाहतं घोरं यथा त्रिपुरगोपुरम् ।
"	६४	५५	आक्रीड इव रुद्रस्य कुद्रस्य निघनतः पशून् ।
"	६५	८८	ईश्वरेणाभिपन्नस्य रूपं पशुपतेरिव ।

महाभारत (दक्षिण संस्करण)

पर्व अध्या० श्लो०

आदि	१३	२२	सागर-मन्थन एवमुक्तस्तदा ब्रह्मा दधौ लोकेश्वरं हरम् ।
" "		२३	न्यक्षं त्रिशूलिनं रुद्रं देवदेवमुमापतिम् ॥ तदथ चिन्तितो देवस्तज्ज्ञात्वा द्रुतमाययौ

पर्व अध्या० श्लो०

- | | | | |
|-----|----|----|--|
| आदि | १३ | २४ | तस्याथ देवस्तत् सर्वमाचचक्र प्रजापतिः ।
तच्छ्रुत्वा देवदेवेशो लोकस्यास्य हितेष्या ॥ |
| " " | २५ | | अपिबद्धतत् विषं रुद्रः कालानलसमप्रभम् । |
| " " | २६ | | यस्मातु नीलिता कण्ठे नीलकण्ठस्ततः स्मृतः । |

शिव के चार मुख

- | | | | |
|-----|-----|----|--|
| ,, | २०० | ८४ | द्रष्टुकामस्य रुद्रस्य गतायां पार्श्वतस्ततः ।
अन्यदञ्जितपद्माक्षं पश्चिमं निःसृतं मुखम् ॥ |
| " " | ८५ | | गतायाश्चोत्तरं पार्श्वमुत्तरं निःसृतः मुखम् ।
पृष्ठतः परिवर्तिन्याः दक्षिणं निःसृतं मुखम् ॥ |
| " " | ८७ | | एवं चतुर्मुखः स्थाणुर्महादेवोऽभवत् पुरा । |

जरासंध का नरमेध

- | | | | |
|-----|-----|----|---|
| सभा | २१ | ६८ | तान् राज्ञः समुपगृह्य त्वं रुद्रायोपजिहीर्षसे । |
| " " | १०० | | मनुष्याणां समालंभो न हि दृष्टः कदाचन । |
| " " | १०१ | | स कथं मनुषैर्देवं यद्गुमिच्छसि शंकरम् ।
सवर्णो हि सवर्णानां कथं कुर्याद्विहिसनम् ॥ |

अर्जुन की तपस्या

- | | | | |
|----|----|----|--|
| वन | ३३ | ८७ | यदा द्रक्ष्यसि भूतेशं व्यक्तं शूलधरं शिवम् ।
तदा दातासि ते तात दिव्यान्यस्त्राणि सर्वतः । |
|----|----|----|--|

किरात रूप में शिव

- | | | | |
|-----|----|---|--|
| " | ३५ | १ | गतेषु तेषु सर्वेषु तपस्विषु महात्मसु ।
पिनाकपाणिर्भगवान् सर्वपापहरो हरः ॥ |
| " " | २ | | कैरातं वेशमात्थाय कांचनद्रुम सन्निभम् । |
| " " | ४ | | देव्या सहोमया श्रीमान् समानव्रतवेशया ।
नानावासधरैर्द्वैर्भूतैरनुगतस्तथा ॥ |
| " " | ५ | | किरातवेशसंछन्नः स्त्रीभिश्चानुसहस्रशः ।
अशोभत महाराज स देवोऽतीव भारत ॥ |
| " " | १३ | | प्रसुमोचाशनिप्रख्यं शारङ्गनिशिखोपमम् । |

गंगावतरण

- | | | | |
|---|----|----|---|
| " | ८५ | २२ | करिष्यामि महाराज वचस्ते नात्र संशयः ।
वेगं तु मम दुर्धार्यं पतयन्त्या गगनाच्युताम् । |
|---|----|----|---|

पवं अध्यांशलो०

वन	८५	२३	न शक्तस्त्रियु लोकेषु कश्चिद्भारयितुं नृप ।
"	"	२५	अन्यत्र विबुधश्रेष्ठान्नीलकण्ठान्महेश्वरात् ॥
"	८६	२	तपसाराधितः शंभुर्भगवान् लोकभावनः ।
"	"	३	धारयिष्ये महावाहो गगनात् प्रच्युतां शिवाम् ।
"	"	४	दिव्यां देवनदीं पुण्यां त्वत्कृते नृपसत्तम् ॥
"	"	१०	एवमुक्ता महावाहो हिमवन्तमुपागमत् ।
"	"	५	संवृतः पार्वदैघोरैर्नाना प्रहरणोद्यतैः ॥
"	"	१०	एतच्छ्रुत्वा वचो राजा शर्वेण समुदाहृतम् ।
"	"		तां दधार हरो राजन् गङ्गां गगनमेखलाम् ।
			ललाटदेशे पतितां मालां मुक्तामयीमिव ॥

स्कन्द-जन्म

वन	१८३	५	देवासुराः पुरायत्ता विनिघ्नन्तः परस्परम् ।
"	"	२३	तत्राजयन् सदा देवान् दानवा धोररूपिणः ॥
"	"	३५	समवाये तु तं रौद्रं दृष्ट्वा शक्रो व्यचिन्तयत् ।
"	"	४०	जनयेद् यं सुतं सीमः सोऽस्या देव्याः पतिभंवेत् ।
"	"	४२	अग्निश्चैभिर्गुणैः सर्वेग्निः सर्वाश्च देवताः ॥
"	"	४४	तत्राभ्यगच्छ्रुद् देवेन्द्रो यत्र सप्तष्योऽभवन् ।
"	"	४६	पिपासवो ययुर्देवाः शतक्तुपुरोगमाः ॥
"	"	४८	समाहूतो हुतवहः सोऽङ्गुतः सूर्यमण्डलात् ।
"	"	५३	विनिःसृत्य ययौ वहिः पार्श्वतो विधिवत् प्रभुः ।
"	"	५६	निश्चकामंश्चापश्यत् स पत्नीरतेषां महात्मनाम् ।
"	"	५८	पत्नीर्धृष्ट्वा द्विजेन्द्राणां वहिः कामवशं ययौ ॥
"	"	५३	अलाभे ब्राह्मणस्त्रीणां वहिर्वन्मुपागमत् ।
"	"	५५	स्वाहा तं दक्षदुहिता प्रथमाकामयत् तदा ॥
"	"	५५	सा तं ज्ञात्वा यथावत् वहिं वनमुपागतम् ।
"	"	५६	तत्वतः कामसंतत्प्रत्ययामास भासिनी ॥
"	"	१८४	अहं सप्तर्षितनीनां कृत्वा रूपाणि पावकम् ।
"	"	१	कामयिष्यामि कामात्मं तासां रूपेण मोहितम् ॥
"	"	८	शिवाभार्या त्वद्विरसः शीलरूपगुणान्विता ।
"	"		तस्याः सा प्रथमं रूपं कृत्वा देवी जनाधिप ॥
"	"		ततोऽग्निरूपयेष्ये तां शिवां प्रीत उदाहरत् ।
"	"		प्रीत्या देहीति संयुक्ता शुक्रं जग्राह पाणिना ॥
"	"	११	सुपर्णा सा तदा भूत्वा निर्गत्य महतो वनात् ।
			अपश्यत् पर्वतं श्वेतं शरस्तम्भैः सुसंवृतम् ॥

पर्व	अध्या०	श्लो०	प्राक्षिपत् कांचने कुण्डे शुक्रं सा त्वरिता सर्ति ॥
वन	१८४	१४	शिष्ठानामणि सा देवी सपर्णिणां महात्मनाम् ।
" "	"	१५	पत्नीसरूपतां कृत्वा रमयामास पावकम् ॥
" "	"	१६	दिव्यरूपम् अरुन्धत्याः करुं न शकितं तया ।
" "	"	१७	तस्यास्तपः प्रभावेण भर्तुशुश्रूषेण च ॥
" "	"	१८	पट्कृत्वस्तत्र निक्षिपत्तने रेतः करुत्तमम् ।
" "	"	१९	तरिमन् कुण्डे प्रतिपदि कामिन्या स्वाहया तदा ॥
" "	"	२०	तत्र स्कन्नं तेजसा तत्र संहृतं जनयत् सुतम् ।
" "	"	२१	ऋषिभिः पूजितं स्कन्दं जनयत् स्कन्दनात् तु तत् ॥
"	१८५	४७	ततः कुमारं सजातं स्कन्दमाहुर्जना भुवि ।
"	१८६	३०	सोऽभिषिक्तो मधवता सर्वैः देवगणैः सह ।
" "	"	३४	अतीव शुशुभे तत्र पूज्यमानो महर्षिभिः ॥
" "	"	३५	रुद्रमणिं द्विजाः प्राहू रुद्र सूनुस्ततस्तु सः ।
" "	"	३६	कीर्तयते सुमहातेजः कुमारोऽद्भुतदर्शनः ॥
" "	"	३७	पूज्यमानं तु रुद्रेण हृष्ट्वा सर्वे दिवीकसः ।
" "	"	३८	रुद्रसूनुं ततः प्राहुर्गुहं गुणवतां वरम् ॥
" "	"	३९	अनुप्रविश्य जातेन वह्नि जातोऽप्ययं शिशुः ।
" "	"	४०	तत्र जातस्ततः स्कन्दो रुद्रसूनुस्ततोऽभवत् ॥

शिवपुत्र रूप में स्कन्द

"	१८८	८	अभिगच्छ महादेवं पितरं त्रिपुरार्दनम् ।
"	"	९	रुद्रेणाभिन्नं समाविश्य स्वाहामाविश्य चौमया ॥
"	"	१०	हितार्थं सर्वलोकानां जातस्त्वम् अपराजितः ॥
"	"	११	उमायोन्यां च रुद्रेण शुक्रं सिक्तं महात्मना ।
"	"	१२	आस्ते गिरो निपतितं मुंजिको मुंजिका ततः ।
"	"	१३	मिथुनं वै महाभाग तत्र तद् रुद्रसंभवम् ।
"	"	१४	भूतं लोकं हितोद्देशे शुक्रशेषभवापतद् भुवि ।
"	"	१५	सर्वरशमीषु चाप्यन्यद् अन्यच्चैवापतद् भुवि ।
"	"	१६	आसक्तमन्यद् वृक्षेषु तदेवं पञ्चधाऽभवत् ॥
"	"	१७	तत्र ते विविधाकारा गणा ज्ञेया मनीषिभिः ।
"	"	१८	त एवं पार्षदा घोरा य एते पिशिताशनः ॥
"	"	१९	स गृहीत्वा पताकां तु यात्यग्रे रक्षसो ग्रहः ।
"	"	२०	क्षीडतस्तु श्मशाने यो नित्यं रुद्रस्य वै सखा ॥

२३९

शैव मत

पर्व अध्यायोऽश्लोऽ

बन	२२६	२६	स देवं शरणं गत्वा विरुपाक्षमुमापतिम् ।
		२७	बलि स्वयं प्रत्यग्छात् प्रियमानस् त्रिलोचनः ॥
उद्योऽ	६	४६	अथ संवत्सरेष्टपूर्णभूताः पशुपतेः प्रभो । समाक्रोशन्त मधवान् नः प्रभुर्ब्रह्मा इति ॥

शिव के अनेक नाम

”	१७७	७	तं देवो दर्शयामास शूलपाणिरुमापतिः ।
”	”	८	ततः स पुनरेवाथ कन्या रुद्रमुवाच ह ।
”	”	११	यथा स सत्यो भवति तथा कुरु वृषध्वज ।
”	१७८	४	अपत्यार्थं महाराज तोषयामास शंकरम् ।
द्रोण	४१	१५	मक्तानुकम्पी भगवान् तस्मिश्चके ततो दयाम् ।

मृत्यु की उत्पत्ति

”	४६	४४	प्रजाः सुष्टुवा महाराज प्रजासर्गे पितामहः ।
”	”	४५	आसंहृतं महातेजा उष्टुवा जगदिदं प्रभुः ॥
”	”	४६	चिन्तयन्नाससादैव संहारं वसुधाविप ।
”	”	४७	तस्य रोपान्महाराज मुखेभ्योऽग्निरजायत ।
”	”	४८	ततो भुवं दिवं चैव सर्वे ज्वालाभिरावृतम् ।
”	”	४९	चराचरं जगत्सर्वं ब्रह्मणः परवीरहन् ॥
”	”	५०	ततो हरो जटी स्थाणुर्निशाचरपतिः शिवः ।
”	”	५१	जगाम शरणं देवं ब्रह्माणां परवीरहन् ।
”	”	५०	तस्मिन् निपतिते स्थाणौ प्रजानां हितकामया ।
”	”	५१	अद्वीतं परमो देवो ज्वलन्निव महायुतिः ॥
”	”	५२	करिष्ये ते प्रियं कामं ब्रूहि स्थाणी यदिच्छसि ।
”	”	५३	ततः स्पृष्टोदकं पार्थं विनीतपरिचारकम् ।
			नैत्यकं दर्शयाऽचके नैशं व्यम्बकं बलिम् ॥

शिव-वर्णन

”	७४	३५	समापन्नस्तु तं देशं शैलाग्रे तु समवस्थितम् ।
”	”	३६	तपोनित्यं महात्मानम् अपश्यद्वानरध्वजः ॥
”	”	३७	सहस्रमिव सूर्याणां दीप्यमानं त्वतेजसा ।
”	”	३८	शूलिनं जटिलं शीर्णवल्कलाजिनवाससम् ॥
			नयनानां सहस्रैश्च विचित्राङ्गं महोजसम् ।
			पार्वत्या सहितं देवं भूतसंघैश्च भास्वरम् ॥

पर्वं अध्यायं श्लोकं		
द्वेषण ७४	३८	गीत-वादित्र संबादैस्ताल नर्तन-लासितैः ।
" "	३६	वल्लिंगतास्कोटितोक्तुष्टैः पुण्यगम्बैश्चसेवितम् ॥
" "	४१	वासुदेवस्तु तं दृष्ट्वा जगाम शिरसा क्षितिम् ।
" "	४२	पार्थेन सह धर्मात्मा गृणन् ब्रह्म सनातनम् ॥
" "	४३	लोकादिविश्वकर्माणम् अजमीशानमव्ययम् ।
" "	४४	तमसः परमं ज्योतिः खं वायुं ज्योतिषां गतिम् ॥
		योगिनां परमं ब्रह्माव्यक्तं वेदविदां निधिम् ।
		चराचरस्य स्थाप्तां प्रतिहतरमेव च ॥
		कालकोपं महात्मानं शक्तसूर्यगुणोदयम् ।
		ववन्दे तं तदा कृष्णो वाङ्मनोद्भुद्धिकर्मभिः ॥
		यं प्रपश्यन्ति विद्वांसः सूक्ष्माध्यात्मनिदर्शनात् ॥
		तमजं कारणात्मानं जगमतुः शरणां भवम् ।

कृष्ण और अर्जुन द्वारा शिवस्तुति

" "	५२	नमो भवाय शर्वाय रुद्राय वरदाय च ।
" "	५३	पशूनां पतये नित्यमुग्राय च कपर्दिने ॥
" "	५४	कुमारगुरवे नित्यं नीलग्रीवाय वेषसे ।
" "	५५	विलोहिताय धूम्राय व्यालयज्ञोपवीतिने ॥
" "	५६	महादेवाय भीमाय व्यम्बकाय शिवाय च ।
" "	५७	ईशानाय मखधनाय नमोऽस्त्वन्वकथातिने ॥
" "	६०	अचिन्त्यायाम्बिकाभर्त्रै सर्वदेवस्तुताय च ।
" "	६१	वृषभजाय सुण्डाय जटिने ब्रह्मचारिणे ॥
" "	६२	तपसे तप्यमानाय ब्रह्मणायामिताय च ।
		विश्वात्मने विश्वसृजे विश्वमावृत्य तिष्ठते ॥
		नमः सहस्रशिरसे सहस्रमुजमन्यवे ।
		सहस्रनेत्रपादाय नमोऽसंख्येयकर्मणे ।
		नमोहरण्यवर्णाय हिरण्यकवचाय च ॥
		नमोऽस्तु देवदेवायमहाभूतधराय च ।
		भक्तानुकम्पिने नित्यं सिद्ध्यतां नो वरः प्रभो ॥

कृष्ण द्वारा शिव की स्तुति

" १६६	२६	दिव्यमालापरिक्षिः तेजसां परमं निधिम् ।
" "	३०	रुद्रं नारायणो दृष्ट्वा ववदे विश्वमीश्वरम् ॥
" "		वरदं सह पार्वत्या प्रियया दयिता प्रियम् ।
		क्षीडमानं महात्मानं भूतसंघगणैर्वृतम् ॥

पर्व अध्या० श्लो०

द्वोष्य १६६ ३१

" " ३२

अजमीशानमव्यक्तं कारणात्मानमव्ययम् ।
स्वजानुभ्यां महीं गत्वा कृत्वा शिरसाऽजलिम् ॥
पञ्चाक्रस्तं विरूपाक्षम् अभिस्तुष्टाव भक्तिमान् ।

त्रिपुरदाह

कर्ण २४

५८

अनंगमथनं सर्वे भवं सर्वात्मना गताः ।
सर्वात्मानं महात्मानं येनासं विश्वमात्मना ।
तपोविशेषैविविधैयोर्गं यो वेद चात्मनः ॥
यः सांख्यमात्मनो वेत्ति यस्य चात्मा वशे सदा ।
तं ते दद्युरीशानं तेजोराशिं उमापतिम् ॥

" " ६०

" " ६१

" " ६३

" " ६७

" " ६८

" " ७०

" " ७१

" " ७२

" " ७३

" २५

" " १८

" " १६

" " २४

" " २५

" " २६

पर्व अध्या० श्लो०

श्लव० ४४ ६

स्कन्द-जन्म

तेजो माहेश्वरं स्कन्नमग्नौ प्रणिहितं पुरा ।
तत्सर्वे भगवान् अग्निर्नाशकद् धर्तुमन्त्रयम् ॥
स गंगामुपसंगम्य नियोगाद् ब्रह्मणः प्रभुः ।
गर्भमाहितवान् दिव्यं भास्करोपमतेजसः ॥
अथ गङ्गापि तं गर्भम् असहन्ती च धारणे ॥
उत्सर्ज गिरौ तस्मिन् हिमवत्यमरार्चिते ॥
स तत्र वृष्टे लोकान् आवृत्य ज्वलनात्मजः ।
ददृशुर्ज्वलनाकारं तं गर्भम् अथ कृतिकाः ॥
शरस्तम्बे महात्मानम् अनलात्मजमीश्वरम् ।
ममायमिति सर्वास्ताः पुत्रार्थिन्यो विचुकुशुः ॥
तासां विदित्वा भावं तं मातणां भगवान् प्रभुः ।
प्रस्तुतानां पथः षड्भिराननैरपिवत् तदा ।
कुमारस्तु महावीर्यः कार्तिकेय इति स्मृतः ।
गाङ्गे य पूर्वमभवन् महाकायो बलान्वितः ॥
स ददर्श महात्मानं देवदेवमुमापतिम् ।
शैलपुञ्च्या समागम्य भूतसंघैः समावृतम् ॥
निकाया भूतसंघानां परमाद्द तदर्शनाः ।
विकृता विकृताकारा विकृताभरणाध्वजाः ॥
व्याघ्रसिंहर्क्षवदना बिडालमकराननाः ।
वृषदंशमुखाश्चान्ये खरोष्ट्रवदनास्तथा ॥
उल्लूकवदनाः केचिद् गृह्णगोमायुदर्शनाः ।
कौञ्चपारावतनिभैर्वार्दनैर्भैरवैरपि ॥
श्वाविच्छल्यकगोधानामजैङ्कगवामपि ।
सदृशानि वृपूष्यन्ये तत्र तत्र व्यथारयन् ॥
केचिच्छैलाम्बुदप्रख्याश्चक्रोद्यतगदायुधाः ।
केचिदञ्जनपुञ्जाभाः केचिच्छैवेताचलप्रभाः ।
तमावजन्तमालोक्य शिवस्यासीन्मनोगतम् ।
युगपच्छैलपुञ्च्याश्च गङ्गायाः पावकस्य च ॥
कं नु पूर्वमयं बालो गौरवादभ्युपैति च ।
अपि माम् इति सर्वेषां तेषामासीन् मनोगतम् ॥
तेषामेवम् अभिप्रायं चतुर्णामुपलद्य सः ॥
युगपद् योगमास्थाय सर्वज्ञ विविधास्तनूः ॥
ततोऽमवच्चतुर्मूर्तिः क्षणेन भगवान् प्रभुः ।
स्कन्दः शास्त्रो विशाखश्च नैगमेयश्चपृष्ठतः ॥

२३६

शैव मत

अश्वत्थामा द्वारा शिव के कालपनिक		
पर्व	अध्याय	श्लोक
सौसिक	६	३२
" "	३३	सोऽहमय महादेवं प्रपद्ये शरणं प्रभुम् । दैवदण्डमिमं घोरं स हि मे नाशयिष्यति ॥
" "	२	कपर्दिनं प्रपद्ये ऽहं देवदेवसुपापतिम् । कपालमालिनं रुद्रं भग्नेत्रहरं हरम् ॥
" "	३	उग्रं स्थाणुं शिवं रुद्रं र्शवमीशानमीश्वरम् ।
" "	४	शितिकाठमजं रुद्रं दक्षकतुहरं हरम् ॥
" "	८	शमशाननिलयं दृष्टं महागणपतिं विभुम् । खट्ट्वांगधारिणं मुण्डं जटिलं ब्रह्मचारिणम् ॥
" "	८	धनाध्यक्षप्रियसखं गौरीहृदयवल्लभम् । कृत्तिवाससमत्युग्रं.....
" "	१०	परपरेभ्यः परमं परं यस्मान्न विद्यते । इष्वरस्त्रोत्तमभर्तारं दिगन्तं देशरक्षिणम् ॥ इत्यादि ॥

दक्षयज्ञ-धर्मस

,,	१८	१	ततो देवयुगेऽतीते देवा वै समकल्पयन् । यज्ञं वेदप्रमाणेन विधिवद् यज्ञुभिप्सवः ॥
,,	"	३	ता वै रुद्रमजानन्त्यो यातातथ्येन भारत । नाकल्पयन्त देवरय स्थाणोभागं नराधिप ॥
,,	"	४	सोऽकल्प्यमाने भागे तु कृत्तिवासा मखेऽमरैः । तपसा यज्ञमन्विच्छन् धनुरग्रे ससर्ज ह ॥
,,	"	८	ततः क्रुद्धो महादेवस्तुपादाय कार्मकम् । आजगामाथ तत्रैव यत्र देवाः समीजिरे ॥
,,	"	६	तमात्तकार्मकं दृष्ट्वा ब्रह्मचारिणमव्ययम् ॥ विव्यथे पृथिवी देवी पर्वताश्च चकम्पिरे ॥
,,	"	१०	न वौ पवनश्चैव न गिर्जज्वाल वैधितः । व्यभ्रमच्चापि संविमनं दिवि नक्षत्रमण्डलम् ॥
,,	"	१२	अभिभूतास्तो देवा विषयान् न प्रजिशिरे । न प्रत्यभाद्च यज्ञः स देवतास्त्रेसिरे तथा ॥
,,	"	१३	ततः स यज्ञं विव्याध रौद्रेण हृदि पत्रिणा । अपक्रान्तस्तो यज्ञो मृगो भूत्वा स पावकः ॥
,,	"	१५	अपक्रान्ते ततो यज्ञे संज्ञा न प्रत्यभात् सुरान् । नष्टसंज्ञेषु देवेषु न प्रज्ञायत कश्चन ।

पर्वं अध्या०	इक्षो०	
सौसिं० १८	१६	व्यम्बकः सवितुवाहू भगस्य नयने तथा ।
" "	१७	पूष्णश्च दशनान् सर्वान् धनुष्कोटया व्यशातयत् ॥
" "	१८	प्राद्रवन्त ततो देवा यज्ञांगानि च सर्वशः ।
" "	१९	केचित् तत्रैव धूर्णन्तो गतासव इवाभवन् ॥
" "	२०	स तु विद्राव्य तत् सर्वे शितिकण्ठोवहस्य हु ।
" "	२१	अवष्टम्य धनुष्कोटि रुरोघ विभुधान्स्तथा ॥
" "	२२	ततो वाग् अमरैस्ता ज्यां तस्य धनुषोऽछिनत् ।
" "	२३	अथ तत् सहसा राजन् छिन्नज्यं विस्फुरत् धनुः ॥
शान्तिं० १८६	६	ततो विभुतुष्वं देवा देवश्रेष्ठमुपागमन् ।
शान्तिं० १६१		शरणं सह यज्ञेन प्रसादं चाकरोत् प्रभुः ॥
		सर्वाणि च हर्वीर्यस्य देवा भागमकल्पयन् ।
		रुद्रादित्यबसूनां च तथान्येवां दिवौकैसः ।
		एते वै निर्यास्तात् स्थानस्य परमात्मनः ॥
		वेदविद्याविधातारं ब्रह्माणममितद्युतिम् ।
		भूतमातृगणाध्यद्वां विरुपाक्षं च सोऽसुजत् ॥

कृष्ण द्वारा शिव का महिमागान

अनुशा०	२२	२२	न शक्या कर्मणा वेत्तुं गतिमीशस्य तत्त्वतः ।
" "	२३		हिरण्यगर्भप्रसुखाः सेन्द्रा देवा महर्षयः ॥
" "	२४		न विदुर्यस्य निधनमादिं वा सूक्ष्मदर्शनः ।
			स कथं नाममात्रेण शक्यो ज्ञातुं सर्वां गतिः ।

उपमन्यु द्वारा शिव का महिमा-गान

अनुशा०	६६	एष एव महान् हेतुरीशः कारणकारणम् ।
" "	६७	शुश्रुमो न यदन्यस्य देवमस्यचितं सुरैः ॥
" "	६८	कस्यान्यस्य सुरैः सर्वैलिंगं मुक्त्वा महेश्वरम् ॥
" "	६९	अचर्यतेऽचितपूर्वं वा ब्रह्म यद्यस्ति ते श्रुतिः ॥
" "	७०	यस्य ब्रह्मा च विष्णुश्च त्वं च शक्तसहामरैः ।
" "	७१	अर्चर्यव्यवं सदा लिंगं तस्माच्छ्रेष्ठवरो हि सः ॥
" "	७२	दिवसकरशशाङ्कविहनेत्रं, त्रिमुवनसारमपारमीशमाद्यम् ॥
		अजरममरमप्रसाद्यरुद्रं जगति पुमान् इह को लभेत शान्तिम् ॥

शिव का वर्णन

" "	११५	प्रशान्तमनसं देवं त्रिहेतुमपराजितम् ।
-----	-----	---------------------------------------

पर्व अध्यात्र० श्लो०

अनु० २२ ११६

“ “ ११७

“ “ ११८

“ “ ११९

“ “ १२०

“ “ १२१

“ “ १४३

“ “ १४४

“ “ १४५

“ “ १४६

“ “ १५४

“ “ १५६

“ “ १५८

“ “ १६४

“ “ १६६

“ “ १८८

“ “ १८९

“ “ १९०

“ “ १९२

नीलकण्ठं महात्मानं हर्यक्षं तेजसां निधिम् ।

अष्टादशभुजं देवं सर्वाभरणभूषितम् ॥

शुक्लाम्बरधरं देवं शुक्लमाल्यानुलेपनम् ।

शुक्लध्वजमनाधृश्यं शुक्लयज्ञोपवीतिनम् ॥

वृतं पार्श्वचरैर्दिव्यै रात्मतुल्यपराक्रमैः ॥

त्रिभिन्नेत्रैः कृतोद्योतं त्रिभिः सूर्येरिवोदितैः ।

अशोभतास्य देवस्य माला गात्रे सितप्रभा ।

जातरूपमयैः पद्मैर्ग्रथिता रत्नभूषिता ।

इन्द्रायुधस्वर्णार्थं धनुस्तस्य महात्मनः ।

पिनाकमिति विख्यातं स च वै पञ्चगो महान् ॥

असंख्येयानि चास्त्राणि तस्य दिव्यानि धीमतः ।

प्राधान्यतो मयैतानि कीर्तितानि तवानघ ॥

सव्यदेशे तु देवस्य ब्रह्मालोक पितामहः ।

दिव्यं विमानमास्थाय हंसयुक्त मवस्थितः ॥

वामपाश्वर्वगतश्चापि तथा नारायणः स्थितः ।

वैनतेयं समास्थाय स्थितो देव्याः समीपतः ॥

शक्तिकण्ठे समास्थाय द्वितीय इव पावकः ।

उपमन्तु द्वारा शिवस्तुति

नमो देवाविदेवाय महादेवाय ते नमः ।

शक्राय शक्ररूपाय शक्रवेशधराय च ॥

नमोस्तु कृष्णवासाय कृष्णकुञ्चितमूर्धजे ।

कृष्णाजिनोत्तरीयाय कृष्णाष्टमिरताय च ॥

त्वं ब्रह्मा सर्वदेवानां रुद्राणां नीललोहितः ।

आत्मा च सर्वभूतानां सांख्ये पुरुष उच्यते ॥

ऋषभस्त्वं पवित्राणां योगिनां कपिलः शिवः ।

सनकुमारो योगानां सांख्यानां कपिलो मुनिः ॥

आदिस्त्वमसि लोकानां संहर्ता काल एव च ।

योऽसुजद् दक्षिणाद् अंगाद् ब्रह्माणं लोकसंभवम् ।

वामपाश्वर्त् तथा विष्णुं लोकरदार्थीश्वरः ॥

युगान्ते समनुप्राप्ते रुद्रं प्रमुरथासुजत् ।

स रुद्रः संहरन् कृत्स्नं जगत्स्थावरजंगमम् ।

कालो भूत्वा परं ब्रह्म याति सर्वतकानलः ॥

सर्वगः सर्वभूतात्मा सर्वभूतभवोद्भवः ।

आस्ते सर्वगतो नित्यमदश्यः सर्वदेवतैः ॥

पचं अध्या० श्लो०

अनु० २२ श्लो० २२७

कृष्ण द्वारा शिवस्तुति

त्वं वै ब्रह्मा च रुद्रश्च वरुणोऽग्निर्मनुभवः ।
धाता त्वष्टा विधाता च त्वं प्रभुः सर्वतोमुखः ॥

पार्वती का वर्णन

“ २३ श्लो० ३

ततो मां जगतो माता धारणी सर्वपावनी ।
उवाचोमा प्रणिहिता शर्वाणी तपसां निधिः ॥

देवता और मनुष्य शिव को नहीं जानते

“ , श्लो० ४०

अयं ब्रह्मादिभिः सिद्धै गुरुहायां सेवितः प्रभुः ।
देवासुरमनुष्याणामप्रकाशो भवेद् इति ॥

“ , “ ४१

तेन देवासुरनरा भूतेशं न विदुर्भवम् ।
मोहिता खल्वनेव हृच्छयेन प्रचोदिताः ॥

“ , “ ४२

ये चैनं संप्रपश्यन्ते भक्तियोगेन भारत ।
तेषामेवात्मनात्मानं दर्शयत्येव हृच्छयः ॥

“ , “ ४३

यं सांख्यं गुणतत्त्वज्ञाः सांख्यशास्त्रविशारदाः ।
सूक्ष्मज्ञानरताः सर्वे ज्ञात्वा मुच्यन्ति बन्धनैः ॥

जिज्ञासु शिव

“ ६८ श्लो० ७

उपसर्प भगवन्तमाचार्यं भगवान् आचार्यो रुदः ।
इत्युक्ते चासीनो भगवान् अनन्तरूपो रुद्रस्तं प्रोवाच ।

“ , “ १२

यज्ञ तप्तुरुषं शुद्धम् इत्युक्तं योग-सांख्ययोः ।

“ , “ १८

सर्वमेतद् यथा तत्त्वम् आख्याहि मुनिसत्तम् ॥

“ , “ १६

चतुर्थस्त्वं त्रयाणां तु ये गता परमां गतिम् ।

“ , “ २०

ज्ञानेन तु प्राकृतेन निर्मुक्तो मृत्युबन्धनात् ।

“ , “ २१

वयं तु वैकृतं मार्गमाश्रिता वै क्षरं सदा ।

“ , “ २२

परमुत्सूज्य पन्थानम् अमृताद्वरमेव तु ॥

न्यूने पथि निमग्नास्तु ऐश्वर्येऽष्टगुणे तथा ।

महिमानं प्रगृह्णो मं देवदेवं सनातनम् ॥

हिमालयवासी शिव

“ ११२ श्लो० १७

तत्र देवो गिरितटे हैमधातुविभूषिते ।
पर्यक्तइव ब्रह्माजन्तुपविष्टे महाद्युतिः ॥

“ , “ १८

व्याघ्रचर्मपरिधानो गजचर्मोत्तरच्छदः ।
व्यालयशोपवीतीच लोहितांगदभूषितः ॥

“ , “ १९

भयहेतुरभक्ताना भक्तानामभयंकरः ॥

२४०

शैव मत

पर्व अध्या० शङ्को०

अनु० ११२ २६

" " २८

" " ३४

शिव का तृतीय नेत्र

ततस्तस्मिन् क्षणे देवी भूतस्त्रीगणसंबूता ।

हरतुल्याम्बरधरा समानव्रतचारिणी ॥

सरित्स्ववाभिः सर्वाभिः पृष्ठतोऽनुगता वरा ।

सेवितुं भगवत्पाशर्वम् आजगाम शुचिस्मिता ॥

तृतीयं चास्य संभूतं ललाटे नेत्रमायतम् ।

द्वादशादित्यसंकाशं लोकान् भासावभासयत् ॥

शिव की महिमा

" ११२ ५२

" " ५३

" " ५४

सर्वेशं हि लोकानां कूटस्थं विद्धि मां प्रिये ।

मदाधीनास्त्रयो लोका यथा विघ्णौ तथा मयि ॥

खष्टा विष्णुरहं गोसा इत्येतद् विद्धि भामिनि ।

तस्माद् यदा मां स्पृशति शुभं वा यदि वेतरात् ।

तथैवेदं जगत्सर्वं तत्तत् भवति शोभने ॥

शिव और तिलोत्तमा

" ११३

६

पुरासुरौ महाघोरौ लोकादे गकरौ भृशम् ।

सुन्दोपसुन्दनामानावासतुः बलगर्वितौ ॥

" "

७

तयोरेव विनाशाय निर्मिता विश्वकर्मणा ।

तिलोत्तमेति.....

" "

८

सा तपस्यन्तमागम्य रूपेणाप्रितमा भुवि ।

मया बहुमता चेयं देवकार्यं करिष्यति ॥

" "

१०

इति मत्वा तदा चाहं कुर्वन्तीं मां प्रदक्षिणाम् ।

तथैव तां दिहन्तुश्च चतुर्वक्त्रोऽभवं प्रिये ॥

" "

११

ऐन्द्र मुखमिदं पूर्वं तपश्चयोपरं सदा ।

दक्षिणं मे मुखं दिव्यं रौद्रं संहरति प्रजाः ॥

" "

१२

लोककार्यपरं नित्यं पश्चिमं मे मुखं प्रिये ।

वेदान् अधीते सततम् अद्भुतं चोतरं मुखम् ॥

कापालिक शिव

" ११४

५

आवासार्थं पुरा देवि शुद्धान्वेषी शुचिस्मिते ।

नाध्यगच्छुं चिरं कालं देशं शुचितमं शुमे ॥

" "

६

एष मेऽमिनिवेशोऽभूत् तस्मिन् काले प्रजापतिः ।

" "

७

आकुलः सुमहाघोरः प्रादुरासीत् समन्ततः ।

संभूता भूतसृष्टिश्च घोरा लोकभयावहा ॥

पवं अध्या० श्लो०		
अनु० ११४	८	नाना वर्णा विरूपाश्च तीक्षणदण्डः प्रहारिणः । पिशाचरक्षोवदना: प्राणिनां प्राणहरिणः ।
" "	९	इतश्चरन्ति निघ्नन्तः प्राणिनो भृशमेव च ॥ एवं लोके प्राणिहीने क्वयं याते पितामहः ।
" "	१०	चिन्तयंस्तप्रतीकारे मां च शक्तं हि निग्रहै ॥ एवं ज्ञात्वा ततो ब्रह्मा तस्मिन् कर्मण्योजयत् ॥
" "	११	तच्च प्रणिहितार्थं तु मयाप्यनुमतं प्रिये । तस्मात् संरक्षिता देवि भूतेभ्यो प्राणिनो भयात् ॥
" "	१२	अस्माच्छूमशानान्मेध्यं तु नास्ति किञ्चिद् अनिन्दिते । निःसंपातान् मनुष्याणां तस्माच्छुचितमं स्मृतम् ॥
" "	१३	भूतसृष्टिं च तां चाहं शमशाने संन्यवेशयम् । तत्रस्थसर्वभूतानां विनिहन्मि प्रिये भयम् ॥
" "	१४	न च भूतगणेनाहमपि नाशितुमुत्सहै । तस्मान्मे सञ्जिवासाय शमशाने रोचते मनः ॥
" "	१५	मेध्यकामैर्द्विजैर्नित्यं मेध्यमित्यभिधीयते । अर्चन्द्रिवर्तं रौद्रं मोक्षकामैश्च सेव्यते ॥

शिव का उपरूप

" "	२०	पिंगलं विकृतं भाति रूपं ते तु भयानकम् । भस्मदिवधं विरूपाक्षं तीक्षणदण्डं जटाकुलम् ॥
" "	२१	व्याघ्रोदरत्वक्संवितं कपिलशमश्रुसंततम् । रौद्रं भयानकं धोरं शूलपट्टसंयुतम् ॥
" "	२२	किमर्थं त्वीदृशं रूपं तन्मे शंसितुमर्हसि । द्विविधो लौकिको भावः सितमुष्णमिति प्रिये ॥
" "	२३	तयोर्हि ग्रथितं सर्वं सौभयाग्नेयमिदं जगत् ॥
" "	२४	सौभयत्वं सततं विष्णौ सभयाग्नेयं प्रतिष्ठितम् । अनेन वपुषा नित्यं सर्वलोकान् विभर्म्यहम् ॥
" "	२५	रौद्राकृतिं विरूपाक्षं शूलपट्टसंयुतम् । आग्नेयमिति मे रूपं देवि लोकहितेरतम् ॥
" "	२६	यद्यहं विपरीतः स्यामेतत् त्यक्त्वा शुभानने । तदैव सर्वलोकानां विपरीतं प्रवर्तते ॥
" "	२७	तस्मान् मयेदं त्रियते रूपं लोकहितैषिणा ॥
" "	२८	

दक्षयज्ञ-विध्वंस

" १५०	५	शिवः सर्वगतो रुद्रः स्थाय स्तं शृणुष्व मे । प्रजापतिस्तमसृजत् तपसोऽन्ते महातप ।
-------	---	--

पर्व० अध्या० श्लो०

अनु० १५० ८ शंकरस्त्वसुजत् तात प्रजाः स्थावरजंगमाः ॥
 नास्ति किंचित् परं भूतं महादेवाद् विशांपते: ।
 इह त्रिष्वेपि लोकेषु भूतानां प्रभवो हि सः ॥
 प्रजापतेस्तु दक्षस्य यजतो वितते क्रतौ ।
 विव्याघ कुपितो यज्ञं निर्भयस्तु भवस्तदा ॥
 तेन ज्यातलघोषेण सर्वे लोकाः समाकुलाः ।
 वभूवुरवशाः पार्थ विषेदुश्च सुरासुराः ॥
 ततः सोऽभ्यद्रवद् देवान् कुद्धो भीमपराक्रमः ।

त्रिपुरदाह

” ” २५ असुराणां पुराण्यासन् चीणि वीर्यवतां दिवि ।
 ” ” २६ नाशकत्तानि भगवान् भेतुं सर्वायुधैरपि ।
 अथ सर्वेमरा रुद्रं जस्मुः शरणमर्दिताः ॥
 स तथोक्तस्तथेत्युक्त्वा विष्णुं कृत्वा शरोक्तमम् ।
 शल्यमन्ति तथा कृत्वा पुंखे सोममपापतिम् ॥
 ” ” ३० ओकारं च धनुः कृत्वा ज्यां च सावित्रीमुत्तमाम् ।
 वेदान् रथवरं कृत्वा विनियुज्य च सर्वशः ॥
 ” ” ३१ शरेणादित्यवर्णेन कालाग्निसमतेजसा ।
 तेऽसुराः सपुरास्तत्र दग्धा रौद्रेण तेजसा ॥

इन्द्र का मानमर्दन

” ” ३२ देव्याश्चांकगतं दृष्ट्वा बालं पञ्चशिखं पुनः ।
 उमां जिज्ञासमानः स कोऽयमित्यब्रवीद् वरः ॥
 ” ” ३३ असूयतश्च शक्तस्य वत्रेण प्रहरिष्यतः ।
 सवज्ञं संस्तंभयामास तां बाहु परिघोपमाम् ॥

देवताओं का अज्ञान

” ” ३४ न संबुद्धिरे चैव देवास्तां भुवनेश्वरम् ।
 स प्रजापतयः सर्वे तस्मिन् सुसुहुरीश्वरे ॥
 ” ” ३५ ततो ध्यात्वा तु भगवान् ब्रह्मा तमभितौजसम् ।
 अर्यं श्रेष्ठ इति ज्ञात्वा ववन्दे तमुमापतिम् ॥
 ” ” ३६ ततः प्रसादयामासुर्मां रुद्रं च ते सुराः ॥

पर्व संग्रह श्लोक

		शिव के दो रूप और उनके नाम
अनु० १५१	३	द्वे तनू तस्य देवस्य वेदज्ञा ब्राह्मणा विदुः । घोरामन्यां शिवामन्यां ते तनू बहुधा पुनः ॥
” ”	६	यस्य घोरतरग्ना मूर्तिर्जगत् संहरते तथा । ईश्वरत्वान्महस्वाच्च महेश्वर इति स्मृतः ॥
” ”	७	यच्चिर्दहति यत्तीक्षणो यद्गुद्रो यत्प्रापवान् । मांसशोणितमज्जादी यत् ततो रुद्र उच्यते ॥
” ”	८	यच्च विश्वं जगत्पाति महादेवस्ततः स्मृतः ॥
” ”	९	स मेध्यति यज्ञित्यं स सर्वान् सर्वकर्मभिः । शिवमिच्छन् मनुष्याणां तस्मादेव शिवः स्मृतः ॥
” ”	१०	दहत्यूर्ध्वं रिथतो यच्च प्राणान् प्रेरयते च यत् । स्थिरलिङ्गं च यज्ञित्यं तस्मात् स्थाणुरिति स्मृतः ॥
” ”	१२	धूमरूपजटा यस्माद् धूर्जटिः पुनरुच्यते । विश्वे देवाश्च यद्गुणं विश्वरूपस्ततः स्मृतः ॥
” ”	१३	सहस्राक्षोऽच्युताक्षश्च सर्वतोऽक्षिमयोपि च । चक्षुषः प्रभवं तेजः सर्वतश्चक्षुरेव च ॥
” ”	१४	सर्वथा यत् पशून् पातितैश्च यद्रमते पुनः । तेषामविपतिर्यच्च तस्मात् पशुपतिरुच्यते ॥
” ”	१५	नित्येन ब्रह्मचर्येण लिंगमस्य सदा स्थितम् । भक्तानुग्रहार्थाय गूढलिंगस्ततः स्मृतः ॥

शिव की प्रतिमाएँ

” ”	१६	विग्रहं पूजयेद् यो वै लिंगं वापि महात्मनः । पूज्यमाने सदा तरिमिन् मोदते स महेश्वरः ॥
-----	----	---

शिव का सौम्य और उग्र रूप

” ”	१८	तस्याघोराणि रूपाणि दीप्तानि च शुभानि च । लोके यानि स्म पूज्यन्ते विप्रास्तानि विदुर्बुधाः ॥
” ”	२१	वेदे चास्य विदुर्विप्राः शतरुद्रियमुत्तमम् । व्यासेनोक्तं च यच्चास्योपस्थानं महात्मनः ॥

परिशिष्ट : पंचम अध्याय

(साहित्य-ग्रन्थ)

‘बुद्ध-चरित’

संग	श्लोक	
१	६१	धात्र्यङ्कसंविष्टमवेद्य चैनं । देव्यंकसंविष्टमिवाग्निसूर्यम् ॥
१	८८	भवनमथ विगाह्य शाक्यराजो । भव इव प्रामुखजन्मना प्रतीतः ॥
१०	३	विसिस्मये तत्र जनस्तदानीं स्थाणुत्रतस्येव वृषध्वजस्य ॥

‘सौन्दरानन्द’

१०	६	संतसचामीकरभक्तिचित्रं रूप्यांगदं शीर्णमिवाभिकायाः ॥
----	---	--

‘मृच्छकटिकम्’

१	१५	के बाद का गद्य भागः— तद् वयस्य कृतो मया गृहदेवताभ्यो बलिः । गच्छ त्वमपि चतुष्पथे मातृभ्यो बलिमुपहर ।
१	४१	एशाशि वाशू शिलशि गगहिदा केशेषु वालेशु शिलोलुहेशु । आक्कोश विक्कोश लवाहिचरणं शंभुं शिवं शंकलमीशलं वा ॥
३	१२	के बाद का गद्य भागः— प्रथममेतत् स्कन्दपुत्राणां सिद्धिलक्षणम् । अत्र कर्मप्रारम्भे कीदृशम् इदानीं संधिमुत्पादयामि ? इह खलु भगवता कनकशक्तिना चतुर्विधः सन्ध्युपायो दर्शितः ।
६	२७	अभ्यं तुह देउ हरो विरहू बम्हा रवी अ चंदो अ । हत्तूण सत्तुवक्त्रं सुभणिसुभे जधा देवी ॥
१०	४५	जयति वृषभकेतुर्दक्षयशस्य हन्ता । तदनु जयति मैत्ता प्रामुखः क्रौंचशत्रुः ॥

‘मनुस्मृतिः’

अध्या० श्लो०

- | | | |
|---|-----|---|
| ३ | १५२ | चिकित्सकान् देवलकान् मांसविक्षिणस्तथा ।
विपरेण च जीवन्तो वज्याः स्युर्हव्यकव्ययोः ॥ |
| ४ | ३६ | मृदं गां दैवतं विप्रं वृतं मधुचतुष्पथम् ।
प्रदक्षिणानि कुर्वोत प्रशातांश्च वनस्पतीन् ॥ |
| ४ | १३० | देवतानां गुरो राज्ञः स्नातकाचार्ययोस्तथा ।
नाक्रमेत् कामतश्छायां वभ्रूणो दीक्षितस्य च ।
[टीका : देवतानां पाषाणादिमयीनाम्] |
| ४ | १५३ | दैवतान्यभिगच्छेत् धार्मिकांश्च द्विजोत्तमान् ।
ईश्वरं चैव रक्षायं गुरुनेव च पर्वसु ॥ |

‘नाट्यशास्त्रम्’

- | | | |
|---|----|--|
| १ | १ | प्रणम्य शिरसा देवौ पितामहपरमेश्वरौ ।
नाट्यशास्त्रं प्रवद्यामि ब्रह्मणा यदुदाहृतम् ॥ |
| १ | ४५ | दृष्टा मया भगवतो नीलकण्ठस्य वृत्तयतः ।
कैश्चिकीश्लद्धणैपथ्या शृङ्गारसंभवा ॥ |
| १ | ६० | सूर्यश्छत्रं शिवसिद्धिं वायुवर्यजनमेव च ॥ |
| १ | ६३ | तृतीयं च स्थितो विष्णुश्चतुर्थे स्कन्द एव च ॥ |
| २ | २४ | आदौ निवेशयो भगवान् साधैः भूतगर्भैर्भवः ॥ |
| ४ | १७ | ततस्तरणं समाहूय प्रोक्तवान् भुवनेश्वरः ॥ |
| ४ | १४ | प्रयोगमंगहाराणाम् आच्छव भरताय वै ॥ |

‘मालविकानिमित्रम्’

- | | | |
|---|---|--|
| १ | १ | एकैश्वर्ये रिथतोऽपि प्रणतबहुफले यः स्वयंकृत्तिवासाः ।
कान्तासम्भिश्वेदोप्यविषयमनसां यः पुरस्ताद् यतीनाम् ।
अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्विभ्रतो नामिभानः ।
सन्मार्गालोकनाय व्यञ्जयतु स नस्तामर्सी वृत्तिमीशः ॥ |
|---|---|--|

‘विक्रमोर्वशीयम्’

- | | | |
|---|---|--|
| १ | १ | वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्यरिथितं रोदसी ।
यरिमन्त्रीश्वर इत्यन्यविषयः शब्दो यथार्थक्षरः ।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते ।
स स्थाणुः स्थिरमक्षियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः ॥ |
|---|---|--|

‘अभिज्ञानशाकुन्तलम्’

अध्या० श्लो०

१ १ या सृष्टिः सप्तद्वाराया वहति विधिहुतं या हविर्यां च हौत्री
ये द्वेकालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्त्य विश्वम् ।
यामादुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यथा प्राणिनः प्राणवत्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रसन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरषाभिरीशः ॥

‘मेघदूतम्’

३४ अप्यन्यरिमन् जलधर महाकालमासाय काले
स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः ।
कुर्वन्सन्ध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीया-
मामन्द्राणां फलमविकलं लप्यसे गर्जितानाम् ॥

३५ पादन्यासैः कणितरशनास्तत्र लीलावधूतै
रत्नच्छायाखचितवलिपिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः ।
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान् प्राप्य वर्णविन्दून्
आमोद्यन्ते त्वयि मधुकरश्चेणिदीर्घान् कटाक्षान् ॥

३६ वृत्यारम्भे हर पशुपते रार्द्ध नागाजिनेच्छा
शान्तोद्देव गस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिमर्वान्याः ॥

‘रघुवंशम्’

१ १ वागार्थाविव संपृक्तौ वागार्थाप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

(पुराण-ग्रन्थ)

‘अग्निपुराण’

शिव का विषपान

अध्या० श्लो०

३ ८ द्वीराब्धेमर्थमानाच्च विषं हालाहलं ह्यभूत् ।
” ९ हरेण धारितं करणे नीलकण्ठस्ततोऽभवत् ॥

” १८ स्त्रीरूप विषणु पर शिव का मुख्य होना
दर्शयामास सद्व्राय स्त्रीरूपं भगवान् हरिः ।
मायया मौहितः शंभुर्गोरीं त्यक्त्वा स्त्रियं गतः ॥

” १६ नग्न उन्मत्तरूपोऽभूत् स्त्रियः केशान् अधारयत् ।
अगाद् विमुच्य केशान् स्त्री अन्वधावच्च तां गताम् ॥

अध्या० श्लो०

- ३ २० रखलितं तस्य वीर्ये कौ यत्र यत्र हरस्य हि ।
तत्र तत्राभवत् क्षेत्रं लिगानां कनकस्य च ॥
- ,, २१ मायेयम् इति तां शात्वा स्वरूपस्थोऽभवद्धरः ।
शिवमाह हरी रुद्र जिता माया त्वया हि मे ॥
- ,, २२ न जेतुमेनां शक्तो मे त्वद्देऽन्यः पुमान् भुवि ।
अप्राप्यथामृतं दैत्या देवैर्युद्धे निपातिताः ॥

एकादश रुद्र

- १८ ४१ सुरभी काश्यपाद् रुद्रान् एकादश विजञ्जुषी ।
महादेवप्रसादेन तपसा भाविता सती ॥
- ,, ४२ अजैकपाद् अहिर्ब्रह्मत्वष्टा रुद्राश्च सत्तम् ॥
- ,, ४३ त्वष्टुरुचैवात्मजः श्रीमान् विश्वरूपो महायशाः ।
हरश्च वहुरुपश्च त्यम्बकश्चापराजितः ।
- ,, ४४ वृपाकपिश्च शंभुश्च कपर्दी रैवतस्तथा ।
मृगव्याघश्च सर्पश्च कपाली दश चैककः ।
रुद्राणां च शतं लक्षं यैव्यासं सच्चराचरम् ॥

शिवलिंग का स्वरूप

- ५३ १ लिंगादिलक्षणं वद्ये कमलोद्धत्वं तच्छृणु ।
दैर्घ्याद्दृढं वसुभिर्भक्त्वा त्यक्त्वा भागत्रयं तथा ॥
- ,, २ विष्कम्भं भूतभागैस्तु चतुरसं तु कारयेत् ॥
- ,, ३ आयामं मूर्तिभिर्भक्त्वा एक-द्वि-त्रिक्रमान्न्यसेत् ।
- ब्रह्मविष्णुशिवांशेषु वर्धमानोऽयमुच्यते ।
चतुरसे द्वय वर्णाद्दृढं गुह्यकोणेषु लाञ्छयेत् ॥
- ,, ५ चतुः पष्ट्यस्कं कृत्वावर्तुलं साधयेत् ततः ।
- कर्त्येद् अतथ लिंगस्य शिरो वै देशिकोत्तमः ॥
- ,, ६ विस्तारमथ लिंगस्याष्टधा संविभाजयेत् ।
- भागार्धार्धं तु संत्यज्य छत्राकारं शिरोभवेत् ॥

लिंग-मूर्तियों का वर्णन

- ५४ १ वद्याम्यन्यप्रकारेण लिंगमानादिकं शृणु ।
वद्ये लवण्जं लिंगं धृतजं बुद्धिवर्धनम् ॥
- ,, २ भूतये वस्त्रलिंगं तु लिंगं तात्कालिकं विदुः ।
पक्षापकं मृणमयं स्यादपकात् पक्षं वरम् ॥

२४८

शैव मत

अध्यात्मलोक

- ५४ ३ ततो दारुमयं पुण्यं दारुजाच्छैलजं वरम् ॥
 शैलाद् वरं तु मुक्ताजं ततो लौहं सुवर्णजम् ॥
- ” ७ पूज्यो हरस्तु सर्वत्र लिंगे पूर्णार्चनं भवेत् ॥
- ” ८ चलमंगुलमानेन द्वारगर्भकरैः स्थितम् ।
 अंगुलाद् गृहलिंगं स्याद् यावत् पंचदशांगुलम् ॥

गणेश

- ७१ १ गणाय स्वाहा हृदयम् एकदंष्ट्राय वै शिरः ॥
 २ गजकर्णिने च शिखा गजवक्त्राय वर्म च ।
 महोदराय स्वदन्तहस्तायाक्षि तथाऽस्त्रकम् ॥
- ” ३ गणी गुरः पादुका च शक्त्यनन्तौ च धर्मकः ।
 मुख्यास्थिमएडलं चाधश्चोर्ध्वच्छदनमर्चयेत् ॥
- ” ४ पद्मकर्णिकवीजांश्च ज्वालिनीं नन्दयाचर्चयेत् ॥
 सूर्येशाकामरूपा च उदया कामवर्तिनी ॥
- ” ५ सत्या च विघ्ननाशा च आसनं गन्धमृतिका ।
 यं शोषो रं च दहनं प्लवो लं वं तथाऽमृतम् ॥
- ” ६ लम्बोदराय विद्वाहे महोदराय धीमहि ।
 तन्मो दन्ती प्रचोदयात् ॥
- ” ७ गणपतिर्गणाधिष्ठो गणेशो गणनायकः ।
 गणकीडो वक्तुएड एकदंष्ट्रो महोदरः ॥
- ” ८ गजवक्त्रो लम्बकुक्षिर्विकटो विघ्ननाशनः ।
 धूम्रवणो महेन्द्रायाः पूज्या गणपतेः स्मृताः ॥

रौद्री

- ७२ २६ रौद्रिं ध्यायेद् वृपावजस्थां त्रिनेत्रां शशिभूषिताम् ।
 त्रिशूलाक्षधरां दक्षे वामे साभयशक्तिकाम् ॥

शिवार्चन-विधि

- ७४ ४२ प्रक्षाल्य पिण्डिकालिंगे अस्त्रतोये ततो हृदा ।
 अर्ध्यपात्राभ्युना सिंचेद् इति लिंगविशोधनम् ॥
- ” ४३ आत्मद्रव्यमन्त्रिलिंगशुद्धौ सर्वान् सुरान् यजेत् ।
 वायव्ये गणपतये हाँ गुरुभ्योऽर्चयेच्छिवे ॥
- ” ५० न्यसेत् सिंहासने देव शुक्लं पंचमुखं विभुम् ।
 दशबाहुं च खण्डेन्दुं दधानं दक्षिणैः करैः ।

अध्या०

७४

श्लो०

५१ शक्त्युष्टशूलखट्वांगवरदं वामकैः करैः ।

उमरुं बीजपूरं च नीलाङ्गं सूत्रमुत्पलम् ॥

”

८१ तमे शिवपदस्थस्य हुं क्षः क्षेपय शंकर ।

शिवो दाता शिवो भोक्ता शिवः सर्वमिदं जगत् ॥

शिवो जयति सर्वत्र यः शिवः सोऽहमेव च ।

श्लोकद्वयमधीत्यैवं जपं देवाय चार्पयेत् ॥

चण्ड

७६

१ ततः शिवान्तिकं गत्वा पूजाहोमादिकं मम ।

गृहाण भगवन् पुरुषफलमित्यभिधाय च ॥

”

४ संहृत्य विव्याय लिंगं मूर्तिमन्त्रेण योजयेत् ।

स्थैरिण्डले त्वर्चिते देवे मन्त्रसंघातमात्मनि ॥

”

५ नियोज्य विधिनोक्ते न विद्ध्यान्तचण्डपूजनम् ॥

”

६ ओं धूलिचरणेश्वराय हुं फट् स्वाहा तमाहयेत् ॥

”

८ चण्डास्त्राय तथा हुं फट् चण्डं स्त्रामिनजं स्मरेत् ।

”

शूलाट्टकधरं कृष्णं साक्षसूत्रकमण्डलुम् ॥

”

१८ टंकाकारेऽर्धचन्द्रे वा चतुर्वर्षत्रं प्रपूजयेत् ।

यथाशक्ति जपं कुर्यादंगनां तु दशांशतः ॥

शिवार्चना

७६

७ संनिधाने ततः शंभोरुषविश्य निजासने ।

पवित्रमात्मने दद्याद् गणाय गुरुवद्ये ॥

”

१५ स्वाहान्तं वा नमोऽन्तं वा मंत्रमेषामुदीरयेत् ॥

”

१६ ओं हां आत्मतत्त्वाधिपतये शिवाय स्वाहा ।

”

ओं हां विद्यातत्त्वाधिपतये शिवाय स्वाहा ॥

”

१७ अन्तश्चारेण भूतानां द्रष्टा त्वं परमेश्वर ।

”

कर्मणा मनसा वाचा तत्त्वो नान्या गतिर्मम ॥

”

२३ पवित्राणि समारोप्य प्रणम्याग्नौ शिवं यजेत् ।

”

२४ भुक्तिकामः शिवायाथ कुर्यात् कर्मसमर्पणम् ।

”

२८ विसूज्य लोकपालादीन् आदायेशात् पवित्रकम् ।

”

सति चण्डेश्वरे पूजां कृत्वा दत्त्वा पवित्रकम् ॥

शिववन्दना

८६

ओं नमः शिवाय सर्वप्रभवे हं शिवाय ईशानमूर्धय ।

तत्पुरुषवक्त्राय अघोरहृदयाय वामदेवाय गुह्याय ॥

अध्या०

८६

श्लो०

सद्योजातमूर्तये ओं नमो नमो गुह्यातिगुह्याय ।
गोप्त्रेऽनिधनाय सर्वाधिपाय ज्योतीरूपाय परमेश्वराय भावेन
ओं व्योम ॥

शिव और शक्ति

८८

२ उभौ शक्तिशिवौ तत्त्वे भुवनाष्टकसिद्धिकम् ॥

”

६ हेतुः सदाशिवो देव इति तत्त्वादिसंचयम् ।

संचित्य शान्त्यतीताखण्डं विदध्यात् ताडनादिकम् ॥

लिंग-पूजा

६६

२० मूर्तीस्तदीश्वरांस्तत्र पूर्ववद् विनिवेशयेत् ।
तदव्यापकं शिवं सांगं शिवहस्तं च मूर्धनि ॥

”

२१ ब्रह्मरंब्रप्रविष्टेन तेजसा बाह्यमन्तरम् ।
तमः पटलमाध्यू प्रदोतितदिगन्तरम् ॥

”

२२ आत्मानं मूर्तिपैः साधे स्वरूपसुकुटादिभिः ।
भूषयित्वा शिवोऽस्मीति ध्यात्वा बोधासिमुद्धरेत् ॥

”

६३ अर्चयेच्च ततो लिंगं स्नापयित्वा मृदादिभिः ।
शिल्पिनं तोषयित्वा तु दद्याद् गां गुरवे ततः ॥

”

६४ लिंगं धूपादिभिः प्रार्च्य गायेयुर्मर्तुगाः स्त्रियः ।
सव्येन चापसव्येन सूत्रेणाथ कुशेन वा ॥

”

६५ स्पृष्ट्वा च रोचनं दत्त्वा कुर्यान्निर्मन्थनादिकम् ।
गुडलवणधान्याकदानेन विसुजेच्च ताः ॥

लिंगमूर्ति-प्रतिष्ठापन

६७. प्रथम ‘द्वारपालों’, ‘दिवपतियों’ और ‘शिवकुम्भ’ की पूजा की जाती है। फिर अग्नि और लिंगमूर्ति को आठ मुट्ठी चावल चढ़ाये जाते हैं। तदनन्तर मंगलमंत्रोच्चारण करता हुआ प्रतिष्ठापक मन्दिर में प्रवेश करता है और लिंगमूर्ति की स्थापना करता है—

” ४ न मध्ये स्थापयेलिंगं वेघदोषविशंक्या ।

तस्मान् मध्यं परित्यज्य यवाधीनं यवेन वा ॥

” ७ ओं नमो व्यापिनि भगवति स्थिरेऽचले ब्रुवे ॥

तब उपासक मणियों, विभिन्न धातुओं और अनेक अज्ञों का ध्यान करता है, जिनसे क्रमशः सौन्दर्य, ऊर्जस्, सुन्दर आकृति और बल मिलता है। तब विभिन्न कलशों को

उपयुक्त मंत्रों के उच्चारण के साथ यथास्थान रखा जाता है। तब 'वास्तु देवताओं' को उपहार देकर उपासक लिंगमूर्ति को उठाता है और उचित प्रदक्षिणा करने के पश्चात् 'भ्र' द्वारा के समुख उसकी स्थापना करता है। तदनन्तर 'महापाशुपत' स्तोत्र का जप किया जाता है।

पुरानी लिंग-मूर्तियों का जीर्णोद्धार

अध्या०

१०३

श्लो०

- १ लक्ष्मोजिमतं च भर्मं च स्थूलं वज्रहतं तथा ।
संपुटं स्फुटितं व्यंगं लिंगमित्येवमादिकम् ॥
- २ इत्यादि दुष्टलिंगानां योज्या पिण्डी तथा वृषः ।
- ६ अमुरैर्मुनिभिर्गोत्रसंत्रिविद्धिः प्रतिष्ठितम् ।
जीर्णं वाप्यथवा भर्मं विधिनापि न चालयेत् ॥

काशी का माहात्म्य

११२

" "

- १ वाराणसी परं तीर्थं गौर्यै प्राह महेश्वरः ।
भुक्तिसुक्तिप्रदं पुण्यं वसतां गृणतां हरिम् ॥
- २ गौरीक्षेत्रं न मुक्तं वै अविमुक्तं ततः स्मृतम् ।
जप्तं तप्तं हुतं दत्तं अविमुक्ते किलाक्षयम् ॥
- ५ गुह्यानां परमं गुह्यम् अविमुक्तं परं मम ।

नर्मदा का माहात्म्य

११३

" "

- १ सद्यः पुनाति गाङ्गेयं दर्शनाद् वारि नार्मदम् ॥
- ४ गौरी श्रीरूपिणी तेषे तपस्ताम् अब्रवीद् हरिः ।
अवाप्स्यसि त्वमाध्यात्म्यं नाम्ना श्रीपर्वतस्तव ॥
- ६ मरणं शिवलोकाय सर्वदं तीर्थमुक्तम् ।
हरोऽत्र क्रीडते देव्या हिरण्यकशिपुस्तथा ॥

माघ शुक्ल चतुर्थी को गणेश-पूजा

१७६

- ३ उल्कान्तैर्गादिगन्धादौः पूजयेन्मोदकादिभिः ।
ओ महोल्काय विद्वाहे वक्तुएडाय धीमहि,
तन्मो दन्ती प्रचोदयात् ॥

शिवरात्रि को पूजा

१६३

- १ माघफालगुनयोर्मध्ये कृष्णा या तु चतुर्दशी ।
- २ कामयुक्ता तु सोपोष्या कुर्वन् जागरणं त्रती ।

२५२

शैव मत

अध्या०

१६३

श्लो०

"

३ आवाहयाम्यहं शम्भुं सुक्ति-सुक्ति-प्रदायकम् ।
 ४ नरकार्णवकोत्तारनावं शिव नमोऽस्तु ते ।
 नमः शिवाय शान्ताय प्रजाराज्यादिदायिने ॥ इत्यादि ।

विनायक गण

२६५

"

"

"

१ विनायकोपसृष्टानां स्नानं सर्वकरं वदे ।
 विनायकः कर्मविध्न-सिद्ध्यर्थ विनियोजितः ॥
 २ गणानामाधिष्ठत्ये च केशवेशपितामहैः ।
 स्वप्नेऽवगाहतेऽत्यर्थं जलं मुण्डांश्च पश्यति ॥
 ३ विनायकोपसृष्टस्तु क्रव्यादान् अधिरोहति ।
 ब्रजमाणस्तथात्मानं मन्यतेऽनुगतं परैः ॥
 ५ विमना विफलारभ्मः संसीदत्यनिमित्ततः ।
 कन्या वरं न चाप्नोति न चापत्वं वराङ्गना ॥

सोम और तारा

२७३

"

"

"

"

"

"

"

"

२ सोमश्चके राजसूयं त्रैलोक्यं दक्षिणां ददौ ।
 समाप्तेऽवभृथे सोमं तद्रूपालोकनेच्छवः ॥
 ३ कामवाणाभितसांग्यो नरदेव्यः सिषेविरे ।
 लद्धी नारायणं त्यक्त्वा सिनीवाली च कर्दमम् ॥
 ५ धृतिस्त्यक्त्वा पर्ति नन्दीं सोममेवाभजत् तदा ॥
 ७ स्वकीया एव सोमोऽपि कामयामास तास्तदा ॥
 ८ बृहस्पतेः स वै भार्यां तारां नाम यशस्विनीम् ॥
 ९ जहार तरसा सोमो ह्यवमन्याङ्गिरःसुतम् ।
 तरस्तद् युद्धमभवत् प्रख्यातं ताराकामयम् ॥
 १० देवानां दानवानां च लोकक्षयकरं महत् ।
 ब्रह्मा निर्वायोशनसं ताराम् अङ्गिरसे ददौ ॥
 ११ तामन्तःप्रसवां दृष्ट्वा गर्भं त्यजाब्रवीद् गुरुः ॥
 गर्भस्त्यक्तः प्रदीपोऽथ प्राहाहं सोम-संभवः ॥
 १२ एवं सोमाद् बुधः पुत्रः.....

विनायक अथवा गणेश

३१२

"

१ ओं विनायकार्चनं वद्ये.....

३ गणमूर्त्ति गणपति हृदयं स्याद् गणंजयः ।
 एकदन्तोत्कटशिरः शिखायाचलकर्णिने ॥

अध्या०

श्लो०

३१२

४ गजवक्त्राय कवचं हुं फडन्तं तथाष्टकम् ।
महोदरो दण्डहस्तः पूर्वादौ मध्यतो यजेत् ॥
जयो गणाधिपो गणनायकोऽथ गणेश्वरः ।
वक्तुण्ड एकदन्तोत्कटलभ्वोदरो गजः ॥
६ वक्त्रो विकटाननोऽथ हुं पूर्वो विघ्ननाशनः ।
भूमवर्णो महेन्द्रायो बाह्ये विघ्नेशपूजनम् ॥

”

३१७

७ तन्महेशाय विज्ञाहे महादेवाय धीमहि ।
तन्नः शिवः प्रचोदयात् ॥

गणेश की विघ्ननिवारणार्थ पूजा

”

८ यात्रायां विजयादौ च यजेत् पूर्वं गणं श्रिये ।
९ शिरोहतं तत्पुरुषेण ओमायां च नमोऽन्तकम् ॥
१५ गजाज्यं गजशिरसं च गाङ्गेयं गणनायकम् ।
त्रिरावर्तं गगनगं गोपतिं पूर्वपंक्तिगम् ॥
१६ विच्चित्रांशं महाकायं लम्बोष्ठं लम्बकर्णकम् ।
लम्बोदरं महाभागं विकृतं पार्वतीप्रियम् ॥
१८ महानादं भास्वरं च विघ्नराजं गणाधिपम् ॥
उद्धटस्वानभश्चण्डी महाशुण्डं च भीमकम् ॥
२० लयं नृत्यप्रियं लौल्यं विकर्णं वत्सलं तथा ।
कृतान्तं कालदण्डं च यजेत्कुम्भं च पूर्ववत् ॥

”

३२१

पाशुपतशान्ति

ओ नमो भगवते महापाशुपताय ······ त्रिपञ्चनयनाय ······
सर्वाङ्गरक्ताय ······ शमशानवेतालप्रियाय सर्वविघ्ननिकृन्तनरताय ···
भक्तानुकम्पिनेऽसंख्यवक्त्रभुजपादाय ··· वेतालवित्रासिने शाकिनीक्षोभ
जनकाय व्याधिनिग्रहकारिणे ······ दुष्टनागद्यकारिणे क्रूराय ···
वत्रहस्ताय ······ मुण्डास्त्राय ······ कंकालास्त्राय ··· योगिन्यस्त्राय ···
शिवास्त्राय ······ सर्वलोकाय ··· इत्यादि ···

रुद्रशान्ति

३२३

१३ ओ रुद्राय च ते ओ वृषभाय नमोऽविमुक्ताय अशंभवाय पुरुषाय च
पूज्याय ईशपुत्राय पौरुषाय पंच चोत्तरे विश्वरूपाय करालाय विकृत-
रूपाय ···

अध्या०

- ३२३ श्लो०
- १५ एकपिंगलाय श्वेतपिंगलाय कृष्णपिंगलाय नमः ।
 १६ मधुपिंगलाय नमः नियतावनन्तायाद्र्दय शुष्काय पयोगणाय
 कालतत्त्वे करालाय विकरालाय द्वौ मायातत्त्वे सहस्रीष्टाय
 सहस्रवक्त्राय.....
 १७ भूपतये पशुपतये उमापतये कालाधिपतये.....
 २४ शाश्वताय योगपीठसंस्थिताय नित्यं योगिने...सर्वप्रभवे.....
 ३१ तत्पुरुषाय पंचवक्त्राय ।
 ३१ ब्रह्म-विष्णु-रुद्र-पर ! अनर्चित ! अस्तुतस्तु... ...

लिंगपूजा

३२६

- १० यदों नमः शिवायेति एतावत् परमं पदम् ।
 अनेन पूजयेलिंगं लिंगे यस्मात् स्थितः शिवः ॥
 १२ लिंगार्चनाद् भुक्तिमुक्तिर्यावज्जीवमतो यजेत् ।
 वरं प्राणपरित्यागो भुजीतापूज्यनैव तम् ॥
 १४ सर्वयज्ञतपोदाने तीर्थे वेदेषु यत्कलम् ।
 तत्कलं कोटिगुणितं स्थाप्य लिंगं लमेन्नरः ।
 १५ त्रिसन्ध्यं योऽर्चयेलिंगं कृत्वा विलवेन पार्थिवम् ।
 शतैकादशिकं यावत् कुलमुद्धृत्य नाकभाक् ॥

गणेशमंत्र

३४७

- २१ ओं गं स्वाहा मूल मंत्रोऽयं गं वा गणपतये नमः ।
 पडंगो रक्तशुक्लश्च दन्ताक्षपरशूक्तकः ॥
 २३ कृष्माएडाय एकदन्ताय त्रिपुरान्तकायेति.....मेघोल्काय...
 विघ्नेश्वराय...भुजगेन्द्रहाराय शशांकधराय गणाधिपतये स्वाहा ।

गणेश पुराण

एकेश्वर गणेश

१

- २० शिवे विष्णौ च शक्तौ च सूर्ये मयि नराधिप ।
 योऽमेदबुद्धियोंगः स सम्यग् योगतमो मतः ॥

१

- २१ अहमेव जगद् यस्मात् सुजामि पालयामि च ।
 कृत्वा नानाविधं वेशं संहरामि स्वलीलया ॥

”

- २२ अहमेव महाविष्णुरहमेव सदाशिवः ।
 मोहयत्यखिलान् माया श्रेष्ठान् मम नरान् अमूर्न ॥

अध्या०

श्लो०

गणेश के अवतार

- ३ ६ अनेकानि च ते जन्मान्यतीतानि ममापि च ।
संस्मरे तानि सर्वाणि न स्मृतिस्तव वर्तते ॥
- ” ७ मत्त एव महाबाहो जाता विष्णवादयः सुराः ।
मथ्येव च लयं यान्ति प्रलयेषु युगे युगे ॥
- ” ८ अहमेवापरो ब्रह्मा महारुद्रोऽहमेव च ।
अहमेकं जगत् सर्वं स्थावरं जंगमं च यत् ॥

गणेश की महिमा

- ६ ११ न मां विंदन्ति पापिष्ठा मायामोहितचेतसः ।
त्रिविकारा मोहयति प्रकृतिर्मम जगत्त्वयम् ॥
- ” १६ ब्रह्मा-विष्णु-शिवेन्द्रादयान् लोकान् प्राप्य पुनः पतेत् ।
यो मामुपैत्यसंदिग्धः पतनं तरय न क्वचित् ॥

गणेश की उपासना का फल

- ७ २३ योऽसितोऽथ दुराचाराः पापास्त्रैवर्णिकास्तथा ।
मदाश्रये विमुच्यन्ते किं मदभक्ता द्विजातयः ॥

गणेश का विश्वरूप

- ८ ८ वीक्षेऽहं तव देहैऽस्मिन् देवान् ऋषिगणान् पितॄन् ।
९ ९ पातालानां समुद्राणां द्वीपानां चापि भूभूतान् ।
” १० ब्रह्म-विष्णु-महेशन्द्रान् देवान् जन्तुन् अनेकधा ।
” २० त्वमिन्द्रोऽग्नियमश्चैव निर्भृतिर्वर्षणो मरुत् ।
गुह्यैकादशस्तथेशानः सोमः सूर्योऽखिलं जगत् ॥

गरुड पुराण

- ७ ५२ मध्ये पितामहं चैव तथा देवं महेश्वरम् ।
पूजयेच्च विघानेन गन्धपुष्पादिभिः पृथक् ॥
- १२ ६ उत्तरस्यां रुद्रकुम्मं पूरितं मधुसर्पिषा ।
श्रीरुद्रं स्थापयेत्तत्र श्वेतवस्त्रेण वेष्टितम् ॥
- १६ ६ अस्ति देवः परब्रह्मस्वरूपी निष्कलः शिवः ।
सर्वज्ञः सर्वकर्त्ता च सर्वेशो निर्मलो द्वयः ॥
- ” ७ स्वयं ज्योतिरनाद्यन्तो निर्विकारः परात्परः ।
निर्गुणः सच्चिदानन्दः तदंशाङ्गीजीवसंज्ञकः ॥

२५६

शैव मत

नीलमतपुराण

शिव चतुर्दशी

अध्या०

श्लो०

- ४ ५०८ षष्ठकम्बलहीनं तु लिंगं संस्नापयेद् गुधः ॥
 ” ५११ श्रोतव्यः शिवधर्मश्च प्रादुर्भावश्च तत्कृतः ॥
 ” ५१२ पैष्टाश्च पशवः कार्या नैवेद्ये शंकरस्य च ॥
 ” ५५८ तां रात्रीं लक्षणं काय बलाकानां गृहे गृहे ॥
 ” ५५९ पुंश्लीसहितैनैया क्रीडमानैनिशा तु सा ।
 ब्रह्मचर्येण गीतेन नृत्यैवाद्यैर्मनोहरैः ॥

इन्द्र का प्रश्न

- ” १०८७ सर्वमेतत् त्वमेवैकः त्वतः किमपरं विभो ।
 यन्नतोऽसि महाभाग एतान् मे संशयो महान् ॥

ब्रह्मा का उत्तर

- ” १२४३ मा मा शक वदेदेवमविज्ञातोऽसि पुत्रक ।
 ” १३४४ एष सर्वेश्वरः शक एषः कारणकारणम् ।
 एष चाचिन्त्यमहिमा एष ब्रह्म सनातनम् ॥
 ” १२४५ स एष सर्वकर्ता च सर्वज्ञश्च महेश्वरः ।
 यदिच्छ्या जगदिति वर्वर्ति सचराचरम् ॥

ब्रह्मपुराण

सोम और तारा

- १ २१ उशना तस्य जग्राह पाष्णीमङ्ग्रसस्तथा ।
 रुद्रश्च पाष्णीं जग्राह गृहीत्वाजगवं धनुः ॥
 ” २३ तत्र तद् युद्धमभवत् प्रख्यातं तारकामयम् ।
 देवानां दानवानां च लोकक्षयकरं महत् ॥
 ” २४ तत्र शिष्टास्तु ये देवा स्तुषिताश्चैव ये द्विजाः ।
 ब्रह्माणं शरणं जग्मुरादिदेवं सनातनम् ॥
 १ २५ तदानिवार्योशनसं तं वै रुद्रं च शंकरम् ।
 ददावांगिरसे तारां स्वयमेव पितामहः ॥

‘रामेश्वर’ तीर्थ

- २८ ५६ आस्ते तत्र महादेवस्तीरे नदनदीपतेः ।
 रामेश्वर इति ख्यातः सर्वकामफलप्रदः ॥

अध्या० श्लो०

- २८ ५६ राजसूयफलं सम्यग् वाजिमेघफलं तथा ।
प्राप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धि परमां तथा ॥
” ६२ शाकरं योगमास्थाय ततो मोक्षं व्रजन्ति ते ॥

दक्षयज्ञविध्वंस

- ३४ १ योऽसौ सर्वगतो देवस्त्रिपुरारिस्त्रिलोचनः ।
उमाप्रियकरो रुद्रश्चन्द्राधर्कृतशेखरः ॥
” २ विद्राव्य विबुधान् सर्वान् सिद्धविद्याधरान् ऋषीन् ।
गन्धर्वयज्ञनागांश्च तथान्यांश्च समागतान् ॥
” ३ जघान पूर्वं दक्षस्य यजतो धरणीतिले ।
यज्ञं समृद्धं रत्नादृशं सर्वसंभारसंभृतम् ॥
” ४ यस्य प्रतापसंत्रस्ताः शकाद्यस्त्रिदिवौकसः ।
शान्तिं न लेभिरेविप्राः कैलासं शरणं गताः ॥
” ५ स आस्ते तत्र वरदः शूलपाणिर्बृपद्धजः ।
पिनाकपाणिर्भगवान् दक्षयज्ञविनाशनः ॥
” ६ महादेवोऽकले देशे कृतिवासा वृषध्वजः ।
एकाम्रके मुनिश्रेष्ठः सर्वकामप्रदो हरः ॥
” ११ नाजुहावात्मजां तां वै दक्षो रुद्रम् अभिद्विष्टन् ।
अकरोत् सन्तिं दक्षे न च कंचिन् महेश्वरः ॥
” १६ त्वतः श्रेष्ठा वरिष्ठाश्च पूज्या वालाः सुता मम ।
तासां ये चैव भर्तारः ते मे बहुमताः सति ॥
” १६ तैश्चापि स्पर्धते शर्वः सर्वे ते चैव तं प्रति ।
तेन त्वां न बुभूपामि प्रतिकूलो हि मे भवः ॥
” ३४ यस्मात् त्वं मत्कृते क्रूर ऋषीन् व्याहृतवान् असि ।
तस्मात् साधैः सुरैर्यज्ञै न त्वां यद्यन्ति वै द्विजाः ॥
” ३५ कृत्वाद्वृतिं तव क्रूर आपः स्पृशति कर्मसु ।
इहैव वत्स्यसे लोके दिवं हित्वा युगक्षयात् ॥

शिव का वर्णन

- ३४ १०१ महेश्वरः पर्वतलोकवासी चराचरेशः प्रथमोऽप्रमेय ।
विनेन्दुनाहीनसमानवर्चा विभाति रूपमवनीस्थितो यः ॥

शिव का विकृत रूप

- ३५ ५ विकृतं रूपमास्थाय हृवो वाङ्कुप एव च ।
विभग्नासिको भूत्वा कुञ्जः केशान्तपिंगलः ॥
” ६ उवाच विकृतास्यश्च देवि त्वां वरयाम्यहम् ॥

अध्या०

श्लो०

इन्द्र का भुजस्तम्भन और शिव का दार्शनिक स्वरूप
 ३६ स वाहुरुत्थितस्तस्य तथैव समतिष्ठत ।
 स्तम्भितः शिशुरुपेण देवदेवेन शंभुना ॥
 ” पुराणैः सामसंगीतैः पुण्याख्यैर्गुह्यनामभिः ।
 अजस्त्वमजरो देवः स्त्रा विमुः परापरम् ॥
 ” प्रधानपुरुषो यस्त्वं ब्रह्मध्येयं तदक्षरम् ।
 अमृतं परमात्मा च ईश्वरः कारणं महत् ॥
 ” ब्रह्मसुक् प्रकृतेः स्त्रा सर्वकृत् प्रकृतेः परः ।
 इयं च प्रकृतिदैवी सदा ते सुष्टिकारणम् ॥
 ” पत्नीरूपं समास्थाय जगत्कारणमागता ।
 नमस्तुभ्यं महादेव देव्या वै सहिताय च ॥
 ” देवाद्यास्तु इमा सृष्टा मूढास्त्वद्योगमायया ॥
 ” मूढाश्च देवता सर्वा नैनं बुद्ध्यत शंकरम् ॥
 ” ततस्ते रत्नभिताः सर्वे तथैव त्रिदिवौकसः ।
 प्रणेमुर्मनसा शर्वं भावशुद्धे न चेतसा ॥

देवताओं द्वारा शिवस्तुति

३७ नमः पर्वतलिंगाय पवनवेगाय विरूपाय जिताय च.....
 ” नीलशिखएडायाम्बिकापतये शतरूपाय.....
 ” कपालमालाय कपालसूत्रवारिणो कपालहस्ताय दण्डने गदिने...
 ” त्रैलोक्यनाथाय पशुलोकरताय खट्टवांगहस्ताय.....
 ” कृष्णकेशापहारिणो.....
 ” कालकालाय.....
 ” दैत्यानां योगनाशाय योगिनां गुरवे.....
 ” शमशानरतये शमशानवरदाय.....
 ” गृहस्थसाधवे जटिले ब्रह्मचारिणो मुण्डार्घमुण्डाय
 पशुनांपतये.....
 ” सांख्याम्.....
 ” प्रधानायाप्रमेयाय कार्याय कारणाय.....
 ” पुरुषसंयोगप्रधानगुणकारिणो.....
 उमा की माता द्वारा शिव की निन्दा
 ३० दरिद्रा क्रीडनैस्त्वं हि भर्ता क्रीडसि संगता ॥
 ” ये दरिद्रा भवन्ति स्म तथैव च निराश्रयाः ।
 उमे त एव क्रीडन्ति यथा तव पतिः शुभे ॥

अध्या०

श्लो०

शिव का उत्तर

- ३० ३६ एवमेव न संदेहः कस्मान्मन्युरभृत् तव ।
कृत्तिवासा द्युवासाश्च श्मशाननिलयश्च ह ॥
- ” ३७ अनिकेतो हिरण्येषु पर्वतानां गुहासु च ।
विचरामि गणैनम्नैर्वृतोऽम्भोजविलोचने ॥
- ” ३८ मा क्रुधो देवि मात्रे त्वं तथ्यं मातावदत् तव ॥

दक्षयज्ञविध्वंस

- ३९ ३१ सन्ति मे बहवो रुद्राः शूलहस्ताः कपर्दिनः ।
एकादशस्थानगता नान्यं विद्वा महेश्वरम् ॥

दधीचि का कथन

- ” ३२ सर्वेषामेकमंत्रोऽयं ममेशो न निमंत्रितः ।
यथाहं शंकराद् ऊर्ध्वं नान्यं पश्यामि दैवतम् ॥

शिव द्वारा सती के प्रश्न का समाधान

- ” ३३ सुरैरेव महाभागे सर्वमेतदनुष्ठितम् ।
यज्ञेषु मम सर्वेषु न भाग उपकल्पितः ॥
- ” ३६ पूर्वागतेन गन्तव्यं मार्गेण वरवर्णिनि ।
न मे सुरा प्रयच्छन्ति भागं यज्ञस्य धर्मतः ॥

बीरभद्र को शिव का आदेश

- ” ४६ तसुवाच मखं गच्छ दक्षस्य त्वं महेश्वरः ।
नाशयाशु क्रतुं तस्य दक्षस्य मदनुज्ञया ॥

ब्रह्मा द्वारा शिव की तुष्टि

- ” ८५ भवतेऽपि सुरा सर्वे भागं दास्यन्ति वै प्रभो ।
क्रियतां प्रतिसंहारः सर्वदेवेश्वर त्वया ॥

दक्ष द्वारा शिवस्तुति

- ४० ५ गजेन्द्रकर्णो गोकर्णः शतकर्णो……
” ८ त्वतः शरीरे पश्यामि सोममग्नि जलेश्वरम् ।
आदित्यमथ विष्णुं च ब्रह्माणं सबृहस्पतिम् ॥
- ” १८ स्थिताय धावमानाय कुञ्जाय कुटिलाय च ॥

अध्यात्

श्लोक

- ४० २० नमो नर्तनशीलाय मुखवादित्रकारणे ॥
 " २२ नमो कपालहस्ताय सितभरमप्तियाय च ।
 " ३६ सांख्याय सांख्यमुख्याय योगाधिपतये नमः ॥
 " ४० नमोऽन्नदानकर्त्रे हि तथान्नप्रभवे नमः ॥
 " ६३ मृत्युश्चैवाक्षयोऽनश्च ज्ञामा माया करोत्करः ॥
 " ६६ क्वराक्षरः प्रियो धूतों गणेशं एयो गणाधिपः ॥
 " ६७ शिल्पीशः शिल्पिनः श्रेष्ठः सर्वशिल्पप्रवर्तकः ॥
 " ७८ व्याधीनाम् अकरोत्करः
 " ६८ अथवा मायया देव मोहिता सूक्ष्मया तव ।
 तस्मात् कारणाद्वापि त्वं मया न निर्मन्त्रितः ॥
 " १२६ न यक्षा न पिशाचा वा न नागा न विनायकाः ॥
 कुर्युविन्दनं एहै तस्य यत्र संस्तूयते भवः ॥

एकाग्रक तीर्थ

- ४३ ११ लिंगकोटिसमायुक्तं वाराणसीसमं शुभम् ।
 एकाग्रकेति विख्यातं तीर्थार्थिकसमन्वितम् ॥
 " ५० आस्ते तत्र स्वयं देवः कृत्तिवासा वृषध्वजः ॥
 " ७६ तस्मिन् क्षेत्रवरे लिंगं भास्करेश्वरसंज्ञितम् ॥

अवन्ती में महाकाल

- " ६५ तत्रास्ते भगवान् देवस्त्रिपुरारिस्त्रिलोचनः ॥
 " ६६ महाकालेति विख्यातः सर्वकामप्रदः शिवः ॥
 " ७० संपूज्य विधिवद् भक्त्या महाकालं सकृच्छिवम् ।
 अश्वमेघसहस्रस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥

मदनदहन

- ७१ ३६ शंभुं दृष्ट्वा सुरगणा यावत् पश्यन्ति मन्मथम् ।
 तावच्च भस्मसाद्भूतं कामं दृष्ट्वा भयातुराः ।
 तुष्टुवुस्त्रिदशेशानं कृतंजलिपुटाः सुराः ॥
 " ४० तारकाद् भयमापन्नं कुरु पत्नीं गिरेः सुताम् ।
 " ४१ विद्वचित्तो हरोऽप्याशु मेने वाक्यं सुरोदितम् ।
 अरुन्धतीं वसिष्ठं च मां तु चक्रधरं तथा ॥
 " ४२ प्रेषयामासुरपरा विवाहाय परस्परम् ॥

अध्या० श्लो०

कपिल द्वारा भगीरथ को शिवार्चना का आदेश

७७ ५४ कैलासं तं नरश्रेष्ठ गत्वा स्तुहि महेश्वरम् ।
तपः कुरु यथाशक्ति ततश्चेप्सितमाप्स्यसि ॥

शिव की अष्टमूर्त्ति का उल्लेख

६७ २१ त्वमष्टमूर्त्या सकलं विभर्षि,
त्वदाज्ञया वर्तत एव सर्वम् ।

शिव की महिमा

१०० १६ लोकत्रयैकाधिपतेर्नयस्य, कुत्रापि वरतून्यभिमानलेशः ।
स सिद्धनाथोऽखिलविश्वकर्ता, भर्ता शिवाय भवतु प्रसन्नः ॥

चक्रतीर्थ

१०६ २ यत्र विष्णुः स्वयं देवश्चकार्थं शंकरं प्रभुम् ।
पूजयामास तत्तीर्थं चक्रतीर्थमुदाहृतम् ॥

एकेश्वर शिव

११० १०० सर्वाणि कर्माणि विहाय धीरा—
स्त्यक्तैषणा निर्जितचित्तवाताः ।
यं यान्ति मुक्त्यै शरणं प्रयत्नात्
तमादिदेवं प्रणामामि शंसुम् ॥

गणेशस्तुति

११४ ७ न विघ्राजेन समोऽस्ति कश्चित्
देवो मनोवांछितसंप्रदाता ।
निश्चित्य चैतत् त्रिपुरान्तकोऽपि,
तं पूजयामास वधे पुराणाम् ॥

११४ १० यो मातुरुस्संगगतोऽथ मात्रा
निवार्यमाणोऽपि बलाच्च चन्द्रम् ।
संगोपयामास पितुर्जटासु,
गणाधिनाथस्य विनोद एष ॥

,, १३ यो विघ्नपाशं च करेण विभ्रत् ।
स्कन्धे कुठारं च तया परेण ॥

,, १५ स्वातंत्र्यसामर्थ्यकृतातिगर्वं,
भ्रातृप्रियं त्वाखुरथं तमीडे ॥

अध्या० श्लो०

इन्द्र द्वारा शिवस्तुति

- १२६ ६८ स्वमायया यो ह्यखिलं चराचरं,
सृजत्यवत्यति न सज्जतेऽस्मिन् ।
- ” ६६ न यस्य तत्वं सनकादयोऽपि,
जानन्ति वेदान्तरहस्यविज्ञाः ॥
- ” ७१ पापं दरिद्रं त्वथ लोभयाऽच्चा,
मोहो विषच्चेति ततोऽप्यनन्तम् ।
अवेद्य शर्वं चकितः सुरेशो,
देवीमवोचजगदस्तमेति ॥
- ” ७२ त्वं पाहि लोकेश्वरि लोकमातर् —
उमे शरणे सुभगे सुभद्रे ॥
- ” ८१ एके तकैर्विमुद्घन्ति लीयन्ते तत्र चापरे ।
शिवशक्त्योस्तददै तं सुन्दरं नौमि वियहम् ॥

ब्रह्मा, विष्णु और शिव का अद्वैत

- १३० १० ब्रह्मा विष्णुः शिवश्चेति देवानां तु परस्परम् ।
त्रयाणामपि देवानां वेद्यमेकं परं हि तत् ॥
- ” १७ यद्यप्येषां न मेदोऽस्ति देवानां तु परस्परम् ।
तथापि सर्वसिद्धिः स्यात् शिवादेव सुखात्मनः ॥
- ” १८ प्रपञ्चस्य निमित्तं यत् तज्ज्योतिश्च परं शिवः ॥
तमेव साधय हरं भक्त्या परमया सुने ॥
- ” २३ काष्ठेषु वह्निः कुसुमेषु गन्धो, बीजेषु वृक्षादि इष्टसु हेमं ।
भूतेषु सर्वेषु तथास्ति यो वै, तं सोमनाथं शरणं व्रजामि ॥
- ” २६ येन त्रयी धर्ममवेद्य पूर्वं ब्रह्मादयस्तत्र समीहिताश्च ।
एवं द्विधा येन कृतं शरीरं सोमेश्वरं तं शरणं व्रजामि ॥

शिवस्तुति

- ११५ ७ नमस्त्रैलोक्यनाथाय दक्षयज्ञविभेदिने ।
आदिकर्त्रे नमस्तुभ्यं नमस्त्रैलोक्यरूपिणो ॥
- ” ६ सर्वदा सर्वरूपाय कालरूपाय ते नमः ।
पाहि शंकर सर्वेश पाहि सोमेश सर्वगं ॥

आत्मतीर्थ

- ११६ १ आत्मतीर्थमिति ख्यातं भुक्तिमुक्तिप्रदं वृणाम् ।
तस्य प्रभावं वद्यामि यत्र ज्ञानेश्वरः शिवः ॥

अध्यात्र श्लो०

राम द्वारा शिवस्तुति

- | | | |
|-----|-----|--|
| १२३ | १६५ | नमामि शंभुं पुरुषं पुरुणं, नमामि सर्वज्ञमपारभावम् ।
नमामि रुद्रं प्रभुमक्षरं तं नमामि शर्वं शिरसा नमामि ॥ |
| " | २०० | नमामि वेदत्रयलोचनं तं, नमामि मूर्तित्रयवर्जितं तम् । |
| " | २०२ | यज्ञे क्षरं संप्रति हव्यकव्यं तथागर्ति लोकसदः शिवो यः ॥ |
| " | २६५ | नमाम्यजादीशपुरन्दरादिसुरासुरैरर्चितपादपद्मम् ।
नमामि देवीमुखवादनानामीक्षार्थभक्षित्रितयं च ऐच्छत् ॥ |

वेद भी शिवाधीन हैं

- | | | |
|-----|----|---|
| १२२ | ३७ | परतंत्रा वर्यं तात ईश्वरस्य वशानुगाः ।
अशेषजगदाधारो निराधारो निरंजनः ॥ |
| " | ३८ | सर्वशक्त्यैकसदनं निधानं सर्वसंपदाम् ।
स तु कर्त्ता महादेवः संहर्ता स महेश्वरः ॥ |
| " | ४६ | न त्वां जानन्ति निगमा न देवा मुनयो न च ।
न ब्रह्मा नापि वैकुण्ठो योऽसि सोऽसि नमोस्तुते ॥ |

स्कन्द-जन्मकथा

- | | | |
|-----|----|--|
| १२८ | ७ | ततः कतिपये काले तारकाद् भयमागते ।
अनुत्पन्ने कार्तिकेये चिरकालरहीगते ॥ |
| " | ८ | महेश्वरे भवान्यां च त्रस्ता देवाः समागताः ॥*** |
| " | ४४ | विश्वस्य जगतो धाता विश्वमूर्तिनिरंजनः ।
आदिकर्ता स्वयंभूर्श्च तन्मामि जगत्पतिम् ॥ |

लिंग की उत्पत्ति

- | | | |
|-----|---|---|
| १३५ | २ | ब्रह्माविष्णवोश्च संवादे महत्वे च परस्परम् ।
तयोर्मध्ये महादेवो ज्योतिर्मूर्तिरभूत् किल ॥ |
| " | ३ | तत्रैव वागुवाचेदं दैवी पुत्रं तयोः शुभा । |
| " | ४ | दैवीवाक् तातुभौ प्राह यस्त्वस्यानं तु पश्यति ।
स तु ज्येष्ठो भवेत् तस्मान्मा वादं कर्तुं मर्हथ ॥ |

राम द्वारा शिवलिंग की पूजा

- | | | |
|-----|----|---|
| १५७ | २१ | एवं तु पंचाहवमैषिरे ते स्वं स्वं प्रतिष्ठापितर्लिंगमर्च्य ॥ |
| " | २४ | ये श्रद्धानाः शिवलिंगपूजां निधाय कृत्यं न समाचरन्ति ॥ |
| " | २५ | यथोचितं ते यमकिकरैहि, पश्यन्त एवाखिलदुर्गतीषु ॥*** |

अध्यात्र श्लो०

शिव के मूर्त और अमूर्त रूप

- १६२ १७ नैव कश्चित् तं वेत्ति यः सर्वं वेत्ति सर्वदा ।
अमूर्तं मूर्तमप्येतद् वेत्ति कर्ता जगन्मयः ॥
- ” २८ स एव रुद्ररूपी स्याद् रुद्रो मन्युः शिवोऽभवत् ।
स्थावरं जंगमं चैव सर्वं व्यासं हि मन्युना ॥

उषा-अनिरुद्ध की कथा

- २०६ १३ ययौ वाणपुरम्याशं नीत्वा तान् संक्षयं हरिः ।
- ” १४ ततस्तिपदस्त्रिशिरा ज्वरो माहेश्वरो महान् ।
वाणरक्षार्थमत्यर्थं युयुधे शाङ्कधन्वना ॥
- ” १६ ततः संयुध्यमानस्तु सह देवेन शाङ्किणा ।
वैष्णवेन ज्वरेणाशु कृष्णदेहान्निराकृतः ॥
- ” २१ ततः समस्तसैन्येन दैतेयानां वलेः सुताः ।
युयुधे शंकरश्चैव कार्तिकेयश्च सौरिणा ॥
- ” २२ हरिशंकरयोर्युद्धमतीवासीत् सुदारुणम् ।
चुन्नुभुः सकला लोकाः शस्त्रास्त्रैवद्गुह्यादिताः ॥
- ” २४ जृम्भेणास्त्रेण गोविन्दो जृम्भयामास शंकरम् ।
ततः प्रणेणुदैत्याश्च प्रमथाश्च समन्ततः ॥

वाणासुर की ओर से शिव द्वारा कृष्ण से अनुनय

- ” ४१ कृष्ण कृष्ण जगन्नाथ जाने त्वां पुरुषोत्तमम् ।
परेषां परमात्मानम् अनादिनिधनं परम् ॥
- २०६ ४२ देवतिर्यङ्मनुष्येषु शरीरग्रहणात्मिका ।
लीलेयं तव चेष्टा हि दैत्यानां वधलक्षणा ॥

कृष्ण का उत्तर

- ” ४६ युम्भदत्तवरो वाणो जीवतादेष शंकर ।
- ” ४७ त्वया यदभयं दत्तं तदत्तमभयं मया ॥
मत्तोऽविभिन्नमात्मानं द्रष्टुर्महसि शंकर ॥

ब्रह्मवैवर्तं पुराण

- भाग अध्यात्र श्लो० कृष्ण का उत्कर्ष
- १ १ १ गणेशब्रह्मे शसुरेशेषाः सुराश्च सर्वे मनवो मुनीन्द्राः ।
सरस्वतीशीगिरिजादिकाश्च नमन्ति देव्यः प्रणमामि तं विभुम् ॥
- ” ” ४ वन्दे कृष्णं गुणातीतं परं ब्रह्माच्युतं यतः ।
आविर्बूतुः प्रकृतिब्रह्मविष्णुशिवादयः ॥

भाग अध्या० श्लो०

कृष्ण के वामांग से शिव का प्रादुर्भाव

१	३	१८	आविर्बभूव तत्पश्चाद् आत्मनो वामपाश्वर्तः ।
	"	२०	शुद्धस्फटिकसंकाशः पंचवक्त्रो दिगम्बरः ॥
"	"	२२	सर्वसिद्धेश्वरः सिद्धो योगीन्द्राणां गुरोर्गुरुः ॥
"	"	२३	वैष्णवानां च प्रबरः प्रज्वलन् ब्रह्मतेजसा ॥
"	"		श्रीकृष्णपुरतः स्थित्वा तुष्टाव तं पुटाङ्गजिः ॥

शिव द्वारा देवी की निन्दा

१	६	४	ततः शंकरमाहूय सर्वेशो योगिनां गुरुम् ।
	"	६	उवाच प्रियमित्येवं गृहीयाः सिंहवाहिनीम् ॥
"	"	७	अधुनाहं न गृह्णामि प्रकृतिं प्राकृतो यथा ।
	"	८	त्वद् भक्त्यैकव्यवहितां दास्यमार्गविरोधिनीम् ॥
"	"	९	तत्त्वज्ञानसमाच्छङ्गां योगद्वारकपाटिकाम् ।
	"	१०	मुक्तीच्छाध्वंसस्थां च सकामां कामवर्धिनीम् ॥
"	"	११	तपस्याच्छङ्गरूपां च महामोहकरण्डिकाम् ।
	"	१२	भवकारागृहे घोरे दृढां निगडरूपिणीम् ॥
"	"	१३	शश्वद् विद्युद्धिजननीं सद्युद्धिच्छेदकारिणीम् ।
	"	१४	शश्वद् विभोगसारां च विषयेच्छाविवर्धिनीम् ॥
"	"	१५	नेच्छामि गृहिणीं नाथ वरं देहि मदीप्सितम् ॥

विष्णु का कथन

"	"	२६	मत्सेवां कुरु सर्वेशं सर्वसर्वविदां वर ॥
"	"	२७	अद्यप्रभृति ज्ञानेन तेजसा वयसा शिव ।
"	"	३१	त्वत् परो नास्ति मे प्रेयास्त्वं मदीयात्मनः परः ।
"	"		ये त्वां निन्दन्ति पापिष्ठा ज्ञानहीना विचेतनाः ॥
"	"	३२	पच्यन्ते कालसूत्रेण यावच्चन्द्रिदिवाकरौ ॥
"	"	४६	कृत्वा लिंगं सकृत् पूज्य वसेत् कल्पायुतं दिवि ।
"	"	४७	ज्ञानवान् मुक्तिवान् साधुः शिवलिंगार्चनाद् भवेत् ।
			शिवलिंगार्चनस्थानमतीर्थं तीर्थमेव तत् ॥

विष्णु का दुर्गा के प्रति कथन

"	"	५५	अधुना तिष्ठ बत्से त्वं गोलोके मम सन्निधौ ।
			काले भजिष्यसि शिवं शिवदं च शिवायनम् ॥
"	"	६०	काले सर्वेषु विश्वेषु महापूजासुपूजिते ।
			भविता प्रतिवर्षे च शारदीया सुरेश्वरी ॥

भाग अध्याय० श्लो०

- १ ६ ६१ ग्रामेषु नगरेष्वेव पूजिता ग्रामदेवता ।
भवती भवितेत्येवं नामभेदेन चारणा ॥
- ” ” ६२ मदाज्ञया शिवकृतैस्तंत्रैर्नानाविघैरपि ।
पूजाविधिं विधास्यामि कवचं स्तोत्रसंयुतम् ॥
- ” ” ६४ ये त्वां मातर्भजिष्यन्ति पुण्यक्षेत्रे च भारते ।
तेषां यशश्च कीर्तिश्च धर्मैश्वर्यै च वर्धते ॥

शिव द्वारा विष्णु का उत्कर्ष

- ” १२ २२ यस्य भक्तिहरौ वत्स सुहृदा सर्वमंगला ।
स समर्थः सर्वविश्वं पातुं कर्तुं च लीलया ॥

शिवलोक

- ” २५ ८ लोकं त्रिलोकाच्च विलक्षणं परं, भीमुत्युरोगार्तिजराहरं वरम् ॥
- ” ” १० प्रतसहेमाभजटाधरं विभुः, दिग्मवरं ...
कृष्णेति नामेव मुदा जपन्तम् ॥
- ” ” १२भक्तजनैकबन्धुम् ।

कृष्णाभक्त भगीरथ

- २ १० १५ वैष्णवो विष्णुभक्तश्च गुणवान् अजरामरः ॥
- ” ” १६ तपः कृत्वा लक्ष्मवर्षं गङ्गानयनकारणात् ।
ददर्श कृष्णं हृष्टस्यं सूर्यकोटिसमप्रभम् ॥

देवासुरपूज्य शिव

- ” १८ ७४ तत्रावयोर्विरोधे च गमनं निष्फलं तव ।
समसम्बन्धिनोर्बन्धोरीश्वरस्य महात्मनः ॥
- ” ६१ ३७ उभयेषां गुरुः शंसुर्मान्यो वन्दश्च सर्वतः ।
धर्मश्च साक्षी सर्वेषां त्वमेव च पितामहः ॥

विष्णु का उत्कर्ष

- ” ” ५६ ततो न बलवाज्ञ्छंसुर्न च पाशुपतं विधे ।
न च काली न शेषश्च न च रुद्रादयः सुराः ॥
- ” ” ५८ षोडशांशो भगवतः स चैव हि महान् विराट् ।

देवी का उत्कर्ष

- ” ६४ ६ ब्रह्मविष्णुशिवादीनां पूज्यां वन्यां सनातनीम् ।
नारायणीं विष्णुमायां वैष्णवीं विष्णुभक्तिदाम् ॥

भाग अध्या० इतो०

- | | | | |
|---|----|----|--|
| २ | ६४ | १० | सर्वस्वरूपां सर्वेषां सर्वाधारां परात्पराम्
सर्वविद्या-सर्वमंत्र-सर्वशक्तिस्वरूपिणीम् ॥ |
| " | " | १४ | दुर्गां शतभुजां देवीं महद्दुर्गतिनाशिनीम् ।
त्रिलोचनप्रियां साध्वीं त्रिगुणां च त्रिलोचनाम् ॥ |
| " | " | ४४ | कृत्वा च वैष्णवीपूजां विष्णुलोकं ब्रजेत् सुधीः ।
माहेश्वरीं च संपूज्य शिवलोकं च गच्छति ॥ |
| " | " | ४८ | माहेश्वरी राजसी च बलिदानसमन्विता ।
शक्तादयो राजसाश्र कैलासं यान्ति ते तथा ॥ |
| " | " | ४६ | किरातास्त्रिविं यान्ति तामस्या पूजया तया ॥ |

देवी को बलिदान

- | | | | |
|---|----|-----|--|
| " | " | ६२ | बलिदानविधानं च श्रूयतां मुनिसत्तम् ।
मायाति महिषं छागं दयाम्भेषादिकं शुभम् ॥ |
| " | " | ६५ | मांसं सुपकादिफलैरदरतैरिति नारद । |
| " | " | ६६ | युवकं व्याधिहीनं च सशृङ्गं लक्षणान्वितम् ।
विशुद्धमविकाराङ्गं सुवर्णं पुष्टमेव च ॥ |
| " | " | १०० | मायातीनां स्वरूपं च श्रूयतां मुनिसत्तम् ।
वद्याम्भथर्वदोक्तं फलहानिर्वर्तिक्रमे ॥ |
| " | ६५ | १० | बलिदानेन विप्रेन्द्र दुर्गाप्रीतिमंवेन्दृणाम् ।
हिंसाजन्यं न पापं च लभते यज्ञकर्मणि ॥ |
| " | " | २३ | ब्रह्मविष्णुशिवादीनामहमाद्या परात्परा ।
सगुणा निर्गुणा चापि वरा स्वेच्छामयी सदा ॥ |
| " | " | २४ | नित्यानित्या सर्वरूपा सर्वकारणकारणम् ।
बीजरूपा च सर्वेषां मूलप्रकृतिरीश्वरी ॥ |

स्कन्दजन्म की कथा

- | | | | |
|---|---|----|---|
| ३ | १ | ४१ | दृष्ट्वा सुरान् भयातांश्च पुनः स्तोतुं समुद्यतान् ।
विजहौ सुखसंभोगं कण्ठलग्नां च पार्वतीम् ॥ |
| " | " | ४२ | उत्तिष्ठतो महेशस्य त्रासलजायुतस्य च ।
भूमौ पपात तद्वीर्यं ततः स्कन्दो बभूव ह ॥ |

विष्णु का शिव-पार्वती को सन्तान देने का वचन

- | | | | |
|---|---|----|---|
| " | ६ | ६१ | स्वयं गोलोकनाथस्त्वं पुण्यकस्य प्रभावतः ।
पार्वतीर्गम्भजातश्च तव पुत्रो भविष्यति ॥ |
|---|---|----|---|

२६८

शैव मत

भाग अध्या० श्लो०

३	६	६३ यस्य स्मरणमात्रेण विघ्नाशो भवेद् ग्रुवम् । जगतां हेतुनाऽनेन विघ्निनाभिधो विभुः ॥
"	"	६५ शनिवृद्ध्या शिरच्छेदाद् गजवक्त्रेण योजितः । गजाननः शिशुस्तेन सर्वेषां सर्वसिद्धिदः ॥
"	"	६६ दन्तभंगः परशुना परशुरामस्य वै यतः । हेतुना तेन विख्यातश्चैकदन्ताभिधः शिशुः ॥
"	"	६८ पूजासु सर्वदेवानामग्रे संपूज्य तं जनः । पूजाफलमवाप्नोति निर्विघ्नेन वृथाऽन्यथा ॥
"	"	१०० गणेशपूजने विघ्नं निर्मूलं जगतां भवेत् ॥

गणेश को शिव की उपाधियाँ

"	१३	४१ ईशत्वां स्तौतुः.....
"	"	४२ सिद्धानां योगिनां गुरुः.....
"	"	४४ स्वयं प्रकृतिरूपञ्च प्राकृतं प्रकृतेः परम्.....

देवी का उत्कर्ष

"	३६	२६ नमः शंकरकान्तायै सारायै ते नमोनमः ।
"	"	३१ प्रसीद जगतां मातः सृष्टिसंहारकारिणि ॥

ब्रह्मारण पुराण

शिव के गणों की उत्पत्ति

२	६	२३ अभिमानात्मकं रुद्रं निर्ममे नीललोहितम् ।
"	"	६८ प्रजाः सृजेति व्यादिष्टो ब्रह्मणा नीललोहितः । सोऽभिध्याय सतीं भार्यां निर्ममे चामसंभवान् ॥
"	"	७० तुल्यानेवात्मना सर्वान् रूपतेजोवलश्रौतैः । पिंगलान् सनिषङ्गांश्च कपर्दीं नीललोहितान् ॥
"	"	७१ विशिखान् हीनकेशांश्च दृष्टिमास्तां कपालिनः । महारूपान् विरूपांश्च विश्वरूपांश्च रूपिणः ॥
"	"	७४ अतिमेद्रोयकायांश्च शितिकण्ठोयमन्युकान् ।
"	"	६२ एवमेव महादेवः सर्वदेवनमस्तृतः । प्रजामनुव्यामां सृष्ट्वा सर्गाद् उपरराम ह ॥

दक्षयज्ञविवर्वंस की कथा

"	१३	४५ तासां ज्येष्ठा सती नाम पत्नी या ऋम्बकस्य वै ।
---	----	--

भाग अध्या० श्लो०

२ १३ ४६ नाजुहावात्मजां तां वै दक्षो रुद्रमभिद्विषन् ।
अकरोत् सन्नति दक्षे न कदाचिन्महेश्वरः ॥

सागर-मन्थन की कथा

„ २५ ६० विषं कालानलप्रख्यं कालकूटमिति स्मृतम् ।
येन प्रोद्धूतमात्रेण न व्यराजन्त देवताः ॥
„ „ ६१ तस्य विष्णुरहं वापि सर्वे वा सुरपुंगवाः ।
न शङ्कुवन्ति वै सोङ्दुं वेगमन्यत्र शङ्करात् ॥

विष्णु द्वारा शिव का उत्कर्ष

„ २६ ६ यः सृष्टा सर्वभूतानां कालः कालकरः प्रभुः ।
येनाहं ब्रह्मणा साद्दै सृष्टा लोकाश्च मायया ॥

ऋषि-पत्नियों की कथा

„ २७ १० ततस्तेषां प्रसादार्थं देवस्तद्वनमागतः ।
भस्मपाएहुरदिव्याङ्गो नग्नो विकृतलक्षणः ॥
„ „ ११ विकृतस्तकेशश्च करालदशनस्तथा ।
उल्मुकव्यग्रहस्तश्च रक्तपिंगललोचनः ॥
„ „ १२ शिशनं सवृष्टयं तस्य रक्तगैरिकसन्निभम् ।
मुखमंगारवर्णेन शुक्लेन च विभूषितम् ॥
„ „ १३ क्वचित् स हसते रौद्रं क्वचिद् गायति विस्मितः
क्वचिन्नृत्यति शृंगारी क्वचिद् रौति मुहुर्मुहुः ॥
„ „ १४ नृत्यन्तं रुद्धुस्तूण्णं पत्न्यस्तेषां विमोहिताः ।
आश्रमेऽभ्यागतोऽभीक्षणं याचते च पुनः पुनः ॥
„ „ १५ भार्या कृता तथारूपा वृणामरणभूषिता ।
वृषनादं प्रगर्जन् वै खरनादं ननाद च ॥
„ „ १६ तथा वंचितुमारब्धो हासयन् सर्वदेहिनः ।
ततस्ते मुनयः कुद्धा, क्रोधेन कलुपीकृताः ॥
„ „ १७ मोहिता मायया सर्वे शपितुं समुपस्थिताः ।
खरवद् गायसे यस्मात् खरस्तस्माद् भविष्यसि ॥
„ „ १८ शेषुः शापैस्तु विविघ्स्तं देवं सुवनेश्वरम् ।
यतीनां वा तथा धर्मो नायं दृष्टः कथंचन ।
अनयस्तु महान् एष येनायं मोहितो द्विजः ॥
„ „ २० लिंगं प्रपातयस्वैतं नायं धर्मस्तपस्विनाम् ।
वदस्व वाचा मधुरं वस्त्रमेकं समाश्रय ॥

भाग अध्या० श्लो०

२ २७ ३१ त्याजिते च त्वया लिंगे ततः पूजामवाप्स्यसि ॥

शिव का उत्तर

” ” ३३ ब्रह्मादिदैवतैः सर्वैः किमुतान्यैस्तपौधनैः ।
पातयेयमहं चैतलिङ्गं भो द्विजसत्तमाः ॥

आगे की कथा

” ” ३४ आश्रमे तिष्ठ वा गच्छ वाक्यमित्येव तेऽनुवन् ।
एवमुक्तो महादेवः प्रहृष्टेन्द्रियचेष्टिः ॥
” ” ३५ सर्वेषां पश्यतामेव तत्रैवान्तर्दधे प्रभुः ॥
” ” ४३ स्तुषाणां च दुहितणां पुत्रीणां च विशेषतः ॥
” ” ४४ वर्तमानस्ततः पाश्वैः विपरीताभिलाषतः ।
उन्मत्त इति विज्ञाय सोऽस्माभिरवमानितः ॥
” ” ४५ आकृष्टस्ताडितश्चापि लिंगं चाप्यस्य चोढृतम् ।
तस्य कोषप्रसादार्थं वयं ते शरणं गताः ॥
” ” ५५ दृष्टं वै यादृशं तस्य लिंगमासीन्महात्मनः ।
ताढक् प्रतिकृतिं कृत्वा शूलपाणिं प्रपद्यत ॥
” ” ६२ ये हि मे भस्मनिरता भस्मना दध्यकिल्विषाः ।
यथोक्तकारिण्णो दानाता विग्रा ध्यान-परायणाः ॥
” ” ६३ न तान् परिवदेद् विद्वान् न च तान् अतिलंघयेत् ॥
” ” १०७ असकृच्चाग्निना दग्धं जगत् स्थावरजंगमम् ॥
” ” १०८ भस्मसाध्यं हि तत् सर्वं पवित्रमिदमुत्तमम् ॥
” ” ११५ भस्मत्नानविशुद्धात्मा जितकोषो जितेन्द्रियः ।
मत्समीपमुपागम्य न भूयो विनिवर्तते ॥
” ” ११८ नमा एव हि जायन्ते देवता मुनयस्तथा ।
ये चान्ये मानवा लोके सर्वे जायन्त्यवाससः ॥
” ” ११९ इन्द्रियैरजितैनग्ना दुकूलेनापि संवृताः ।
तैरेव संवृतो गुप्तो न वस्त्रं कारणं स्मृतम् ॥
” ” १२५ दक्षिणोनाथ पन्थनानं ये शमशानानि भेजिरे ॥
” ” १२६ ईशित्वं च वशित्वं च ह्यमरत्वं च ते गताः ॥

स्कन्द-जन्म की कथा

३ १० २२ अन्योन्यप्रीतमनसोरुमाशंकरयोरथ ॥
” ” २३ श्लेषं संसंक्षयोर्ज्ञात्वा शंकितः किल वृत्रहा ।
ताभ्यां मैथुनसक्ताभ्यामपत्योद्भवभीशणा ॥

भाग अध्या० श्लो०

- | | | | |
|---|----|----|--|
| ३ | १० | २४ | तयोः सकाशमिन्द्रेण प्रेषितो हव्यवाहनः ॥ |
| " | " | २६ | उमां देवः समुस्तज्य शुक्रं भूमौ व्यसर्जयत् ॥ |
| " | " | २८ | यदेवं विगतं गर्भं रौद्रं शुक्रं महाप्रभम् । |
| " | " | २९ | गर्भे त्वं धारयस्वैवमेषा ते दण्डधारणा ॥*** |

पार्वती की माता द्वारा शिवनिन्दा

- | | | | |
|---|----|----|---|
| " | ६७ | ३५ | मम पाश्वे त्वनाचारस्त्वं भर्ता महेश्वरः ।
दरिद्रः सर्वथैवेह हा कष्टं लजते न वै ॥ |
|---|----|----|---|

मत्स्य पुराण

अध्या० श्लो०

अग्निसूनु स्कन्द

- | | | |
|---|----|---|
| ५ | २६ | अग्निपुत्रः कुमारस्तु शरस्तम्भे व्यजायत ।
तस्य शाखो विशाखश्च नैगमेयश्च पृष्ठतः ॥ |
| " | २७ | अपत्यं कृत्तिकानां तु कार्तिकेयस्ततः २मृतः ॥ |

पिशाचपति शिव

- | | | |
|---|---|---|
| ८ | ५ | पिशाचरक्षः पशुभूतयक्षवेतालराजं त्वथ शूलपाणिम् ॥ |
|---|---|---|

राजा इल की कथा

- | | | |
|----|----|---|
| ११ | ४४ | जगामोपवनं शंभोरश्वाकृष्टः प्रतापवान् ।
कल्पद्रुमलताकीर्णं नामा शरवणं महत् ॥ |
| " | ४५ | रमते यत्र देवेशः शंसुः सोमाद्वशेखरः ।
उमया समयस्तत्र पुरा शरवणो कृतः ॥ |
| " | ४६ | पुन्नाम सत्वं यत्किञ्चिद् आगमिष्यति ते वने ।
स्त्रीत्वमेष्यति तत् सर्वे दशयोजनमण्डले ॥ |
| " | ४७ | अञ्जातसमयो राजा इलः शरवणे पुरा ।
स्त्रीत्वमाप विशन्ने व वडवात्वं हयस्तदा ॥ |

दक्षयज्ञ-विध्वंस-कथा

- | | | |
|----|----|--|
| १३ | १२ | दक्षस्य यज्ञे वितते प्रभूतवरदक्षिणे ।
समाहूतेषु देवेषु पितरमब्रवीत् सती ॥ |
| " | १८ | त्वमस्य जगतो माता जगत्सौभाग्यदेवता ।
दुहितृत्वं गता देवि ममानुग्रहकाभ्यया ॥ |
| " | १६ | न त्वया रहितं किञ्चिद् ब्रह्माश्वे सचराचरम् ।
प्रसादं कुरु धर्मश्च न मां त्यक्तुमिहाहसि ॥ |

अध्या० श्लो०

सोम और तारा की कथा

- २३ ३५ महेश्वरेणाथं चतुर्मुखेन साध्यैर्मुद्दिः सह लोकपालैः ।
ददौ यदा तां न कथंचिदिन्दुस्तदा शिवः क्रोधपरो बभूव ॥
- २३ ३७ घनुर्गृहीत्वाजगवं पुरार्जिगाम भूतेश्वर-सिद्धजुष्टः ।
युद्धाय सोमेन विशेषदीपतृतीयनेत्रानलभीमवक्त्रः ॥

शुक्र के द्वारा शिवस्तुति

- ४७ १२८ नमोऽस्तु शितिकण्ठाय कनिष्ठाय सुवर्चसे ।
लेलिहानाय काव्याय वत्सरायान्वसः पते ॥
- ,, १२९ कपर्दिने करालाय हर्यक्षणे वरदाय च ।
संस्तुताय सुतीर्थाय देवदेवायरंहसे ॥
- ,, १३१ हस्ताय मुक्तकेशाय सेनान्ये रोहिताय च ॥
- ,, १३२ सहस्रशिरसे चैव सहस्राक्षाय मीढुषे ।
वराय भव्यरूपाय श्वेताय पुरुषाय च ॥
- ,, १३४ निषंगिणो च ताराय स्वक्षाय नपणाय च ।
ताम्राय चैव भीमाय उग्राय च शिवाय च ॥
- ,, १३५ महादेवाय शर्वाय विश्वरूपशिवाय च ॥
- ,, १३७ कपालिने च वीराय मृत्युवे त्यम्बकाय च ॥
- ,, १३८ दुन्दुभ्यायैकपादाय अजाय बुद्धिदाय च ।
अरण्याय गृहस्थाय यतये ब्रह्मचारिणे ॥
- ,, १४० सांख्याय चैव योगाय व्यापिने दीक्षिताय च ।
अनाहताय शर्वाय हव्येशाय यमाय च ॥
- ,, १४२ शिखणिडने करालाय दंष्ट्रणे विश्ववेधसे ॥
- ,, १४३ क्रूरायाविकृतायैव भीषणाय शिवाय च ॥
- ,, १४४ व्रतिनेयुज्ञमानाय शुचयेचोर्ध्वरेतसे ॥
- ,, १५७ नमोस्तु तुभ्यं भगवन् विश्वाय कृत्तिवाससे ॥
- ,, १६३ निरूपाख्याय मित्राय तुभ्यं सांख्यात्मने नमः ॥
- ,, १६६ नित्यायचात्मलिंगाय सूक्ष्मायैवेतराय च ॥

कृष्णाष्टमी पूजा

- ५६ १ कृष्णाष्टमीमथो वद्ये सर्वपाप-प्रणाशिनीम् ।
शान्तिमुक्तिश्च भवति जयः पुंसां विशेषतः ॥
- ,, २ शंकरं मार्गशिरसि शंभुं पौष्ट्रभिपूजयेत् ।
मावे महेश्वरं देवं महादेवं च फाल्सुने ॥

अध्या० श्लो०

- ५६ ३ स्थाणुं चैत्रे शिवं तद्वद् वैशाखे त्वर्चयेत् ।
ज्येष्ठे पशुपतिं चार्चेद् आषाढे उग्रमर्चयेत् ॥
- ,, ४ पूजयेत् आवणे सर्वं नमस्ये त्वय्मकं तथा ।
हरमाश्वयुजे मासि तथेशानं च कार्तिके ॥

लिंगोत्पत्ति की कथा

- ६० ३ ततः कालेन महता पुनः सर्गविधौ नृपः ।
४ स्पर्धायां च प्रवृत्तायां कमलासनकृष्णयोः ।
लिंगाकारा समुद्रभूता वह्ने ज्वालातिमीषणा ॥

सती की पूजा

- ,, १६ तया सहैव देवेशं तृतीयायामथाचर्चयेत् ।
फलैर्नानाविधैर्धूपैर्दीपनैवेवसंयुतैः ॥
- ,, १७ प्रतिमां पंचगव्येन तथा गन्धोदकेन च ।
स्नापयित्वाचर्चयेद् गौरीमिन्दुशेखरसंयुताम् ॥
- ,, २५ नमोऽर्धनारीशहरम् असिताङ्गीति नासिकाम् ।
- ,, ४२ उमामहेश्वरं हैमं वृषभं च गवा सह ।
स्थापयित्वाथ शयने ब्राह्मणाय निवेदयेत् ॥
- महादेव और भवानी की पूजा
- .६४ ३ महादेवेन सहितामुपविष्टां महासने ।
,, ११ विश्वकायौ विश्वमुखौ विश्वपादकरौ शिवौ ।
प्रसन्नवदनौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

दक्षयज्ञ की कथा

- ७२ ११ पुरा दक्षविनाशाय कुपितस्य तु शूलिनः ।
अथ तद्दीमवक्त्रस्य स्वैदविन्दुललाटजः ॥
- ,, १२ भीत्वा स सपातालानदहत् सप्तसागरान् ।
अनेकवक्त्रनयनो ज्वलज्ज्वलनभीषणः ॥
- ,, १३ वीरभद्र इति ख्यातः करपादायुतैर्युतः ।
कृत्वाऽसौ यज्ञमथनं पुनर्भूतलसंभवः ।
त्रिजगन्निर्दहन् भूयः शिवेन विनिवारितः ॥***

शिवचतुर्दशी

- ८५ ३ धर्मोऽयं वृषरूपेण नन्दी नाम गणाधिपः ।
धर्मान्माहेश्वरान् वद्यत्यतः प्रभृति नारदः ॥

अध्यात्म

६५

श्लोक

- ६ मार्गशीर्षत्रयोदश्यां सितायामेकभोजनः ।
प्रार्थयेद् देवदेवेशं त्वामहं शरणं गतः ॥
- ” कृतस्नानजपः पश्चाद् उमया सह शंकरम् ।
पूजयेत् कमलैः शुभ्रैर्गन्धमाल्यानुलेपनैः ॥
- ” ६ पादौ नमः शिवायेति शिरः सर्वात्मने नमः ।
त्रिनेत्रायेति नेत्राणि ललाटं हरये नमः ॥

त्रिपुरदाह

१३१

- १३ अर्चयन्तो दितेः पुत्रास्त्रिपुरायतने हरम् ॥

,,

- १४ पुण्याहशब्दान् उच्चे रुराशीर्वादाँश्च वेदगान् ॥

शिवस्तुति

१३२

- २२ नमो भवाय शर्वाय रुद्राय वरदाय च ।
पशूनां पतये नित्यम् उग्राय च कपर्दिने ॥
- ” २४ कुमारशत्रुनिन्नाय कुमारजनकाय च ॥
- ” २६ उरगाय त्रिनेत्राय हिरण्यवसुरेतसे ॥
- ” २७ वृषभजाय मुण्डाय जटिने ब्रह्मचारिणे ॥
- ” २७ विश्वात्मने विश्वसर्जे विश्वमावृत्य तिष्ठते ॥

रुद्रमूर्ति विष्णु

१५४

- ७ त्वमोकारोऽस्यकुरायप्रसूती
विश्वस्यात्मानन्तमेदस्य पूर्वम् ।
संभूतस्यानन्तरं सत्त्वमूर्ते ॥

संहारेच्छोस्ते नमो रुद्रमूर्ते

आदर्श योगी शिव

”

- २१३ अनया देवसामग्र्या मुनिदानवभीमया ।
दुःसाध्यः शंकरो देवः किं न वेत्सि जगत्प्रभो ॥

गणेशजन्म

”

- ५०१ कदाचिद् गन्धतैलेन गात्रमभ्यज्य शैलजा ।
- ५०२ चूर्णैरुद्वर्तयामास मलिनान्तरितां तनुम् ।
तदुद्वर्तनकं गृह्य नरं चक्रे गजाननम् ।
- ५०३ पुत्रकं क्रीडति देवी तं चाक्षेपयदम्भसि ।
जाह्नव्यास्तु शिवसख्यास्ततः सोऽभूद्वृहद्वुपः ॥

अध्या० श्लो०

- १५४ ५०४ कायेनाति विशालेन जगदापूर्यत् तदा ।
पुत्रेत्युवाच तं देवी पुत्रेत्युचे च जाह्वी ॥
” ५०५ गाङ्गेय इति देवैस्तु पूजितोऽभूदगजाननः ।
विनायकाधिपत्यं च ददावस्य पितामहः ॥

शिव के गण

- ” ५३० यावन्तस्ते कृषा दीर्घा हस्वाः स्थूला महोदराः ।
” ५३१ व्याग्रे भवदनाः केचित् केचिन्मेषाजरूपिणः ।
अनेकपाणिरूपाश्च ज्वालास्याः कृष्णपिंगलाः ॥
” ५३३ कौशेयचर्मवसना नमाश्वान्ये विरूपिणः ।
गोकर्णा गजकर्णाश्च बहुवक्त्रेक्षणोदराः ॥
” ५३५ वृकाननायुधधरा नानाकवचभूपणाः ।
विचित्रवाहनारूढा दिव्यरूपावियच्चराः ॥
” ५३८ कोटिसंख्या ह्यसंख्याता नानाविख्यातपौरुषाः ।
जगदापूरितं सर्वैरेभिर्भीमैर्महावलैः ॥

पार्वती द्वारा शिवनिन्दा

- १५५ ६ नैवारिम कुटिला शर्व विषमा नैव धृज्ञटे ।
सविषयस्त्वं गतः ख्यातिं व्यक्तदोषाकराशयः ॥
” ७ नाहं पूष्णोऽपि दशना नेत्रे चास्मि भगस्य हि ।
आदित्यश्च विजानाति भगवान् द्वादशात्मकः ॥
” ८ यस्त्वं मामाह कृष्णोति महाकालेतिविश्रुतः ॥
” २२ व्यालेष्योऽनेकजिह्वत्वं भस्मना रनेहवन्धनम् ।
हृतकालुप्यं शशांकात् दुर्बोधित्वं वृषादपि ॥
” २३ तथा बहु किमुक्तेन अलं वाचा श्रमेण ते ।
श्मशानवासान्निर्भीस्त्वं नगत्वाच्च तव त्रपा ॥
” २४ निर्वृणत्वं कपालित्वाद् दया ते विगता चिरम् ।
” ३१ एष स्त्रीलम्पटो देवो यातायां मर्यनन्तरम् ।
द्वाररक्षा त्या कार्या नित्यं रन्ध्रान्वेक्षणा ॥

ब्रह्मा का पार्वती को वरदान

- १५७ १२ एवं भव त्वं भूयश्च भर्तृदेहाद्दर्धधारिणी ।

देवीस्तुति

- १५८ ११ नतसुरासुरमौलिमिलन्मणिप्रचयकान्तिकरालनखाङ्किते
नगसुते शरणागतवत्सले, तव नतोऽस्मि नतार्त्तिविनाशिनि ।

अध्या० श्लो०

- १५८ १२ विषभुजङ्गनिषङ्गविभूषिते, गिरिसुते भवतीमहमाश्रये ॥
 ” १५९ सितसटापटलोद्धतकन्यरा, भटमहामृगराजरथास्थिता ॥
 ” १६० निगदिता भुवनरिति चण्डिका, जननि शुभ्मनिशुभ्मनिषूदनी ॥

अन्धकवध

- १७६ २ आसीद् दैत्योऽन्धको नामं भिन्नांजनचयोपमः ॥
 ” ३ तपसा महता युक्तो ह्यवध्यस्त्रिदिवौकसाम् ॥
 ” ४ स कदाचित् महादेवं पार्वत्या सहितं प्रभुम् ।
 ” ४ क्रीडमानं तदा दृष्ट्वा हर्तुं देवीं प्रचकमे ।
 ” ५ तस्य युद्धं तथा घोरमभवत् सह शंभुना ॥
 ” ६ पानार्थमन्धकास्त्रस्य सोऽसुजन् मातरस्तदा ।
 ” ६ माहेश्वरी तथा ब्राह्मी कौमारी मालिनी तथा ॥
 ” ३५ ततः स शंकरो देव धकव्याकुलीकृतः ।
 ” जगाम शरणं देव वासुदेवमजं विभुम् ॥

यक्षवर्णन

- १८० ६ गुह्यका वत् यूर्यं वै स्वाभावात् क्रूरचेतसः ।
 ” १० क्रव्यादाशचैव किंभक्षा हिंसाशीलाश्च पुत्रक ॥

वाराणसी-माहात्म्य

- ” ५६ ध्यायतस्तत्र मां नित्यं योगगिनदीर्घ्यते भृशम् ।
 ” कैवल्यं परमं याति देवानामपि दुर्लभम् ॥

भक्तिगम्य शिव

- १८३ ५१ सदा यः सेवते भिक्षां ततो भवति रंजितः ।
 ” रंजनात्तमयो भूत्वा लीयते स तु भक्तिमान् ॥
 ” ५२ शास्त्राणां तु वरारोहे बहुकारणदर्शिनः ।
 ” न मां पश्यन्ति ते देवि ज्ञानवाक्यविवादिनः ॥

ब्रह्मा का शिरश्छेद

- ” ८१ आसीत् पूर्वं वरारोहे ब्रह्मणस्तु शिरोवरम् ।
 ” पंचमं शूरुगु सुत्रोणि जातं कर्त्तनसप्रमम् ॥
 ” ८२ ज्वलत् तत् पंचमं शीर्षं जातं तस्य महात्मनः ।
 ” तदेवमब्रवीद् देवि जन्म जानामि ते ह्यहम् ॥
 ” ८३ ततः क्रोधपरीतेन संरक्षनयनेन च ।
 ” वामाङ्गुष्ठनखाग्रेण छिन्नं तस्य शिरो मया ॥

अध्या० श्लो०

१८३ ८४ यदा निरपराधस्य शिरशिष्ठनं त्वया मम ।
तस्मात् शापसमायुक्तः कपाली त्वं भविष्यसि ॥
ब्रह्महत्याकुलो भूत्वा चर तीर्थानि भूत्वे ॥

त्रिपुरदाह

१८८ ५७ उत्थितः शिरसा कृत्वा लिङ्गं त्रिमुखनेश्वरम् ।
निर्गतः स पुरद्वारात् परित्यज्य सुहृत्सुतान् ॥
५८ गृहीत्वा शिरसा लिंगं गत्त्वन् गगनमण्डलम् ।
५९ स्तुवंश्च देवदेवेशं त्रिलोकाधिपतिं शिवम् ।
त्यक्ता पुरी मया देव यदि वध्योऽस्मि शंकर ॥
६० त्वत्प्रसादान्महादेव मा मे लिङ्गं विनश्यतु ।
६१ न भेतव्यं त्वया वत्स सौवर्णीं तिष्ठ दानव ।
पुत्रपौत्रसुहृदवन्धुभायांभृत्यजनैः सह ॥
६२ अद्यप्रभृति वाणि त्वमवध्यस्त्रिदशैरपि ।
भूयस्तस्य वरो दत्तो देवदेवेन पाण्डव ॥
६३ तृतीयं रक्षितं तस्य पुरुं तेन महात्मना ।
भ्रमन्तु गगने दिव्यं रुद्रतेजःप्रभावतः ॥
६४ एकं निपतितं तत्र श्रीशैले त्रिपुरान्तके ।
द्वितीयं पतितं तस्मिन् पर्वतेऽमरकण्ठके ॥

कपालतीर्थ

१८३ १० घृतेन स्नापयेद्दिंगं पूजयेद् भक्तिं द्विजान् ।
११ शैवं पदमवाप्नोति यत्र चामिमतं भवेत् ।
अक्षयं मोदते कालं यथा रुद्रस्तथैव स ॥

भृगुतीर्थ

५८ एवं तु वदते देवो भृगुतीर्थमनुत्तमम् ।
न जानन्ति नरा मद्मा विष्णुमायाविमोहिताः ।

शिवस्तुति

२१० ३० ब्रह्मणे चैव रुद्राय नमस्ते विष्णुरूपिणे ।
३१ नमः कपालहस्ताय दिव्वासाय शिवेण ॥

शिव-विष्णु-प्रकोप से देवी-जन्म

८२ ८ इत्थं निशम्य देवानां वचांसि मधुसूहनः ।
चकार कोपं शंभुश्च भृकुटिकुटिलाननौ ॥

मार्कंण्डेय पुराण

अध्यात्र० श्लो०

- ८२ ६ ततोऽतिकोपपूर्णस्य चक्रिणो वदनात् ततः ।
निश्चक्राम महत् तेजो ब्रह्मणः शंकरस्य च ॥
- ,, १० अन्येषां चैव देवानां शक्रादीनां शरीरतः ।
निर्गतं सुमहत्तेजः तच्चैवयं समगच्छत ॥
- ,, १२ एकस्थं तदभूम्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विपा ॥

देवी के शुक्ल और कृष्ण रूप

- ८५ ४० शरीरकोषात् यत्स्याः पार्वत्या निःसृताभिका ।
कौषिकीति समस्तेषु ततो लोकेषु गीयते ॥
- ,, ४१ तस्यां विनिर्गतायां तु कृष्णभूत् सापि पार्वती ।
कालिकेति समाख्याता हिमाचलकृताश्रया ॥

विभिन्न देवताओं की शक्तियाँ

- ८८ १३ यस्य देवस्य यद्रूपं यथा भूषणवाहनम् ।
तत्तदेव हि तच्छक्तिरसुरान् योद्धुमाययौ ॥
- ,, १४ आयाता ब्रह्मणः शक्तिर्ब्रह्माणी साभिधीयते ॥
- ,, १५ माहेश्वरी वृषारुढा त्रिशूलवरधारिणी ।
महाहिवलया प्राप्ता चन्द्ररेखाविभूषणा ॥
- ,, १६ कौमारी शक्तिहस्ता च मयूरवरवाहना ।
- ,, १७ तथैव वैष्णवी शक्तिरुद्गोपरि संस्थिता ॥

विभिन्न शक्तियों का देवी के साथ तादात्म्य

- ६० ३ एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा ।
पश्यैता दुष्ट ! मध्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः ॥
- ,, ४ ततः समस्तास्ता देव्यो ब्रह्माणीप्रमुखालयम् ।
तस्या देव्यास्तनौ जग्मुरैकैवासीत् तदाभिका ॥

देवी की स्तुति

- ६१ २ देवि ! प्रपञ्चात्तिंहरेप्रसीद प्रसीद मातर्जगतोऽखिलस्य ।
प्रसीद विश्वेश्वरि पाहि विश्वं त्वमीश्वरी देवि चराचरस्य ॥
- ,, ३ आधारभूता जगतस्त्वमेका.....
- ,, ४ त्वं वैष्णवी शक्ति रनन्तवीर्या, विश्वस्य बीजं परमासि माया ।
सम्मोहितं देवि समस्तमेतत्, त्वं वै प्रपञ्चा भुवि मुक्तिहेतुः ॥

अध्या० श्लो०

- ६१ ६ सर्वमंगलमांगल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके ।
शरण्ये त्यम्बके गौरि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥
- ” ३७ ...विन्ध्याचलनिवासिनी.....

लिंग पुराण

देवाधिदेव शिव

भाग अध्या० श्लो०

- १ १ १ नमो रुद्राय हरये ब्रह्मणे परमात्मने ।
प्रधानपुरुषेशाय सर्गस्थित्यन्तकारिणे ॥

लिंगोत्पत्ति की कथा

- ” १७ १४ तथा भूतमहं दृष्ट्वा शयानं पंकजेन्द्रणम् ।
मायया मोहितस्तस्य तमवोचममर्षितः ॥
- ” ” १५ कस्त्वं वदेति हस्तेन समुत्थाप्य सनातनम् ।
तदा हस्तप्रहारेण तीव्रेण स दृढेन तु ॥
- ” ” २२ किमर्थं भाषसे मोहाद् वक्तुमर्हसि सत्वरम् ।
सोऽपि मामाह जगतां कर्ताहमिति लोकय ॥
- ” ” ३१ इत्युक्तवति तस्मिंश्च मयि चापि वचस्तथा ॥
- ” ” ३२ आवयोश्चाभवद् युद्धं सुधोरं रोमर्घणम् ॥
- ” ” ३३ एतस्मिन्नन्मे लिंगमभवच्चावयोः पुरः ।
विवादशमनार्थं हि प्रबोधार्थं च भास्वरम् ॥
- ” ” ३४ ज्वालामालासहस्राद्यं कालानलशतोपमम् ।
क्षयवृद्धिविनिमुक्तमादिमध्यान्तवर्जितम् ॥
- ” ” ३५ तस्य ज्वालासहस्रेण मोहितो भगवान् हरिः ॥
- ” ” ३६ मोहितं प्राह मामत्र परीक्षा वोऽग्निसंभवम् ।
अधोगमिष्याम्यनलस्तम्भस्यानुपमस्य च ॥
- ” ” ३७ भवानूर्ध्वं प्रयत्नेन गन्तुमर्हसि सत्वरम् ॥
- ” ” ४५ सत्वरं सर्वयत्नेन तस्यान्तं ज्ञातुमिच्छ्या ।
आन्तो ह्यदृष्ट्वा तस्यान्तमहंकारादधोगतः ॥
- ” ” ४६ तदा समभवत् तत्र नादो वै शब्दलक्षणः ।
ओमोमिति सुरश्रेष्ठाः सुव्यक्तः प्लुतलक्षणः ॥
- ” ” ५० किमिदं त्वतिसंचित्य मया तिष्ठन् महास्वनम् ।
लिंगस्य दक्षिणे भागे तदापश्यत् सनातनम् ।

भाग अध्या० इको०

१ १७ ५१ आद्यवर्णमकारं तूकारं चाप्युत्तरे ततः ।
मकारं मध्यतश्चैव नादान्तं तस्य चोमिति ॥

अर्धनारीश्वर शिव

,, १८ ३० अर्धनारीशरीराय अव्यक्ताय नमोनमः ॥

एकेश्वर शिव

,, १९ १२ त्रिधा भिन्नो द्वाहं विष्णो ब्रह्म-विष्णु-भवाख्यया ।
सर्ग-रक्षालयगुणैर्निष्कलः परमेश्वरः ॥

लिंग और वेदी में शिव-पार्वती

,, ,, १५ लिंगवेदी महादेवी लिंगं साक्षान्मेहश्वरः ॥

लम्बोदरशरीरी शिव

,, २१ ६७ ध्यायते जूम्भते चैव स्थदते द्रवते नमः ।
बल्गाते क्रीडते चैव लम्बोदरशरीरिणे ॥

शिव का सांख्य और योग से सम्बन्ध

,, ,, ८५ भवानीशोऽनादिमाँस्त्वं च सर्वलोकानां
त्वं ब्रह्मकर्तादिसर्गः ।
सांख्याः प्रकृतेः परमं त्वं विदित्वा-
क्षीणध्यानास्त्वाममृत्युं विशन्ति ॥

,, ,, ८६ योगाश्च त्वां ध्यायिनो नित्यसिद्धं
ज्ञात्वा योगान् संत्यजन्ते पुनस्तान् ।
ये चाप्यन्ये त्वां प्रसन्ना विशुद्धाः,
स्वर्कर्मभिस्ते दिव्यभोगा भवन्ति ॥

शिव के विभिन्न अवतार

” २४ [वैसे ही जैसे वायुपुराण के अध्याय २३ में ।]

लिंग की उपासना

,, २५ २१ आचम्य च पुनस्तस्माज्लादुत्तीर्य मंत्रवित् ।
प्रविश्य तीर्थं मध्ये तु पुनः पुण्यविवृद्धये ॥

,, ,, २२ शङ्खे ण पर्णपुटकैः पलाशैः क्षालितैस्तथा ।
सकुशेन सपुष्पेण जलेनैवाभिषेचयेत् ॥

भाग अध्या० श्लो०

ऋषिपत्नियों की कथा

- | | | |
|---|----|--|
| १ | २६ | मुनयो दारुगहने तपस्तेषुः सुदारुणम् ।
तुष्ट्यर्थं देवदेवस्य सदारतनयाम्यः ॥ |
| ” | ” | प्रवृत्तिलक्षणं ज्ञानं ज्ञातुं दारुवनौकसाम् ।
परीक्षार्थं जगन्नाथः श्रद्धया क्रीडया च सः ॥ |
| ” | ” | निवृत्तिलक्षणज्ञानप्रतिष्ठार्थं च शंकरः ।
देवादारुवनस्थानां प्रवृत्तिनान्यचेतसाम् ॥ |
| ” | ” | विकृतं रूपमास्थाय दिग्भासा विषमेक्षणः ।
मुग्धो द्विहस्तः कृष्णांगो दिव्यं दारुवनं यौ ॥ |
| ” | ” | मन्दस्मितं च भगवान् स्त्रीणां मनसिजोद्भवम् ।
भ्रूविलासं च गानं च चकारातीव सुन्दरः ॥ |
| ” | ” | संप्रेद्य नारीबृन्दं वै मुहुर्मुहुरनंगहा ।
अनंगवृद्धिमकरोद् अतीव मधुराकृतिः ॥ |
| ” | ” | वने तं पुरुषं दृष्ट्वा विकृतं नीललोहितम् ।
स्त्रियः पतित्रताश्चापि तमेवान्वयुरादराद् ॥ |
| ” | ” | वनोटजद्वारगताश्च नार्यो विस्तवस्त्राभरणाविचेष्टाः ।
लब्ध्वा स्मितं तस्य मुखारविन्दाद् द्रु मालयस्थास्तमथान्वयुस्ताः ॥ |
| ” | ” | अथ दृष्ट्वा परा नार्यः किंचित् प्रहसिताननाः ।
किंचित् विस्तवसनाः स्त्रिकांचीगुणा जगुः ॥ |
| ” | ” | काशिच्चज्जगुरुतं नवृतुर्निषेतुश्च धरातले ।
निषेदुर्गजवज्ञान्याः प्रोवाच द्विपुंगवाः ॥ |
| ” | ” | अन्योन्यं सस्मितं प्रेद्य चालिलङ्कुः समन्ततः ।
निश्चय मार्गं रुद्रस्य नैपुणानि प्रचक्रिरे ॥ |
| ” | ” | दृष्ट्वा नारीकुलं विप्रास्तथाभूतं च शंकरम् ।
अतीव परुषं वाक्यं जलपुस्ते मुनीश्वराः ॥ |
| ” | ” | तेऽपि दारुवनात् तस्मात् प्रातः संविश्मानसाः ।
पितामहं महात्मानमासीनं परमासने ॥ |
| ” | ” | गत्वा विज्ञापयामासुः प्रवृत्तमखिलं विभोः ।
शुभे दारुवने तस्मिन् मुनयः क्षीणचेतसः ॥ |
| ” | ” | उत्थाय प्रांजलिभूत्वा प्रणिपत्य भवाय च ।
उवाच सत्वरं ब्रह्मा मुनीन् दारुवनालयान् ॥ |
| ” | ” | यस्तु दारुवने तस्मैङ्गिरी दृष्टोऽप्यलिंगिभिः ।
युष्माभिर्विकृताकारः स एव परमेश्वरः ॥ |

भाग अध्यात्र श्लो०

१ २६ ६६ तस्य तद्वचनं श्रुत्वा ब्रह्मणो ब्राह्मणर्थमाः ।
ब्रह्मणमभिवन्द्यात्ताः प्रोक्षुराकुलितेक्षणाः ॥

त्रिपुरदाह

,, ७२	१	अथ रुद्रस्य देवस्य निर्मितो विश्वकर्मणा । सर्वलोकमयो दिव्यो रथो यत्नेन सादरम् ॥
,, „	१६	आवहायास्तथा सप्तसोपानं हैमसुत्तमम् । सारथिर्भगवान् ब्रह्मा देवाभीषुधराः स्मृताः ॥
,, „	३४	अथाह भगवान् रुद्रो देवानालोक्य शंकरः । पश्चात्माधिपत्यं मे दत्तं हन्मि ततोऽसुरान् ॥
,, „	५२	अग्रे सुराणां च गणेश्वराणां तदाथ नन्दी गिरिराजकल्पम् । विमानमारुद्ध्य पुरं प्रहर्तुं जगाम मृत्युं भगवानिवेशः ॥
,, „	७५	गणेश्वरैर्देवगणैश्च भृंगी समावृतः सर्वगणेन्द्रवर्यः । जगाम योगी त्रिपुरं निहन्तुं विमानमारुद्ध्य यथा महेन्द्रः ॥
,, „	१०१	अथ सज्यं धनुःकृत्वा शर्वः संधाय तं शरम् । युक्त्वा पाशुपतास्त्रेण त्रिपुरं समचिन्तयत् ॥
,, „	१०२	तस्मिन् स्थिते महादेवे रुद्रे विततकार्मुके । पुराणि तेन कालेन जमुरेकत्वमाशु वै ॥
,, „	११०	दग्धुर्महसि शीघ्रं त्वं त्रीयेतानि पुराणि वै । अथ देवो महादेवः सर्वज्ञतदबैक्षत ॥
,, „	१११	पुत्रयं विरुपाक्षस्तत्त्वणाद् भस्म वै कृतम् ॥
,, „	११४	सुमोच्च वाणं विप्रेन्द्रो व्याकृष्याकर्णीश्वरः । तत्त्वणात् त्रिपुरं दग्धवा त्रिपुरान्तकरः शरः ॥

लिंगोपासना का फल

,, ७३	६	पूजनीयः शिवो नित्यं श्रद्धया देवपुंगवैः । सर्वलिंगमयो लोकः सर्वं लिंगे प्रतिष्ठितम् ॥
,, „	७	तस्मात् संपूजयेलिंगं य इच्छेत् सिद्धिमात्मनः । सर्वे लिंगाच्चनादेव देवा दैत्याश्च दानवाः ॥
,, „	६	अर्चयित्वा लिंगमूर्ति संसिद्धा नात्र संशयः । तस्माच्चित्यं यजेलिंगं येन केनापि वा सुराः ॥
,, „	२४	भवसंस्मरणोद्युक्ता न ते दुःखस्य भाजनम् । भवनानि मनोज्ञानि द्रिव्यमाभरणं स्त्रियः ॥

भाग अध्याय० श्लो०

- | | | | |
|---|----|----|--|
| १ | ७३ | २५ | घनं वा तुष्टिपर्यन्तं शिवपूजाविधेः फलम् ।
ये वांछन्ति महाभोगान् राज्यं च त्रिदशालये ।
तेऽन्यन्तु सदा कालं लिंगमूर्ति महेश्वरम् ॥ |
| " | " | २६ | हत्वा भीत्वा च भूतानि दग्ध्वा सर्वमिदं जगत् । |
| " | " | २७ | यजेदेकं विरूपाक्षं न पापैः स प्रलिप्यते ॥ |
| " | " | २८ | तदाप्रभृति शकाद्याः पूजयामासुरीश्वरम् ।
साक्षात् पाशुपतं कृत्वा भस्मोदधुलितविग्रहाः ॥ |

विभिन्न प्रकार के लिंग

- | | | | |
|---|----|----|---|
| " | ७४ | २ | इन्द्रनीलमयं लिंगं विष्णुना पूजितं सदा ।
पद्मरागमयं शक्रो हैमं विश्रवसः सुतः ॥ |
| " | " | २ | विश्वेदेवास्तथा रौप्यं वसवः कान्तिकं शुभम् ।
आरकूटमयं वायुरश्चिनौ पार्थिवं सदा ॥ |
| " | " | ४ | स्फाटिकं वरुणो राजा आदित्यास्ताम्रनिर्मितम् ।
मौक्किकं सोमराड् धीमाँस्तथालिंगमनुत्तमम् ॥ |
| " | " | ५ | अनन्ताद्या महानागाः प्रवालकमयं शुभम् ।
दैत्या ह्ययोमयं लिंगं राच्चास्त्रं महात्मनः ॥ |
| " | " | ६ | त्रैलोहिकं गुह्यकाशं सर्वलोहमयं गणाः ।
चामुण्डा सैकतं साक्षान्मातरश्च द्विजोत्तमाः ॥ |
| " | " | ७ | दारुञ्ज नैऋतिर्मक्त्या यमो मारकं शुभम् ।
नीलाद्याश्च तथा रुद्राः शुद्धं भस्ममयं शुभम् ॥ |
| " | " | ८ | लक्ष्मीवृक्षमयं लक्ष्मीरुद्धो वै गोमयात्मकम् ।
मुनयो मुनिशार्द्दलाः कुशाग्रमयसुत्तमम् ॥ |
| " | " | १२ | बहुनात्र किमुक्ते न चराचरमिदं जगत् ।
शिवलिंगं समम्यन्त्य रित्थतमत्र न संशयः ॥ |
| " | " | १३ | षष्ठिवृद्धं लिंगमित्याहुर्द्वयाणां च प्रमेदतः ॥ |
| " | " | १४ | तेषां भेदाश्रुर्युक्तचत्वारिंशदिति स्मृताः ।
शैलजं प्रथमं प्रोक्तं तद्विं साक्षाच्चतुर्विधम् ।
द्वितीयं रत्नं तत्र सप्तधा मुनिसत्तमाः ॥ |
| " | " | १५ | तृतीयं धातुं लिंगमष्ठधा परमेष्ठिनः ।
तुरीयं दारुञ्जं लिंगं तत्तु षोडशधोच्यते ॥ |
| " | " | १६ | मृणमयं पंचमं लिंगं द्विधा भिन्नं द्विजोत्तमाः ।
षष्ठं तु त्रिशिंकं लिंगं सप्तधा परिकीर्तिम् ॥ |

उमामहेश्वरब्रत

भाग अध्या० श्लो०

- | | | | |
|---|----|---|---|
| १ | ८४ | २ | पौर्णमस्याममावस्यां चतुर्दश्यष्टमीषु च ।
नक्तमब्दं प्रकुर्वीत हविष्यं पूजयेद् भवम् ॥ |
| " | " | ३ | उमामहेशप्रतिमां हेमना कृत्वा सुशोभनाम् ।
राजतीं वाथ वर्षान्ते प्रतिष्ठाप्य यथाविधि ॥ |
| " | " | ४ | ब्राह्मणान् भोजयित्वा च दत्वा शक्त्या च दक्षिणाम् ।
रथाद्यैर्वपि देवेशं नीत्वा रुद्रालयं प्रति ॥ |
| " | " | ५ | सर्वातिशमसंयुक्तैश्छत्रचामरभूषणैः ।
निवेदयेद् ब्रतं चैव शिवाय परमेष्ठिने ॥ |

अन्यक-वध

- | | | | |
|---|----|----|--|
| " | ६३ | ३ | हिरण्याक्षस्य तनयो हिरण्यनयनोपमः । |
| " | " | ४ | पुरान्धक इति ख्यातस्तपसा लब्धविक्रमः ॥ |
| " | " | ६ | बाधितास्त्वाडिता बद्धाः पातिरास्तेन ते सुराः ।
विविशुर्मन्दरं भीता नारायणपुरोगमाः ॥ |
| " | " | ८ | ततस्ते समस्ताः सुरेन्द्राः ससाध्याः सुरेशं महेशं पुरेत्याहुरेवम् ।
द्रुतं चाल्पवीर्यप्रभिन्नांगभिन्ना, वयं दैत्यराजस्य शस्त्रैर्निष्कृत्ताः ॥ |
| " | " | ९ | इतीदमखिलं श्रुत्वा दैत्यागममनौपमम् ।
गणैश्चरैश्च भगवान् अन्धकाभिमुखं ययौ ॥ |
| " | " | ११ | अथाशेषा सुराँस्तस्य कोटि-कोटि शतैस्ततः ।
भस्मीकृत्य महादेवो निर्विभेदान्धकं तदा ॥ |
| " | " | १५ | दग्धोऽग्निना च शूलेन प्रोतः प्रेत इवान्धकः ।
सात्विकं भावमास्थाय चिन्तयामास चेतसा ॥ |
| " | " | १६ | जन्मान्तरेऽपि देवेन दग्धो यस्माच्छिवेन वै ।
आराधितो मया शंसुः पुरा साक्षान्मेहश्वरः ॥ |
| " | " | १७ | तस्मादेतन्मया लब्धमन्यथा नोपपद्यते ।
यः स्मरेन् मनसा रुद्रं प्राणान्ते सकृदेव वा ॥ |
| " | " | १८ | स याति शिवसायुज्यं किं पुनर्बहुशः स्मरन् ।
ब्रह्मा च भगवान् विष्णुः सर्वे देवाः सवासवाः ॥ |
| " | " | १९ | शरणं प्राप्य तिष्ठन्ति तमेव शरणं व्रजेत् ।
एवं संचित्य तुष्टात्मा सोऽन्धकश्चान्धकार्दनम् ॥ |
| " | " | २० | सगणं शिवमीशानमस्तुवत् पुण्यगैरवात् ॥ |
| " | " | २१ | हिरण्यनेत्रतनयं शूलाग्रस्यं सुरेश्वरः ।
प्रोवाच दानवं प्रेद्य वृण्या नीललोहितः ॥ |

भाग अध्याय० श्लो०

- | | | | |
|---|----|----|---|
| १ | ६३ | २२ | तुष्टोऽस्मि वत्स भद्रं ते कामं किं करवाणि ते ।
वरान् वरय दैत्येन्द्र वरदोऽहं तवान्धक ॥ |
| " | " | २३ | श्रुत्वा वाक्यं तदा शंभोहिरण्यनयनात्मजः ।
हर्षगदगदया वाचा ग्रोवाचेदं महेश्वरम् ॥ |
| " | " | २४ | भगवन् देवदेवेश भक्तार्तिहर शंकर ।
त्वयि भक्तिः प्रसीदेश यदि देयो वरश्च मे ॥ |

शिव का शरभावतार

- | | | | |
|---|----|----|---|
| " | ६५ | २० | ततस्तैर्गतैः सैष देवो नृसिंहः सहस्राकृतिः सर्वपात् सर्वबाहुः ।
सहस्रे वृणः सोमसूर्यापिनेत्रस्तदा संस्थितः सर्वमावृत्य मायी ॥ |
| " | " | २१ | तं तुष्टुवुः सुरश्रेष्ठ लोका लोकाच्चले स्थिताः ।
सब्रह्मकाः सप्ताध्याश्च सयमाः समरुद्गणाः ॥ |
| " | " | ३२ | ततोब्रह्मादयस्त्रैः संस्तूय परमेश्वरम् । |
| " | " | ३३ | आत्मत्राणाय शरणं जग्मुः परमकारणम् । |
| " | " | ४३ | मन्दरस्थं महादेवं क्रीडमानं सहोमया ॥ |
| " | " | ५३ | हिरण्यकशिपुं हत्वा कर्जैनिशितैः स्वयम् ।
दैत्येन्द्रैवहुभिः सार्थं हितार्थं जगतां प्रभुः ॥ |
| " | " | ५४ | सैंहीं समानयन् योनिं बाधते निखिलं जगत् ।
यत्कृत्यमत्र देवेश तत् कुरुष्व भवानिह ॥ |
| " | " | ६० | अथोत्थाय महादेवः शारभं रूपमास्थितः । |
| " | " | ६१ | यथौ प्रान्ते नृसिंहस्य गर्वितस्य मृगासिनः । |
| " | " | ६२ | सिंहात् ततो नरो भूत्वा जगाम च यथाक्रमम् ॥ |
| " | " | ६५ | ततः संहाररूपेण सुव्यक्तः परमेश्वरः । |
| " | " | ७० | हरिस्तदर्शनादेव विनष्टबल-विक्रमः । |
| " | " | ७१ | विभ्रदौर्यं सहस्रांशोरघः खद्योतविभ्रमम् ॥ |
| " | " | ७२ | अथ विभ्रम्य पक्षाभ्यां नाभिपादेभ्युदारयन् ।
पादावावध्य पुच्छेन बाहुभ्यां बाहुमण्डलम् ॥ |
| " | " | ७५ | भिन्दन्तुरसि बाहुभ्यां निजग्राह हरो हरिम् । |
| " | " | ७६ | नीयमानः परवशो दीनवक्त्रः कृतांजलिः ॥ |
| " | " | ८५ | तुष्टाव परमेशानं हरिस्तं ललिताक्षरैः ॥ |
| " | " | ८६ | नामामष्टशतेनैव स्तुत्वामृतमयेन तु ।
पुनस्तु प्रार्थयामास नृसिंहः शरभेश्वरम् ॥ |
| " | " | ८६ | यदा यदा मम ज्ञानम् अत्यंहकारदूषितम् ।
तदा तदापनेतव्यं त्वयैव परमेश्वर ॥ |

लिंगवेदी का माहात्म्य

भाग अध्या० श्लो०

- १ ६६ ६ सा भगास्या जगद्वात्री लिंगमूर्तेस्त्रिवेदिका ॥
 ” ” ७ लिंगस्तु भगवान् द्वास्यां जगत्सृष्टिर्द्विजोत्तमाः ॥
 ” ” ८ लिंगवेदिसमायोगाद् आर्धनारीक्षरो भवेत् ॥

दक्षयज्ञविध्वंस

- ” ” १३ श्रद्धा ह्यस्य पुरा पत्नी ततः पुंसः पुरातनी ।
 शैवाश्या विभोदेवी दक्षपुत्री बभूव ह ॥
 ” ” १४ सती संज्ञा सा वै स्त्रद्वेषाश्रिता पतिम् ।
 दक्षं विनिंदा कालेन देवी मैनाश्यभूत् पुनः ॥
 ” ” १६ अनादत्य कृतिं ज्ञात्वा सती दक्षेण तत्कणात् ।
 भस्मीकृत्वात्मनो देहं योगमार्गेण सा पुनः ॥
 ” ” १७ बभूव पार्वती देवी तपसा च गिरे: प्रभोः ॥
 ” १०० ३ भद्रो नाम गणस्तेन प्रेषितः परमेष्ठिना ।
 विप्रयोगेन देव्या वै दुःसहेनैव सुव्रतः ॥
 ” ” ४ सोऽस्त्रुजद् वीरभद्रश्च गणेशान् रोमजान् शुभान् ।
 गणेश्वरैः समाश्य रथं भद्रः प्रतापवान् ॥
 ” ” ५ गन्तुं चक्रे मर्ति यस्य सारथिर्भगवान् अजः ।
 गणेश्वराश्च ते सर्वे विविधायुधपाणयः ॥
 ” ” १२ उत्वाच भद्रो भगवान् दक्षं चामिततेजसम् ।
 ” ” १३ दग्धुं सप्रेषितश्चाहं भवन्तं समुनीश्वरैः ।
 इत्युक्त्वा यज्ञशालां तां ददाह गणपुंगवः ॥
 ” ” १५ गृहीत्वा गणपाः सर्वान् गङ्गास्तोतसि चिक्षिपुः ।
 वीरभद्रो महातेजाः शक्रस्योदयच्छतः करम् ॥
 ” ” १६ व्यष्टम्भयद् अदीनात्मा तयान्येषां दिवौकसाम् ॥
 भगस्य नेत्रे चोत्पाद्य करजाग्रेण लीलया ॥
 ” ” १७ निहत्य मुष्टिना दन्तान् पूष्णश्चैवं न्यपाततय् ॥
 ” ” २३ जघान् भगवान् स्त्रः खङ्गमुष्ट्यादिसायकैः ।
 अथ विष्णुर्महातेजाश्वकमुद्यम्य मूर्च्छितः ॥
 ” ” २४ युयोध भगवांस्तेन स्त्रेण सह माधवः ॥
 ” ” २७ निहत्य गदया विष्णुं ताडयामास मूर्धनि ।
 ततश्चोरसि तं देवं लीलयैव रणाजिरे ॥
 ” ” ३१ त्रिभिर्श्च धर्षितं शार्ङ्गं त्रिधाभूतं प्रभोस्तदा ।
 शार्ङ्गकोटि-प्रसंगाद् वै चिच्छेद च शिरः प्रभोः ॥

भाग अध्या० श्लो०

- | | | |
|-------|----|---|
| १ १०० | ३६ | एतस्मिन्नेव काले तु भगवान् पद्मसंभवः । |
| " " | ४० | भद्रमाह महातेजाः प्रार्थयन् प्रणतः प्रभुः । |
| | | अर्लं क्रोधेन वै भद्र नष्टाश्चैव दिवौकसः ॥ |
| , | ४१ | प्रसीद त्तम्यतां सर्वं रोमजैः सह सुत्रत । |
| | | सोऽपि भद्रः प्रभावेण ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ॥ |
| " " | ४२ | शमं जगाम शनकैः शान्तस्तस्थौ तदाश्यथा । |
| | | देवोऽपि तत्र भगवान् अन्तरिक्षे वृपध्वजः ॥ |
| " " | ४३ | प्रार्थितश्चैव देवेन ब्रह्मणा भगवान् भवः ॥ |
| " " | ४४ | गाणपत्यं ददौ तस्मै दक्षयाक्षिलष्टकर्मणे । |
| | | देवाश्च सर्वे देवेशं तुष्टुवुः परमेश्वरम् ॥ |
| " " | ५० | नारायणश्च भगवान् तुष्टाव च कृतांजलिः । |
| | | ब्रह्मा च मुनयः सर्वे पृथक्-पृथगजोद्भवम् ॥ |

मदन-दहन

- | | | |
|-------|----|--|
| " १०१ | १६ | देवताश्च सहेन्द्रेण तारकाद् भयपीडिताः । |
| | | न शान्तिं लेभिरे शूराः शरणं वा भयार्दिताः ॥ |
| " " | २४ | सोऽपि तस्य मुखाच्छुत्वा प्रणयात् प्रणतार्तिहा । |
| | | देवैरशेषैः सेन्द्रैस्तु जीवमाह पितामहः ॥ |
| " " | २५ | जाने वार्ति सुरेन्द्राणां तथापि शृणु सांप्रतम् । |
| | | विनिन्द्य दक्षं या देवी सती रुद्रांगसंभवा । |
| " " | २६ | उमा हैमवती जज्ञे सर्वलोकनमस्कृता । |
| | | तस्याश्चैवेह रूपेण यूयं देवाः सुरोत्तमाः ॥ |
| " " | २७ | विभोर्यतध्वमाक्षुः रुद्रस्यास्य मनो महत् । |
| | | तयोर्योगेन संभूतः स्कन्दः शक्तिधरः प्रभुः ॥ |
| " " | २८ | षटास्यो द्वादशमुजः सेनानीः पावकिः प्रभुः ॥ |
| " " | ३० | लीलयैव महासेनः प्रबलं तारकासुरम् । |
| | | वालोऽपि विनिहत्यैको देवान् संतारयिष्यति ॥ |
| " " | ३५ | तमाह भगवाँश्छकः संभाव्य मकरध्वजम् । |
| | | शंकरेणाम्बिकामय संयोजय यथासुखम् ॥ |
| " " | ३८ | एवमुक्तो नमस्कृत्य देवदेवं शचीपतिम् । |
| | | देवदेवाश्रमं गन्तुं मतिं चक्रे तया सह ॥ |
| " " | ३९ | गत्वा तदाश्रमे शंभोः सह रत्या महावलः । |
| | | वसन्तेन सहायेन देवं योक्तुमनाभवत् ॥ |

२८८

शैव मत

भाग अध्या०

श्लो०

- १ १०१ ४० ततः संप्रेक्ष्य मदनं हसन् देवस्त्रियम्बकः ।
नयनेन तृतीयेन सावशं तमवैकृत ॥
- ” ” ४१ ततोऽस्य नेत्रजो वहिर्मदनं पाश्वर्तः स्थितम् ।
अदहत् तत्क्षणादेव ललाप कश्चणं रतिः ॥
- ” ” ४२ रत्याः प्रलापमाकर्थं देवदेवो वृषभ्वजः ।
कृपया परया प्राह कामपत्नीं निरीक्ष्य च ॥
- ” ” ४३ अमूर्तोऽपि श्रुवं भद्रे कार्यं सर्वं पतिस्तव ।
रतिकाले श्रुवं भद्रे ! करिष्यति न संशयः ॥

पार्वतीस्वयंवर

- ” १०२ १ तपसा च महादेव्याः पार्वत्या वृषभ्वजः ।
प्रीतश्च भगवान् शर्वो वचनाद् ब्रह्मणस्तदा ॥
- ” ” २ हिताय चाश्रमाणां च क्रीडार्थं भगवान् भवः ।
तदा हैमवतीं देवीसुपयेमे यथाविधि ॥
- ” ” १७ स्वयंवरं तदा देव्याः सर्वलोकेष्वघोषयत् ॥
- ” ” २३ अथ शैलसुता देवी हैममारुद्व शोभनम् ।
विमानं सर्वतोभद्रं सर्वरत्नैरलंकृतम् ।
- ” ” २७ मालां गृह्य जया तस्यौ सुरद्रुमसमुद्भवाम् ॥
विजया व्यजनं गृह्य स्थिता देव्याः समीपतः ॥
- ” ” २८ मालां प्रगृह्य देव्यां तु स्थितायां देवसंसदि ।
शिशुर्भूत्वा महादेवः क्रीडार्थं वृषभ्वजः ॥
- ” ” २९ उत्संगतलसंसुतो बभूव भगवान् भवः ।
अथ दण्डवा शिशुं देवास्तस्या उत्संगवर्त्तिनम् ॥
- ” ” ३० कोऽयमत्रेति समर्मन्त्रं चुन्तुभुश्च समागताः ।
वज्रमाहारयत्तस्य बाहुरुद्यम्य वृत्रहा ॥
- ” ” ३१ सबाहुरुद्यमस्तस्य तथैव समुपस्थितः ।
स्तंभितः शिशुरुपेण देवदेवेन लीलया ॥
- ” ” ४१ स बुद्ध्वा देवमीशानं शीघ्रमुत्थाय विस्मितः ।
ववन्दे चरणौ शंभोरस्तुवच्च पितामहः ॥
- ” ” ६१ तस्य देवी तदा हृष्टा समक्षं त्रिदिवैकसाम् ॥
- ” ” ६२ पादयोः स्थापयामास मालां दिव्यां सुगन्धिनीम् ॥

गणेशोत्पत्ति

- ” १०४ २ एतस्मिन्नन्तरे देवाः सेन्द्रोपेन्द्राः समेत्य ते ।
धर्मविघ्नं तदा कर्तुं दैत्यानामभवन् द्विजाः ॥

भाग अध्याय श्लो०

- | | | | |
|---|-----|----|---|
| १ | १०४ | ४ | अविघ्नं यज्ञदानादैः समभ्यन्त्र्य महेश्वरम् ।
ब्रह्माणं च हरिं विप्रा लब्धेऽप्सितवरा यतः ॥ |
| " | " | ६ | पुत्रार्थैँ चैव नारीणां नराणां कर्मसिद्धये ।
विघ्नेणां शंकरं स्तुष्टुं गणेणं स्तोतुर्महर्थ ॥ |
| " | " | ७ | इत्युक्त्वान्योन्यमनधं तुष्टुवुः शिवमीश्वरम् । |
| " | १०५ | ८ | सुरेतरादिभिः सदा ह्यविघ्नमर्थितो भवान् ॥ |
| " | " | ९ | ततः प्रसीदताद् भवान् सुविघ्नकर्मकारणम् ।
सुरापकारकारिणामिहैप एव नो वरः ॥ |
| " | " | १० | ततस्तदा निशम्य वै पिनाकधृक् सुरेश्वरः ।
गणेश्वरं सुरेश्वरम् वपुदधार स शिवः ॥ |
| " | " | ११ | इभाननाश्रितं वरं विशूलपाशधारिणम् ।
समस्तलोकसंभवं गजाननं तदाभ्विका ॥ |

उपमन्यु की कथा

- | | | | |
|---|-----|----|--|
| " | १०७ | २४ | एतस्मिन्नन्तरे देवः पिनाकी परमेश्वरः ।
शक्ररूपं समास्थाय गन्तुं चक्रं मर्ति तथा ॥ |
| " | " | ३१ | एवमुक्त्वा स्थितं वीक्ष्य कृतांजलिपुटं द्विजम् ।
प्राह गम्भीरया वाचा शक्ररूपधरो हरः ॥ |
| " | " | ३२ | तुष्टोऽस्मि ते वरं ब्रूहि तपसानेन सुव्रत ।
ददामि चेष्टितान् सर्वान् धौम्याग्रज महामते ॥ |
| " | " | ३३ | एवमुक्तस्तदा तेन शक्रेण मुनिसत्तमः ।
वरयामि शिवे भक्तिमित्युवाच कृतांजलिः । |
| " | " | ३४ | ततो निशम्य वचनं मुनेः कृपितवत् प्रभुः ।
प्राह सव्यग्रमीशानः शक्ररूपधरः स्वयम् ॥ |
| " | " | ३६ | मद्भक्तो भव विप्रेण मामेवार्चय सर्वदा ।
ददामि सर्वं भद्रं ते त्यज रुद्रं च निर्गुणम् । |
| " | " | ३७ | ततः शक्रस्य वचनं श्रुत्वा श्रोत्रविदारणम् ॥
उपमन्युरिदं प्राह जपन् पंचाक्षरं शुभम् । |
| " | " | ४१ | श्रुत्वा निन्दां भवस्याथ तत्क्षणादेव संत्यजेत् ।
खदेहं तं निहत्याशु शिवलोकं स गच्छति ॥ |
| " | " | ४२ | यो वाचोत्पाठयेऽजिह्वां शिवनिन्दां रतस्य च ॥
त्रिःसप्तकुलमुद्धृत्य शिवलोकं स गच्छति ॥ |
| " | " | ४३ | आस्तां तावन् ममेच्छायाः क्षीरं प्रति सुराधमम् ।
निहत्य त्वां शिवास्त्रेण त्यजाभ्येतत् कलेवरम् ॥ |

भाग अध्या० श्लो०

शैवों की श्रेष्ठता

- २ ४ २० अन्यभक्तसहस्रे भ्यो विष्णुभक्तो विशिष्यते ।
विष्णुभक्तसहस्रे भ्यो रुद्रभक्तो विशिष्यते ।
रुद्रभक्तात् परतरो नास्ति लोके न संशयः ॥
- ” ” २१ तस्मात् वैष्णवं चापि रुद्रभक्तमथापि वा ।
पूजयेत् सर्वयत्नेन धर्मकर्मार्थमुक्तये ॥

शिवोपासना का फल

- ” ५४ ३४ सर्वावस्थां गतो वापि मुक्तोऽयं सर्वपातकैः ।
शिवध्यानात् सदेहो यथा रुद्रस्थथा स्वयम् ॥
- ” ” ३५ हत्वा भीत्वा च भूतानि भुक्त्वा चान्यतोऽपि वा ।
शिवमेकं सकृत् स्मृत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

वराह पुराण

शिव और विष्णु का तादात्म्य

अध्या० श्लो०

- ६ ७ येयं मूर्तिर्भगवतः शंकर आस स्वयं हरिः ॥

विष्णु की श्रेष्ठता

- १० १५ स च नारायणो देवः कृते युगवरे प्रभुः ॥
” १६ त्रेतायां रुद्ररूपस्तु द्वापरे यज्ञमूर्तिमान् ॥

दक्षयज्ञविध्वंस

- २१ ४ तस्य ब्रह्मा शुभां कन्यां भार्यायै मूर्तिसंभवाम् ।
गौरीनार्भीं स्वयं देवीं भारतीं तां ददौ पिता ॥
- ” ८ तस्मिन् निमग्ने देवेशो तां ब्रह्मा कन्यकां पुनः ।
अन्तःशरीरगां कृत्वा गौरीं परमशोभिनीम् ॥
- ” ६ पुनः सिसुकुर्मगवान् असृजत् सप्त मानसान् ।
दक्षं च तत आरम्भं प्रजाः सम्यविवर्धिताः ॥.....
- ” ३८ ऋत्विजां मंत्रनिचयो नष्टो रुद्रागमे तदा ।
विपरीतमिदं दृष्ट्वा तदा सर्वेऽत्र ऋत्विजः ॥
- ” ३६ ऊचुः सन्नन्द्यतां देवा महद्वो भयमागतम् ।
कश्चिदायाति बलवान् असुरो ब्रह्मनिर्मितः ॥
- ” ४० यज्ञमागार्थमेतस्मिन् क्रतौ परमदुर्लभे ॥
- ” ४६ हुद्गुबुः सर्वतो दिन्तु रुद्रास्त्वेकादशद्रुतम् ॥

अध्याय	श्लोक
२१	६३ उमौ हरिहरौ देवौ लोके ख्याति गमिष्यथः ॥
"	६५ ब्रह्मा लोकानुवाचेदं रुद्रभागोऽस्य दीयताम् ॥
"	६६ रुद्रभागो ज्येष्ठभाग इतीर्थं वैदिकी श्रुतिः ॥
२२	१ तस्मिन् निवसतस्तस्य रुद्रस्य परमेष्ठिनः । चुकोप गौरी देवस्य पितुर्वैरमनुस्मरत् ॥
"	२ चिन्तयामास देवस्य त्वनेनापहृतं पुरम् । यज्ञो विध्वसितो यस्मात् तस्मादेहं त्यजाम्यहम् ॥

गणेशाजन्म

२३	७ देवदेव महादेव शूलपाणे त्रिलोचन । विघ्नार्थमविशिष्टार्थम् उत्पादयितुमर्हसि ॥
"	१३ मूर्तिमान् अतितेजस्वी हसतः परमेष्ठिनः ।
"	१४ प्रदीपास्यो महादीपः कुमारो भासयन् दिशः । परमेष्ठिगुणैर्युक्तः साक्षाद्वृद्ध इवापरः ॥
"	१६ तं दृष्ट्वा परमं रूपं कुमारस्य महात्मनः । उमाऽनिमेषनेत्राभ्यां तमपश्यच्च भासिनी ॥
"	१७ तं दृष्ट्वा कुपितो देवः स्त्रीभावं चंचलं तथा । मत्वा कुमाररूपं तु शोभनं मोहनं दशाम् ॥
"	१८ ततः शशाप तं देवं गणेशं परमेश्वरः । कुमार गजवक्त्रस्त्वं प्रलभ्वजठरस्तथा । भविष्यसि तथा सर्वैरुपवीतगतिश्रुतवम् ॥
"	२८ विनायको विघ्नकरो गजास्यो गणेशनामा च भवस्य पुत्रः । एते च सर्वे त्वपयान्तु भृत्या विनायकाः क्रूरद्वशः प्रचरणाः ॥

शिव और विष्णु का तादात्म्य

२५	४ पुरुषो विष्णुरित्युक्तः शिवो वा नामतः श्रुतः ॥
"	५ अव्यक्तं तु उमा देवी श्रीर्वा पद्मनिभेद्वणा ॥
"	१८ त्रिशूलपाणे पुरुषोत्तमाद्युत
"	१६ त्वमादिदेवः पुरुषोत्तमो हरिः भवो महेशस्त्रिपुरान्तको विभुः ।
"	२४ कपालमालिन् शशिखण्डशेखर शमशानवासिन् सितमस्मगुणित ।

स्कन्दजन्म

अध्या० श्लो०

- २५ ३२ एवमुक्त्वा हरो देवान् विसूज्य स्वांगसंस्थिताम् ।
शक्ति संक्षीभयामास पुत्रहेतोः परन्तप ॥
- ,, ३३ तस्य क्षोभयतः शक्ति ज्वलनार्कसमप्रभः ।
कुमारः सहजां शक्ति विभ्रज्ञानैकशालिनीम् ॥
- ,, ३४ उत्पत्तिस्तस्य राजेन्द्र बहुरूपा व्यवस्थिता ।
मन्वन्तरेष्वनेकेषु देवसेनापतिः किल ॥

कात्यायनी

- २८ २४ एवं चिन्तयतस्तस्य प्रादुरासीद् अयोनिजा ।
- ” २५ शुक्राम्बरधरा कन्या सक्षिकरीटोज्ज्वलानना ॥
- ” अष्टाभिर्बहुभिर्युक्ता दिव्यप्रहरणोदयता ।
- ” २६ चक्रं खड्गं गदां पाशं शंखं घटां तथा धनुः ॥
- ” धारयन्ती तथा चान्यान् बद्धतूणा जलाद्वहिः ।
- ” २७ निश्चक्राम महायोगा सिंहवाहनवेगिता ॥
- ” ३२ वेदमातर् नमस्तुभ्यम् अक्षरस्थे महेश्वरि ॥

त्रिमूर्ति

- ७१ २ तावत् तस्यैव रुद्रस्य देहस्थं कमलासनम् ।
- ” ३ नारायणं च हृदये त्रसरेणुसुसृष्टमकम् ।
ज्वलद् भास्करवरणां पश्यामि भवदेहतः ॥

विष्णु से शिव का प्रादुर्भाव

- ६० ३ तस्माद् रुद्रोऽभवत् देवी स च सर्वज्ञतां गतः ।
देवताओं की शक्ति के रूप में देवी
- ” १६ नीलोत्पलदलश्यामा नीलकुंचितमूर्धजा ।
- ” २० सुनासा सुललाटान्ता सुवक्त्रा सुप्रतिष्ठिता ॥
- ” २४ किं मां न वेत्थ सुश्रोणीं स्वशक्ति परमेश्वरीम् ॥

चामुण्डा

- ६६ ५२ चामुण्डे ज्वलमानास्ये तीक्ष्णदंष्ट्रे महावले ।
शतयानस्थिते देवि प्रेतासनगते शिवे ॥
- ” ५३ कराले विकराले च महाकाले करालिनि ॥
- ” ५४ काली कराली निक्रान्ता कालरात्रि नमोऽस्तु ते ।

ब्रह्मशिरःकृन्तन

अध्या० श्लो०

- ६७ ४ मंत्रमार्थर्वण् रुद्रो येन सद्यः प्रसुच्यते ॥
- ” ५ कपालिन् रुद्र ब्रोडथ भव कैरात सुव्रत ॥
- ” ६ एवमुक्तस्तदा रुद्रो भविष्यैर्नामभिर्भवः ।
कपालशब्दात्कुपितस्तच्छरो विचकर्त ह ॥
- ” ७ तन्निकृत्तं शिरो धात्रिहस्तलभ्नं बभूव ह ॥
- ” १२ तस्मिन् भिन्ने पृथक् केशान् गृहीत्वा भगवान् भवः ।
- ” १३ यज्ञोपवीतं केशं तु महास्थाद्यमणीस्तथा ।
कपालशकलं चैकमसृक् पूर्णं करे स्थितम् ।
- ” १४ अपरं खण्डशः कृत्वा जटाजृटे न्यवेशयत् ।
एवं कृत्वा महादेवो ब्रह्मामेमां वसुन्धराम् ॥
- ” २१ परिधानं तु कौपीनं नगः कापालिकोऽभवत् ।

वायु पुराण

शिव का उत्कर्ष

- ५ ३८ देवेषु च महान् देवो महादेवस्ततः स्मृतः ।
सर्वेशत्वाच्च लोकानामवश्यत्वात् तथेश्वरः ॥
- ” ३९ बृहत्वाच्च स्मृतो ब्रह्मा भूतत्वाद् भूत उच्यते ।
- ” ४० यस्मात् पुर्यनुशेते च तस्मात् पुष्प उच्यते ॥

देवी की उत्पत्ति

- ६ ७५ तत्र या सा महाभागा शंकरस्याद्दर्कायिनी ।
- ” ७६ प्रागुक्ता न मया तुम्हं स्त्री स्वयंभोर्मुखोदगता ।
कायाद्व दक्षिणं तस्या: शुक्रं वामं तथाऽसितम् ॥
- ” ७७ आत्मानं विभजस्वेति सोक्ता देवी स्वयंभुवा ।
सा तु प्रोक्ता द्विधा भूता शुक्ला कृष्णा च वै द्विजाः ॥

शिव के भूतगण

- १० ४४ विवासान् हरिकेशांश्च दृष्टिघाँश्च कपालिनः ॥
- ” ४६ स्थूलशीर्षान्दृष्टानुद्विजाहांस्त्रिलोचनान् ॥
- ” ४७ मेदपांश्चातिकायांश्च शितिकण्ठोग्रमन्यवः ॥

शिव का नकुली अवतार

- २३ २०६ अष्टविंशो पुनः प्राप्ते परिवर्ते क्रमागते ।
पराशरसुतः श्रीमान् विष्णुलोकपितामहः ॥

अध्या० श्लो०

- २३ २०७ तदा पठेन चांशेन कृष्णः पुरुषसत्तमः ।
बसुदेवाद् यकुश्रेष्ठो वासुदेवो भविष्यति ॥
- ,, २०८ तदा चाहं भविष्यामि योगात्मा योगमायया ।
- ,, २१० दिव्यां मेरुगुहां पुरुणां त्वया सार्थं च विष्णुना ।
भविष्यामि तदा ब्रह्मन् नकुली नाम नामतः ।
- ,, २१२ तत्रापि मम ते पुत्रा भविष्यन्ति तपस्विनः ।
कुशिकश्चैव गार्यश्च विश्वको रुष्ट एव च ॥

लिंगोत्पत्ति की कथा

- २४ ३५ ततौ ह्यपरिमेयात्मा भूतानां प्रभुरीश्वरः ।
शूलपाणिर्महादेवो हैमचीराम्बरच्छुदः ॥
- आगच्छत् तत्र सोऽनन्तो नागभोगपतिर्हरः ॥
- ,, ४३ प्रत्यासन्नमथायातं बालार्कां भूताननम् ।
भूतमत्यद्भुतं दृष्ट्वा नारायणमथावीत् ॥
- ,, ५४ अप्रमेयो महावक्त्रो दंष्ट्री व्यस्तशिरोश्वः ।
दशवाहुस्तिशलाङ्को नयनैर्विश्वतोमुखः ॥
- ,, ५५ लोकप्रभुः स्वयं सक्षाद् विकृतो मुंजमेखली ।
मेद्रे गोधर्वेन महता नदमानोऽति भैरवम् ॥
- ,, ५६ कः खलवेष पुमान् विष्णो तेजोराशिर्महाद्युतिः ।
व्याप्य सर्वा दिशो द्याश्च इत एवाभिवर्तते ।
- ,, ६१ कोऽयं भोः शंकरो नाम ह्यावयो व्यतिरिच्यते ॥
- ,, ६३ मायायोगेश्वरो धर्मो दुराधर्मो वरप्रदः ।
हेतुरस्यात्र जगतः पुराणः पुरुषोव्ययः ॥
- ,, ६५ प्रधानमव्ययं ज्योतिरव्यक्तं प्रकृतिस्तमः ।
अस्य चैतानि नामानि नित्यं प्रसव-धर्मिणः ।
- यः कः स इति दुःखातैर्मूर्यते यतिभिः शिवः ॥
- ,, ६६ एष बीजी भवान् बीजमहं योनिः सनातनः ।
- ,, ६८ अस्मान्महत्तरं गुह्यं भूतमन्यन्न विद्यते ।
महतः परमं धाम शिवमध्यात्मिनां पदम् ॥
- ,, ७० द्वैधीभावेन चात्मानं प्रविष्टस्तु व्यवस्थितः ।
निष्कलः सूक्ष्ममव्यक्तः सकलश्च महेश्वरः ॥
- शिवस्तुति (विष्णु और ब्रह्मा द्वारा)
- ,, ६१ अमेद्रायोदर्ध्वमेद्राय नमो वैकुण्ठरेतसे ॥
- ,, ६३ नमस्ते ह्यस्मदादीनां भूतानां प्रभवाय च ॥

अध्या० श्लो०

- | | | |
|----|-----|---|
| २४ | ६४ | नमो योगस्य प्रभवे सांख्यस्य प्रभवे नमः ॥ |
| " | १०६ | देत्यदानवसंघानां रक्षासां पतये नमः ॥ |
| " | १०८ | गन्धर्वाणां च पतये यक्षाणां पतये नमः ॥ |
| " | १०९ | नमोऽस्तु लक्ष्मीपतये श्रीमते हीमते नमः ॥ |
| , | १२६ | नमः कपालहस्ताय दिग्बस्त्राय कपर्दिने ॥ |
| " | १२८ | सुमेघसेऽक्षमालाय दिग्बासाय शिखण्डिने ॥ |
| " | १३१ | रक्षोन्नाय मखन्नाय शितिकण्ठोर्धवरेतसे ॥ |
| " | १३२ | आरिहाय कृतान्ताय तिग्मायुधधराय च ॥ |
| " | १३७ | श्मशानरतिनित्याय नमस्यम्बकधारिणे । |
| | | नमस्ते प्राणपलाय धवमालाधराय च ॥ |
| " | १३८ | नरनारीशरीराय देव्याः प्रियकराय च ॥ |
| " | १३९ | नमोऽस्तु वृत्यशीलाय वायानृत्यप्रियाय च । |
| " | १४४ | चलते क्रीडते चैव लम्बोदरशरीरिणे ॥ |
| " | १५४ | जपो जप्यो महायोगी महादेवो महेश्वरः । |
| | | पुरेशयो गुहावासी स्नेचरो रजनीचरः ॥ |
| " | १६० | ब्रह्मण्यो ब्रह्मचारी च गोप्नस्त्वं शिष्टपूजितः ॥ |
| " | १६२ | सांख्याः प्रकृतिभ्यः परमं त्वां विदित्वा—
दीणाध्यानास्ते न मृत्युं विशन्ति ॥ |
| " | १६३ | योगेन त्वां ध्यानिनो नित्ययुक्ता ज्ञात्वा भोगान् संत्यजन्ते पुनस्तान् ।
येऽन्ये मर्त्यस्त्वां प्रपञ्चा विशुद्धास्ते कर्मभिर्दिव्यभोगान् भजन्ते ॥ |

शिव और एकादश रुद्रों का तादात्म्य

- | | | |
|----|----|---|
| २५ | १५ | आत्मैकादशा ये रुद्रा विहिताः प्राणहेतवः ॥ |
| " | १६ | सोऽहमेकादशात्मा वै शूलहस्तः सहानुगः ॥ |

शिव और विष्णु का तादात्म्य

- | | | |
|---|----|---|
| " | २० | प्रकाशं चाप्रकाशं च जंगमं स्थावरं च यत् ।
विश्वरूपमिदं सर्वं रुद्रनारायणात्मकम् ॥ |
| " | २३ | आत्मानं प्रकृतिं विद्धि मां विद्धि पुरुषं शिवम् ।
भवानर्धशरीरं मे त्वं तव तथैव च ॥ |

शिव के भूतगणों की उत्पत्ति

- | | | |
|---|----|---|
| " | ६२ | सक्रोधाविष्टनेत्राभ्यामपतन्नश्च विन्दवः ।
ततस्तेभ्योऽश्च विन्दुभ्यो वातपित्तकात्मकाः ॥ |
|---|----|---|

दक्षयज्ञविधंस

- अध्या० श्लो०**
- २५ ६३ महाभागा महासत्त्वाः स्वस्तिकैरभ्यलंकृताः ।
प्रकीर्णकेशाः सर्पस्ते प्रादुर्भूता महाविषाः ॥
- ३० ४० दक्षस्यासन् सुता ह्यष्टौ कन्याः याः कीर्तिः मया ॥
- ” ४१ तासां ज्येष्ठा सती नाम पत्नी या व्यम्बकस्य वै ।
नाजुहावात्मजां तां वै दक्षोरुद्रमभिद्विष्ट् ॥
- ” ४३ ततो ज्ञात्वा सती सर्वाः स्वखः प्राप्ताः पितृर्ग्य हम् ।
जगाम साप्यनाहूता सती तत् स्वं पितृर्ग्य हम् ॥
- ” ४४ ततोऽब्रवीत् सा पितरं देवी क्रोधादमर्षिता ।
यवीयसीभ्यो ज्यायसीं किं तु पूजामिमां प्रभो ॥
असमतामवज्ञाय कृतवानसि गर्हिताम् ॥
- ” ४५ एवमुक्तोऽब्रवीदेनां दक्षः संरक्तलोचनः ॥
- ” ४६ त्वं तु श्रेष्ठा वरिष्ठा च पूज्या वाला सदा मम ।
तासां ये चैव भर्तारस्ते मे बहुश्रुताः सदा ॥
- ” ४७ गुणैश्चैवाधिकाः श्लाध्याः सर्वे ते व्यम्बकात् सति ॥
- ” ४८ तेन त्वां न बुभूपामि प्रतिकूलो हि मे भवः ।
- ५२ ततस्तेनावमानेन सती दुःखादमर्षिता ।
अब्रवीद् वचनं देवी नमस्कृत्य महेश्वरम् ॥
- ” ५३ यत्राहमुपपत्स्येऽहं पुनर्देहेन भास्वता ।
तत्राप्यहमसम्मूढा संभूता धार्मिकी पुनः ।
गच्छेयं धर्मपत्नीत्वं व्यम्बकस्यैव धर्मतः ॥
- ” ६३ यस्मात्वं मत्कृते क्रूरमृषीन् व्याहृतवानसि ।
तस्मात्सार्थं सुरैर्यज्ञे न त्वां यद्यन्ति वै द्विजाः ॥
- ” ६४ हुत्वाहुतिं ततः क्रूरः अपस्त्यद्यन्ति कर्मसु ।
इहैव वत्स्यसि तथा दिवं हित्वा युग्मन्यात् ॥
- ” १०४ पूज्यं तु पशुमर्तारं कस्मान्नाहयसे प्रभुम् ॥
- ” १०७ एतन्मखेशाय सुवर्णपात्रे हविः समस्तं विधिमंत्रपूतम् ।
विष्णोर्नयाम्यप्रतिमस्य सर्वे प्रभोर्विभो ह्याहवनीयनित्यम् ॥
- ” ११२ सुरैरेव महाभागे सर्वमेतदनुष्ठितम् ।
यज्ञेषु मम सर्वेषु न भाग उपकल्पितः ॥
- ” १८२ गजेन्द्रकर्ण-गोकर्णपाणिकवर्णा नमोस्तु ते ।
- ” १८७ नमो नर्तनशीलाय……मुखवादित्रिकारिणे……
- ” १८७ शिल्पिनां श्रेष्ठः सर्वशिल्पप्रवर्तकः ।

अध्या० श्लो०

३० २८ सर्वस्त्वं सर्वगो देव सर्वभूतपतिर्भवान् ।
सर्वभूतान्तरात्मा च तेन त्वं न निमंत्रितः ॥

काल और शिव का तादात्म्य

३१ ३२ अहंकाराद्वदन् रुद्रः सदभूतो ब्रह्मण्ड्यः ।
स रुद्रो वत्सरस्तेषां विजशे नीललोहितः ॥

सागर-मन्थन और विषपान

४४ ४८ मध्यमानेऽमृते पूर्वं क्षीरोदे सुरदानवैः ॥
अग्रे समुत्थितं तस्मिन् विषं कालानलप्रभम् ।
,, ५८ निर्दद्यो रक्तगौराङ्गः कृतकृष्णो जनार्दनः ।
,, ६७ ब्रह्मणे चैव स्त्राय विषण्वे च ते नमः ॥
सांख्याय चैव योगाय भूतग्रामाय वै नमः ॥
,, ६६ कपर्दिने करालाय शंकराय कपालिने ।
विरूपायैकरूपाय शिवाय वरदाय च ॥
,, ७३ व्यक्ताय चैवाव्यक्ताय व्यक्ताव्यक्ताय वै नमः ।
,, ७४ भक्तानामार्तिनाशाय नरनारायणाय च ॥
,, ७६ नमः कपालहस्ताय दिग्वासाय शिखण्डिने ॥
,, ८७ भवानग्र्यस्य भोक्ता वै भवांश्चैव वरः प्रभुः ।
,, ८८ त्वामृतेऽन्यो महादेव विषं सोहुं न शक्यते ॥
,, ९० कण्ठः समभवत् तर्णे कृष्णो मे वरवर्णिनि ।
,, ९८ त्वमेव विषणुश्चतुराननस्त्वं, त्वमेव मृत्युर्वरदस्त्वमेव ॥
,, १०० त्वमेव सर्वस्य चराचरस्य लोकस्य कर्ता प्रलये च गोप्ता ॥

शिव की सर्वशेष्ठता

४५ १० येन हि ब्रह्मणा सार्धं सृष्टा लोकाश्च मायथा ॥

लिंगोत्पत्ति की कथा

,, १७ उत्तरां दिशमास्थाय ज्वालादप्यथिष्ठिता ॥
,, २० तस्य ज्वालस्य मध्ये तु पश्यावो विपुलप्रभम् ॥
,, २१ प्रादेशमात्रमव्यक्तं लिंगं परमदीपितम् ।
,, २३ अस्य लिंगस्य योऽन्तं वै गच्छेते मंत्रकारणम् ।
घोररूपिणमत्यर्थं भिन्नतमिव रोदसी ।

अध्या० श्लो०

- ५५ ३२ परमेष्ठी परं ब्रह्म अक्षरं परमं पदम् ।
 श्रे ष्ठत्वं वामदेवश्च रुद्रः स्कन्दः शिवः प्रभुः ॥
- ” ३५ भूमेर्गन्धो रसश्चापां तेजोरूपं महेश्वर ॥
- ” ३७ त्वं कर्ता सर्वभूतानां कालो मृत्युर्यमोऽन्तकः ॥
- ” ५५ व्यालयज्ञोपवीती च सुराणामभवंकरः ॥

एकेश्वर शिव

- ६६ १०८ एकः स्वयंभुवः कालस्त्रिभिस्त्रीन् करोति यः ॥
 सुजते चानुगृह्णाति प्रजाः संहरते तथा ॥
- ” ११० एका तनुः स्मृता वेदे धर्मशास्त्रे पुरातने ।
 सांख्ययोगपरैर्वारैः पृथगेवैकदर्शिभिः ॥
- ” १११ एकत्वे च पृथक्त्वे च तासु भिन्नः प्रजास्विह ।
 इदं परं इदं नेति ब्रुवन्तो भिन्नदर्शनाः ।
- ” ११२ ब्रह्माणं कारणं केचित् केचित् प्रादुः प्रजापतिम् ।
 केचिच्छिवं परत्वेन प्रादुर्विष्णुं तथापरे ।
 अविज्ञानेन संसक्ता सक्ता रत्यादिचेतसा ॥
- ” ११६ एकात्मा स त्रिधा भूत्वा सम्मोहयति यः प्रजाः ।
 एतेषां तु त्रयाणां तु विचरन्त्यन्तरं जनाः ॥

स्कन्दजन्म की कथा

- ७२ २० अन्योन्यप्रीतिरनयोरुमाशंकरयोरथ ॥
- ” २१ श्लेषसंसक्तयोर्जात्वा शक्तिः किल वृत्रहा ।
 ताम्यां मैथुनसक्ताभ्याम् अपत्योद्धवभीरुणा ।
 तयोः सकाशमिद्रेण प्रेषितो हव्यवाहनः ॥
- ” २३ उमादेहं समुत्सृज्य शुक्रं भूमौ विसर्जितम् ।
- ” २४ ततो रुषितया देव्या शसोऽग्निः शांशपायनः ॥
- ” २५ यस्मान् अस्य कर्तव्यं तस्मात्वमसि दुर्मतिः ॥
 कृतवान् अस्य कर्तव्यं तस्मात्वमसि दुर्मतिः ॥
- ” २६ गम्भीरं त्वं धारय त्वेवमेषा ते दण्डधारणा ॥.....

शिवस्तुति

- ६७ १६६ गिरीशायाकर्नेत्राय यतिने जाम्बवाय च ।
- ” १६४ स्त्रष्टे धर्त्रैं तथा होत्रे हत्रैं च क्षपणाय च ॥
- ” २०१ नित्याय चाथलिंगाय सूक्ष्माय चेतनाय च ।

शिवभक्तों का स्वरूप

- | अध्या० | श्लो० |
|--------|--|
| १०१ | ३११ हीमन्तः सुरजिताः दान्ता शौर्ययुक्ता ह्यलोलुपाः ।
मध्याहाराश्च मात्राश्च आत्मारामजितेन्द्रियाः ॥ |
| " | ३१२ जितद्वन्द्वा महोत्साहाः सौभ्या विगतमस्तराः ॥ |
| " | ३१३ कर्मणा मनसा वाचा विशुद्धे नान्तरात्मना ।
अनन्यमनसो भूत्वा प्रपन्ना ये महेश्वरम् ॥ |

भस्मनाथ शिव

- | | |
|-----|--|
| ११२ | ५३ भस्मकूटे भस्मनाथं नत्वा च तारयेत् पितृन् ।
त्यक्तपापो भवेन्मुक्तः संगमे स्नानमाचरेत् ॥ |
|-----|--|

विष्णु पुराण

- | भाग | अध्या० | श्लो० | विष्णु और शिव का तादात्म्य |
|-----|--------|-------|----------------------------|
|-----|--------|-------|----------------------------|

- | | | | |
|---|---|----|---|
| १ | ८ | २१ | शंकरो भगवान् शैरिर्भूतिंगौरी द्विजोत्तम ॥ |
| " | ६ | ६८ | नमो नमो विशेषस्त्वं त्वं ब्रह्मा त्वं पिनाकधृत् ॥ |

सोम और तारा की कथा

४ ६ ५—१३ अत्रेःसोमः.....स च राजसूयमकरोत् । तत्प्रभावात्.....चैनं
मद आविवेश । मदावलेपाच्च.....सकलदेवगुरोर्बृहस्पतेस्तारां
नाम पल्नीं जहार.....अंगिरसश्च सकाशादुपलब्धविद्यो भगवान्
रुद्रो बृहस्पतेः साहाय्यम् अकरोत्.....ततश्च भगवान् अप्युशनसं
शंकरमसुरान् देवांश्च निवार्य बृहस्पतेस्तारामदात् ।

उषा और अनिरुद्ध की कथा

- | | | | |
|---|----|----|---|
| ५ | ३३ | २२ | हरिशंकरयोर्द्धमतीवासीत् सुदारुणम् ॥ |
| " | " | २५ | जृम्भाभिमूलश्च हरो रथोपस्थ उपाविशत् ।
न शशाक तथा योद्धुं कृष्णोनाक्लिष्टकर्मणा ॥ |
| " | " | ४० | स उपेत्याह गोविन्दं सामृत्वंसुमापतिः ॥ |
| " | " | ४१ | कृष्ण कृष्ण जगन्नाथ जाने त्वां पुरुषोत्तमम् ।
परेशं परमानन्दमनादिनिधनं परम् ॥ |
| " | " | ४४ | मया दत्तवरो दैत्यस्ततस्त्वां ज्ञामयाम्यहम् ॥ |
| " | " | ४६ | युष्मद्वत्तवरो वाणी जीवतामेष शंकर ।
त्वद्वाक्यगौरवाद् एतन्मया चक्रं निवर्तितम् ॥ |

३००

शैव मत

भाग अध्या० श्लो०

- ५ ३३ ४७ मत्तोऽविभिन्नमात्मानं द्रष्टुमर्हसि शंकर ॥
 " " ४८ योऽहं स त्वं जगच्चेदं सदेवासुरमानुषम् ।
 अविद्यामोहितात्मानः पुरुषाः भिन्नदर्शिनः ॥

सौर पुराण

शिव का उत्तरण

अध्या० श्लो०

- २ २ विश्वं तेनाखिलं व्यासं नान्येनेत्यब्रवीच्छ्रुतिः ॥
 " ४ एकोऽपि बहुधा भाति लीलया केवलः शिवः ।
 ब्रह्मविष्णवादिरुपेण देवदेवो महेश्वरः ।
 " ६ आत्मभूतान्महादेवाल्लीलाविग्रहरूपिणः ।
 आदिसर्गे समुद्भूतौ ब्रह्मविष्णु सुरोत्तमौ ॥
 " ८ मुमुक्षुभिः सदा ध्येयः शिव एको निरंजनः ॥
 " १२ तस्मिन् ज्ञातेऽखिलं ज्ञातमित्याहुर्वेदवादिनः ॥
 " १४ न दानैर्न तपोभिर्वा नाश्रमेधादिभिर्मर्यैः ।
 भक्त्यैवानन्यया राजन् ज्ञायथे भगवान् शिवः ॥
 " १६ १६ तस्य ज्ञानमयी शक्तिरव्यया गिरिजा शिवा ।
 तया सह महादेवः सृजत्यवति हन्ति च ॥
 २ १७ आचक्षते तयोर्भेदमज्ञा न परमार्थतः ।
 अभेदः शिवयोः सिद्धो वहिदाहकयोरिव ॥
 " १८ माया सा परमा शक्तिरक्षरा गिरिजाव्यया ।
 मायाविश्वात्मको रुद्रस्तज्जात्वा ह्यमृती भवेत् ॥
 " १६ स्वात्मन्यवस्थितं देवं विश्वव्यापिनमीश्वरम् ।
 भक्त्या परमया राजन् ज्ञात्वा पाशैर्विमुच्यते ॥
 " २८ असूजद् योगिनां ध्येयो निर्गुणात् स्वयं शिवः ॥
 " ३१ यं प्रपश्यन्ति विद्वांसो योगिनः क्षणिताशयाः ।
 नियम्य करणग्रामं स एवात्मा महेश्वरः ॥
 " ४२ बालाग्रमात्रं हृत्पद्मे स्थितं देवमुमापतिम् ।
 येऽनुपश्यन्ति विद्वांसः तेषां शान्तिर्हि शाश्वती ॥
 ३ ८ तत्राक्षयः परो धर्मः शिवधर्मः सनातनः ॥
 " ११ कुर्वन्नपि सदा पापं सङ्केवाचर्येच्छिवम् ।
 लिप्यते न स पापेन याति माहेश्वरं पदम् ॥

दक्षयज्ञ-विध्वंस

अध्याय० श्लो०

- ७ १० वैरं निधाय मनसि शंभुना सह सुव्रताः ।
दक्षः प्राचेतसो यज्ञमरोज् जाह्वीतटे ॥
- “ १२ देवान् सर्वांश्च भागार्थमाहूतान् पश्चसंभवः ।
- “ १३ दृष्ट्वा शिवेन रहितान् दक्षं प्रत्येवमब्रवीत् ।
अहो दक्ष महामूढ दुर्बुद्धे किं कृतं त्वया ।
देवाः सर्वे समाहूनाः शंकरेण विना कथम् ।
- “ १७ यस्य पादरजः स्पर्शाद् ब्रह्मत्वं प्राप्तवान् अहम् ।
शार्ङ्गिणापि सदा मूर्धना धार्यते कः शिवात्परः ॥
- “ १८ यस्य वामाङ्गजो विष्णुर्दक्षिणाङ्गाद् भवाम्यहम् ।
यस्याशयाखिलं विश्वं सूर्यो भ्रमति सर्वदा ॥
- “ २० सा च शक्तिः परा गौरी स्वेच्छाविग्रहचारिणी ॥
- “ २१ कस्तां जानाति विश्वेशीमीश्वरार्धशरीरिणीम् ।
अहं नायापि जानामि चक्री शक्स्य का कथा ॥
- “ ३० एक एवेति यो रुद्रो सर्ववेदेषु गीयते ।
तस्य प्रसादलेशेन मुक्तिर्भवति किंकरी ॥
- “ ३४ नाहं नारायणाद् देवात् पश्याम्यन्यं द्विजोत्तम ।
कारणं सर्ववस्तूनां नास्तीत्येव सुनिश्चितम् ॥

भक्ति पर जोर

- ११ ५ मद्भक्तः सर्वदा स्कन्द मत्प्रियो न गुणाधिकः ।
सर्वाशी सर्वभक्ती वा सर्वाचारविलोपकः ॥
- “ ६ मत्परो वाङ्मनःकायैर्मक्त एव न संशयः ।
- “ ७ तुष्टोऽहं भक्तिलेशेन क्षिप्रं यच्छ्वे परमं पदम् ॥
- “ ८ वैष्णवानां सहस्रे भ्यो शिवभक्तो विशिष्यते ॥
- “ २२ भक्तिगम्यस्त्वहं वत्स मम योगो हि दुर्लभः ॥
- “ ३० अहमात्मा विमुः शुद्धः स्फटिकोपलसन्निभः ।
उपाधिरहितः शान्तः स्वयं ज्योतिः प्रकाशकः ॥

माहेश्वर योग

- १२ १ मर्येकचित्तता योग इति पूर्वे निरूपितम् ।
साधनान्यष्टधा तस्य प्रवद्याम्यधुना शृणु ॥
- [यह साधन हैं:—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, समाधि और
ध्यान] ।

अनंगत्रयोदशी ब्रत

अध्या० **श्लो०**

- १६ ३ पुरा देवेन रुद्रेण दधः कामो दुरासदः ।
उपोषिता तिथिस्तेन तेनानंगत्रयोदशी ॥

त्रिमूर्ति की एकता

- २३ ५३ त्रिधा भिन्नोऽस्मयहं ब्रह्मन् ब्रह्म-विष्णु-हराख्यया ।
सर्गरक्षालयगुणैर्निर्गुणोऽहं न संशयः ॥

भक्ति द्वारा शिवदर्शन

- २४ ४३ तदीयं त्रिविधं रूपं स्थूलं सूक्ष्ममतःपरम् ।
अस्मदायैः सुरैर्दृश्यं स्थूलं सूक्ष्मं तु योगिभिः ॥
- ” ४४ ततः परं तु यज्ञित्वं ज्ञानमानन्दमव्ययम् ।
तन्निष्ठैस्तत्परैर्भक्तैर्दृश्यते व्रतमास्थितैः ॥

शिव और विष्णु का ऐक्य

- ” ६८ नावाभ्यां विद्यते भेदो मच्छक्तिस्त्वं न संशयः ॥

परमेश्वर शिव

- २६ ३१ त्वामेकमाहुः पुरुषं पुराणम् आदित्यवर्णं तमसःपरस्तात् ।
- ” ३२ त्वमात्मतत्वं परमार्थशब्दं भवन्तमाहुः शिवमेव केचित् ॥
- ” ३५ वेदान्तगुह्योपनिषत्सु गीतः, सदाशिवस्त्वं परमेश्वरोऽसि ॥

शिवभक्त दानव

- ३४ २६ हन्तव्यास्ते कथं दैत्या महादेवपरायणः ॥
- ” २७ त्रैलोक्यमपि यो हत्वा महादेवपरायणः ॥
- ” २८ कस्तं निहन्ता त्रैलोक्ये विना शम्भोरुग्रहात् ॥

शिवद्वारा गणेशपूजा

- ३५ १६ स्वकार्याविघ्नकर्तारं देवं दृष्ट्वा विनायकम् ।
संपूज्य भद्र्यभोजयैश्च फलैश्च विविधैः शुभैः ॥
- ” २० उण्डेरैर्मोदकैश्चैव पुष्पैर्दीपैर्मनोहरैः ।
एवं संपूज्य भगवान् पुरं दश्चुं जगाम ह ॥

उपमन्यु की कथा

- ३६ २३ भक्ति शूलिन्यहं याचे शिवादेव न चान्यथा ॥
अलमन्यवर्हैः शक्त तरङ्गैरिव चंचलैः ॥.....

अध्यात् श्लो०

- ३६ २६ कि तेन पार्वतीशेन निर्गुणेन महात्मना ।
क्रियते मुनिशार्दूल तस्मान्मत्तो वर्त शृणु ॥.....
३३ " शिवनिन्दाकरं दृष्ट्वा धातयित्वा प्रयत्नतः ।
हत्वात्मानं पुनर्यस्तु स याति परमां गतिम् ॥

शिव का उत्कर्ष

- ३८ १ चतुर्ष्वपि च वेदेषु पुराणेषु च सर्वशः ।
श्रीमहेशात्परो देवो न समानोऽस्ति कश्चन ॥
६ " केचिल्लोका महेशानं त्यक्त्वा केशवकिंकराः ।
तत्र किं कारणं सूत वद संशयनाशक ॥
७ " अन्तकाले स्मरन्त्येव प्रायेण गरुडध्वजम् ।
विद्यमाने शिवे विष्णेः प्रभौ श्रीपार्वतीपतौ ॥
८ " यदा यदा प्रसन्नोऽभृद् भक्तिभावेन धूर्जटिः ।
विष्णुनाराधितो भक्त्या तदासौ दत्तवान् वरान् ॥
१० " हेतुना तेन विप्रेन्द्राः शिवं जानन्ति केचन ।
प्रायेण विष्णुनामानि गृह्णन्ति वरदानतः ॥
११ " विष्णोः स्मरणमात्रेण सर्वपापक्षयो भवेत् ।
शंभुप्रसाद एवैष नात्र कार्या विचारणा ॥.....
१६ " जन्मादिकारणं शंभुं विष्णुं ब्रह्मादिपूर्वजम् ।
न जानन्ति महामूर्खा विष्णुमायाविमोहिताः ॥
३८ ५४ न चावांको न वै बौद्धो न जैनो यवनोऽपि वा ।
कापालिको कौलिको वा तस्मिन् राज्ये विशेषं कचित् ॥
६३ " शिवद्वेष्टा महापापप्रेरकः शिवनिन्दकः ।
६४ " दम्भेन यदि तद्राज्ये शिवनिन्दा कृता भवेत् ।
तदा तत्पूर्वजाः सर्वे नरकं यान्ति दाशणम् ॥
६६ " कश्चाएडालः शिवं ब्रूयात् साधारण्येन विष्णुना ।
यस्य प्रसादाद् वैकुण्ठः प्राप्तवान् ईदृशं पदम् ॥***
६८ " राजन् वेदार्थविज्ञाने वहो मोहिता जनाः ॥
शिवपूजारता: सन्तो नानादैवतपूजकाः ॥
८५ " एको विष्णुर्द्वितीयो द्व्येयः किन्त्वतरैः सुरैः ।
क्रूरं च कूरकर्मणं शंकरं मन्यते कथम् ॥.....
६० " अनादिना प्रमाणेन वेदेन प्रोच्यते शिवः ।
विष्णोरप्यधिको विप्रः संपूज्यो न कथं भवेत् ॥

अध्या० श्लो०

- ३८ ६१ शिवादिषु पुराणेषु प्रोच्यते शंकरो महान् ।
 सर्वासु स्मृतिषु ब्रह्मन् शिवाचारेषु सर्वतः ॥
- ,, ६३ नैकाग्रमनसस्ते तु येऽन्यन्तीह धूर्जटिम् ।
 श्मशानवासी दिभासा ब्रह्ममस्तकधृग् भवः ॥
- ,, ६४ सर्पहारः कथं सेव्यः विषधारी जटाधरः ॥
 तस्माद्विष्णुः सदा सेव्यः सुन्दरः कमलापतिः ॥

विष्णुद्वारा शिव-प्रशंसा

- ३९ १४ मत्स्वामिनोऽवगणना न हि शक्यते मे,
 कृत्वापि पूज्यतममूर्तिमिमं गिरीशम् ।
 नो मन्यते तदिह वज्रसमं ममैव ॥
- ,, १६ अस्ति सर्वं वरारोहे मयि तत्थ्यमेवहि ।
 श्रीमन्महेश्वरालब्धं मदीयं न हि किंचन ॥
- ,, १८ वेदवेदांगवेतत्णां सहस्राण्यग्रजन्मनाम् ।
 हननान्मुच्यते जीवो न तु श्रीशिवहेलनात् ॥
- ,, २२ स्वामी मदीयः श्रीकण्ठस्तस्य दासोऽस्मि सर्वदा ॥

शिव और विष्णु का तादात्म्य

- ४० १ सूत भद्रं समाचक्षव सेवको यस्य माधवः ।
 श्रीमहेशस्य विष्णोश्च तुल्यत्वं ब्रुवते कथम् ।
- ,, २ ब्रुवन्ति तुल्यतां केचित् वैपरीत्येन केचन ।
 एकत्वं केचिदीशेन केशवस्य वदन्ति हि ॥
- ,, ३ अत्र सिद्धान्तमर्यादां ब्रूहि तत्त्वेन सृतज ॥.....
- ,, ४ अद्वैतं शिवमीशानमज्ञात्वा नैव मुच्यते ॥

शिवभक्तों की अल्पसंख्या

- ,, १० घोरे कलियुगे प्राप्ते श्रीशंकरपराङ्मुखाः ।
 भविष्यन्ति नरास्तथमिति द्वैपायनोऽब्रवीत् ॥

शिव का उत्कर्ष

- ,, १६ न्यूनतां तस्य यो ब्रूते कर्मचाएडाल उच्यते ।
- ,, १७ तेन तुल्यो यदा विष्णुब्रह्मा वा यदि गद्यते ।
 षष्ठिवर्षसहस्राणि विष्टायां जायते कृमिः ॥

विष्णु द्वारा शिवलिंग की पूजा

अध्याय ० श्लो०

- ४१ ६ लिंगं तत्र प्रतिष्ठात्य स्नाप्य गन्धोदकैः शुभैः ॥
" १० त्वरिताख्येन रुद्रेण संपूज्य च महेश्वरम् ।
ततो नामां सहस्रेण तुष्टाव परमेश्वरम् ॥

शिव की उपाधियाँ

- “ १५ वेदान्तसारसंदोहः………
“ १६ अष्टमूर्तिः……विश्वमूर्तिः……
“ २० नागचूडः……दुर्वासाः……
“ २३ विशालाक्षो महाव्याधः……
“ २८ महर्षिकपिलाचार्यः……
“ ३० शिवो भिषगनुत्तमम् ।
“ ३८ पञ्चविंशतितत्त्वस्थः………
“ ४० क्षपणः क्षामः………
“ ४३ उन्मत्तवेशः प्रच्छन्नः………
“ ४६ भक्तिगम्यः परं ब्रह्म………
“ ५३ निशाचरः प्रेतचारी………
“ ५५ नर्तकः सर्वनायकः………
“ ६४ चामुण्डी जनकश्चारुः………
“ १०६ ननो ननव्रतधरः………
“ १०७ लिंगाध्यक्षः सुराध्यक्षः………
“ ११० विष्णुकन्धरपातनः………

लिंग का उत्कर्ष

- ४२ ४१ आदिमध्यान्तरहितं भेषजं भवरोगिणाम् ।
" ४२ प्रणवेनैव मन्त्रेण पूजयेलिलंगमूर्धनि ॥

उमामहेश्वरत्रत

[लिंगपुराण अध्याय ८४ के समान ही ।]

देवी का वर्णन

- ४६ ५ नानारूपधरा सैवमवतीर्येव पार्वती ।
धर्मसंस्थापनार्थाय निघ्रती दैत्यदानवान् ॥
" ६ परमात्मा यथा रुद्र एकोऽपि बहुधा स्थितः ।
प्रयोजनवशाद् देवी सैकापि बहुधा भवेत् ॥………

अध्यात्म

श्लोक

- ६३ बभूवाह्नु तरुपा सा त्रिनेत्रा चन्द्रशेखरा ॥
 ” सिंहारुढा महादेवी नानाशस्त्रास्त्रधारिणी ।
 ” ६४ सुवक्त्रा विंशतिभुजा रस्कूर्जद्विद्युल्लतोपमा ॥

दलकानवमी को देवी की पूजा

- ५० ३० पुष्पैर्धूपैश्च नैवेद्यैः पयोदधिफलादिभिः ॥
 भक्त्या संपूजयित्वैवं स्तुत्वा संप्रार्थयेत् ततः ॥
 ” ३६ अनेन विधिना वर्षे मासि मासि समाचरेत् ॥
 ” ३७ ततः संवत्सरस्यान्ते भोजयित्वा कुमारिकाः ।
 वस्त्रैरामरणैः पूज्याः प्रणिपत्य विसर्जयेत् ॥
 ” ३८ सरुकमश्छङ्गां गां दद्यात् सुविप्राय सुशोभनाम् ।.....
 ” ७१ गोब्राह्मणार्चनपराश्र रता स्वधर्मे
 ये मथ्यमांसविमुखाः शुचयश्च शैवाः ।
 सत्यप्रियाः सकलभूतहिते रताश्च
 तेषां च तुष्ट्यति सदा सुमतेमृडानी ॥

शिव का दार्शनिक रूप

- ५४ १४ यदद्वारं निर्गुणमप्रमेयं, यज्ज्योतिरेकं प्रवदन्ति सन्तः ।
 दूरंगमं देवमनन्तमूर्ति नमामि सूक्ष्मं परमं पवित्रम् ॥

शिव और पार्वती का ऐक्य

- ५५ ६ मेदोऽस्ति तत्त्वतो राजन् न मे देवान्महेश्वरात् ।
 सिद्धमेवावयोरैक्यं वेदान्तार्थविचारणात् ॥
 ” ८ अहं सर्वान्तरा शक्तिमाया मायी महेश्वरः ।
 अहमेका पराशक्तिरेक एव महेश्वरः ॥

शिवोपासना का पुराण

- ६४ ३० नास्ति लिंगार्चनात् पुण्यमधिकं भुवनत्रये ।
 ” ३१ लिंगेऽर्चितेऽखिलं विश्वमर्चितं स्यान्न संशयः ।
 मायया मोहितात्मानो न जानन्ति महेश्वरम् ॥
 ” ३४ पृथिव्यां यानि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च ॥
 ” ३५ शिवलिंगे वसन्त्येव तानि सर्वाणि नारद ॥
 ” ४४ शिवभक्तान् वर्जयित्वा सर्वेषां शासको यमः ।

लिंगोत्पत्ति

अध्या० श्लो०

- | | |
|----|--|
| ६६ | १६ एकार्णवे पुरा घोरे नष्टे स्थावरजंगमे ।
मम विष्णोः प्रवोधार्थमाविभूतं शिवात्मकम् ॥ |
| ” | २० ततःप्रभृत्यहं विष्णुर्भूत्या परमया मुदा ।
लिंगमूर्तिर्घरं शान्तं पूजयावो वृषध्वजम् ॥ |
| ” | २४ कुरु युद्धं मया सार्वमहमेव जगत्यतिः ।
अथवा भज मां देवं त्रैलीक्यस्याभयप्रदम् ॥ |
| ” | २७ प्रादुर्भूतं तदा लिंगमावयोर्दर्पहारि तत् । |
| ” | २९ तस्मिन् लिंगे महादेवः स्वयं ज्योतिः सनातनः ।
सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥ |
| ” | ३० अर्वनारीश्वरोऽनन्तस्तेजोराशिर्दुर्रासदः ॥ |

मृषिपत्तिन्यों की कथा

- | | |
|----|--|
| ६६ | ३४ अन्यद् दास्वनं पुण्यं शंकरस्यादिवल्लभम् ।
गिरिजापतिना यत्र मोहिता मुनिपलन्यः ॥ |
| ” | ४० मुनिस्त्रियः शिवं दृष्ट्वा मदनानलदीपिताः ॥ |
| ” | ४१ त्यक्तलज्जा विवस्त्राश्च युस्ता अनुशंकरम् ॥
स्त्रीरूपधारिणं विष्णुं सर्वे मुनिकुमारकाः ॥ |
| ” | ४२ अन्वगच्छन्त देवर्षे कामवाणप्रपीडिताः ।
तदद्धुतं तदा ज्ञात्वा कुपिता मुनयस्तदा । |
| ” | ४३ लिंगहीनं हरं कृत्वा गोपवेशधरं हरिम् ।
तदाप्रभृति विपेन्द्र शिवामेखलसंज्ञिता ॥ |
| ” | ४४ उभयोश्चैव संयोगः सर्वप्रहरः शिवः ॥ |

तत्र ग्रन्थ

कालीतंत्र

देवी का स्वरूप

अध्या० खण्ड श्लो०

- | | |
|---|--|
| १ | ३ १ करालवदनां घोरां मुक्तकेशीं चतुर्भुजाम् ।
कालिकां दक्षिणां दिव्यां मुण्डमालाविभूषिताम् ॥ |
| ” | ” २ सद्यच्छिन्नशिरःखण्डगवामाघोर्वकराम्बुजाम् ।
अभयं वरदं चैव दक्षिणोर्धार्धपाणिकाम् ॥ |
| ” | ” ३ महामेघप्रभां श्यामां तथा चैव दिग्म्बरीम् ।
कण्ठावसत्त्वमुण्डालीगलद्रुधिरचर्चिताम् ॥ |

३०८

शैव मत

अध्या० खण्ड श्लो०

- १ ३ ४ घोररावं महारौद्रीं शमशानालयवासिनीम् ।
बालाक्मण्डलाकारलोचनतृतीयान्विताम् ॥
- ” ” ५ शवरूपमहादेव हृदयोपरि संस्थिताम् ।
शिवाभिर्दोररावाभिश्चतुर्दिन्तु समन्विताम् ॥
- ” ” ६ महाकालेन च समां विपरीतरतातुराम् ।
सुखप्रसन्नवदनां स्मेराननसरोरुहाम् ॥
- ” ” ७ एवं संचिन्तयेत्कालीं सर्वकामसमृद्धिदाम् ॥

देवी-पूजन विधि

- ” ” १५ समन्तादापीनस्तनजघनधृग्यौवनवती
रतासको नक्तं यदि जपति भक्तस्तवमनुम् ।
विवासास्त्वां ध्यायन् गलितचिकुरस्तस्य वशगः
समस्ताः सिद्धौका भुवि चिरतरं जीवति कविः ॥

महामाता देवी

- ” ” १७ प्रसूते संसारे जननि जगतीं पालयति च
समस्तं चित्यादि प्रलयसमये संहरति च ।
अतस्त्वां धातापि त्रिभुवनपतिः श्रीपतिरपि
महेशोऽपि प्रायः सकलमपि किं स्तौमि भवतीम् ॥

देवी के विविध रूप

तारा

- ३ २ प्रत्यालीदपदां घोरां सुण्डमालाविभूषिताम् ।
बालाक्मण्डलाकारलोचनत्रयभूषिताम् ॥
- ज्वलचित्तामध्यगतां घोरदंष्ट्राकरालिनीम् ॥

महाविद्या

- चतुर्भुजां महादेवीं नागयज्ञोपवीतिनीम् ।
महाभीमां करालास्यां सिद्धविद्याधरैर्युताम् ॥
- मुण्डमालावलीकीर्णं मुक्तकेशीं स्मिताननाम् ।
एवं ध्यायेन् महादेवीं सर्वकामार्थसिद्धये ॥

देवी द्वारा शिव और विष्णु का सृजन

- ५ २ २ आद्यामशेषजननीमरविन्दयोने-
र्विष्णोः शिवस्य च वपुः प्रतिपादयित्री ।
सृष्टिस्थितिक्षयकरीं जगतां त्रयाणाम् ।
स्तुत्वा गिरं विमलयाम्यहमभिके त्वाम् ॥

कुलचूडामणितंत्र

देवी का उत्कर्ष

अध्या० **श्लो०**

- १ २४ यदि मां विद्धि सर्वज्ञः क्व चाम्नायः क्व याजनम् ।
 न विद्धि मां चेत् सर्वज्ञः क्व चाम्नायः क्व याजनम् ॥
- ,, २५ नारीरूपं समास्थाय सुष्ठिसारं मदात्मकम् ।
 भवन्तं भावयोगस्थं गुरुं ज्ञातुं विजृभिता ॥
- कौल सिद्धान्तों का गुप्त रखा जाना
- ,, २८ सर्वज्ञं सर्वदं गुह्यं तत्त्वबोधप्रबोधकम् ॥
- ,, ३१ न मया विष्णुवे प्रोक्तः न धात्रे गणपाय च ॥
- शमशान-भूमि में देवी की पूजा
- ४ ३६ ध्यायेत् कालीं करालास्यां दंष्ट्रालीनविलोचनाम् ।
 स्फुरच्छवकरश्चे णिकृतकांचीं दिगम्बरीम् ॥

कुलार्णव तंत्र

शिववर्गान

- १ ११ अस्ति देवी परब्रह्मस्वरूपी निष्कलः शिवः ।
 सर्वज्ञः सर्वकर्ता च सर्वेषो निर्मलाशयः ॥
- ,, १२ अर्थं ज्योतिरनाथन्तो निर्विकारः परात्परः ।
 निर्गुणः सच्चिदानन्दस्तदंशा जीवसंज्ञकाः ॥
- ब्रह्मा और विष्णु को तंत्र का ज्ञान न होना
- २ ४ ब्रह्मविष्णुगुहादिभ्यो न मया कथितं प्रिये ।
 कथयामि तव स्नेहात् शृणुपैकाग्रमानसा ॥
- ,, ६ त्वयापि गोपितव्यं हि न देयं यस्य कस्यचित् ।
 देयं भक्ताय शिष्याय अन्यथा पतनं भवेत् ॥

तंत्र वेदों के सार हैं

- ,, १० मथित्वा ज्ञानमन्थेन वेदागममहार्णवम् ।
 सर्वज्ञेन मया देवि कुलधर्मः समुद्धृतः ॥
- कौलों की जनसाधारण द्वारा निन्दा
- ,, ५१ निन्दन्तु बान्धवाः सर्वे त्यजन्तु स्त्रीसुतादयः ।
 जना हसन्तु मां दृष्ट्वा राजानो दण्डयन्तु वा ॥
- ,, ५२ सेवे सेवे पुनः सेवे त्वामेव परदेवते ।
 त्वत्कर्म नैव मुंचामि मनोवाक्कायकर्मभिः ॥

अध्या०

श्लो०

कौल सिद्धान्तों का गुप्त रखा जाना
 वेदशास्त्रपुराणानि प्रकाश्यानि कुलेश्वरि ॥
 ३ रहस्यातिरहस्यानि कुलशास्त्राणि पार्वति ॥
 ”

मदिरा की प्रशंसा

५

सुरादर्शनमात्रे ए सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
 तदगन्धारणमात्रे ए शतकतुफलं लभेत् ।
 तस्य संदर्शनमात्रे ए तीर्थकोटिफलं लभेत् ।
 देवि ! तत्पानतः साक्षाल्लभेन्मुक्तिं चतुर्विधाम् ॥……
 यथा क्रतुषु विप्राणां सोमपानं विधीयते ।
 मद्यपानं तथा कार्यं समग्राभोगमोक्तदम् ॥

प्रमत्तावस्था द्वारा मोक्षप्राप्तिः

६

यावन्नेन्द्रियैकलयं यावन्नोन्मुखविक्रिया ।
 तावदूयः पिबते मद्यं स मुक्तो नात्र संशयः ।
 पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत् पतति भूतले ।
 उत्थाय च पुनः पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥
 आनन्दात् तृष्णते देवी मूर्छनाद् भैरवः स्वयम् ।
 वमनात् सर्वदेवाश्र तस्मात् त्रिविधमाचरेत् ॥

कौल-संस्कारों में प्रमत्त विलास

८

चक्रे इस्मिन् योगिनो वीरा योगिन्यो मदमन्थराः ।
 समाचरन्ति देवेशि ! यथोल्लासं मनोगतम् ।
 शनैः पृच्छति पार्श्वस्था विस्मृत्यात्मविचेष्टितम् ।
 विधाय वदने पात्रं निर्विण्णानि वसन्ति च ॥
 यदन्यं पुरुषं मोहात् कान्तान्यमवलक्षते ॥
 पुरुषः पुरुषं मोहादालिंगत्यङ्गनाङ्गनाम् ।
 पृच्छति स्वपर्ति मुखा कस्त्वं काहम् इमे च के ॥
 तेभ्यो द्रोहं न कुर्वीत नाहितं च समाचरेत् ।
 भक्त्या संग्राहयेत् तच्च गोपयेन् मातृजारवत् ।
 चक्रे मदाकुलान् दृष्ट्वा चिन्तयेद् देवताधिया ॥
 प्रवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णा द्विजातयः ।
 निवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णाः पृथक् पृथक् ॥

मैथुन का महत्व

अध्या० श्लो०

मदकुम्भसहस्रैस्तु मांसभारशतैरपि ।
न तुष्यामि वरारोहे ! भगलिंगमृतं विना ॥
न चक्रांकं न पश्चांकं न वज्रांकम् इदं जगत् ।
लिंगांकं च भगांकं च तस्माच्छक्तिशिवात्मकम् ॥

कौलों की भोगवृत्ति

६ यावदासवगन्धः स्यात् पशुः पशुपतिः स्वयम् ।
विनालिमांसगन्धेन साक्षात् पशुपतिः पशुः ॥
अनाचारः सदाचारस्त्वकार्यं कार्यमेव च ।
असत्यमपि सत्यं स्यात् कौलिकानां कुलेश्वरि ॥

कौलोपनिषत्

तांत्रिक सिद्धान्तों को गुप्त रखने का आदेश

प्रकट्यां न कुर्यात् आत्मरहस्यं न वदेत् । शिष्याय वदेत् ।
अन्तःशक्ता बहिःशैवा लोके वैष्णवा अयमेवाचारः..... ।

तंत्रराजतंत्र

तांत्रिक सिद्धान्तों को गुप्त रखने का आदेश

१ ४ गोप्यं सर्वप्रयत्नेन गोपनं तंत्रचोदितम् ॥
देवोपूजा का वेतालादि से सम्बन्ध
६४ निर्जने विपिने रात्रौ मासं त्रयं तु निर्भयः ।
यजेद्वेवीं चक्रगतां सिद्धद्रव्यसमन्विताम् ॥
६५ तेन सिध्यन्ति वेतालास्तानारुह्यं स्वेच्छया चरेत् ।
६६ शमशाने चण्डिकागृहे निर्जने विपिनेऽपि वा ।
मध्यरात्रे यजेद्वेवीं कृष्णवस्त्रादिभूषणः ॥

तंत्राभिधान तंत्र

शिवलिंग का उत्कर्ष

३३ एतत्पद्मान्तराले निवसति च मनः सूक्ष्मरूपं प्रसिद्धम् ,
योनौ तत्कर्णिकायामितरशिवपदां लिंगच्छ्रिहप्रकाशाम् ।
विद्यु न्मालाविलासां परमकुलपदां ब्रह्मसूत्रप्रबोधाम् ,
वेदानाम् आदिबीजं स्थिरतरहृदयश्चिन्तयेच्च क्रमेण ॥

प्रपञ्चसार तंत्र

पटल श्लो० तंत्रों की दैवी उत्पत्ति

१ २१ वैदिकाँस्तांत्रिकाँश्चापि सर्वानित्थमुवाच ह ।

दैवी का उत्कर्ष

“ २६ प्रधानमिति यामाहुर्या शक्तिरिति कथ्यते ।

या युध्मान् अपि मां नित्यं अवष्टम्याऽतिवर्त्तते ॥

त्रिपुरा देवी

६ ८ आताम्रार्कायुताभां कलितशशिकलारंजितसां त्रिनेत्रां,
देवीं पूर्णेन्दुवक्त्रां विभृतजपवटीपुस्तकाभीत्यमीष्टाम् ।
पीनोत्तु गस्तनार्तां वलिलसितविलग्नामसुकृपंकराज—
मुण्डसुड्मुण्डिताङ्गीमहं एतरदूलानुलेपां नमामि ॥

देवी और शक्तियाँ

४ ७ प्रभा माया जया सूज्मा विशुद्धा नन्दिनी तथा ।
सुप्रभा विजया सर्वसिद्धिदा नवमी तथा ॥

गणेश और शक्तियों का साहचर्य

१७ २२ तीव्रा ज्वालिनी नन्दा सभोगदा कामरूपिणी चोग्रा ।
तेजोवती च सत्या संप्रोक्ता विघ्नाशिनी नवमी ॥

महानिर्वाण तंत्र

उल्लास श्लो० कलियुग में तंत्र का प्रचार

२ ६ मेथ्यमेध्यविचाराणां न शुद्धिः श्रौतकर्मणा ।
न संहिताद्यैः स्मृतिभिरिष्टसिद्धिर्णुर्णां भवेत् ॥
“ ७ सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यं सत्यं मयोच्यते ।
विना ह्यागममार्गेण कलौ नास्ति गतिः प्रिये ॥

शिव का उत्कर्ष

“ १० सर्वेवदैः पुराणैश्च स्मृतिभिः संहितादिभिः ।
प्रतिपाद्योऽस्मि नान्योऽस्ति प्रभुर्जगति मां विना ॥

शाक्तों के विभिन्न संप्रदाय

“ २४ शाक्ताः शैवा वैष्णवाश्च सौरगणपतादयः ॥

अध्या० श्लो०

तंत्रों का अब्राह्मण स्वरूप

- ३ १५ न तिथिर्ण च नद्वत्रं न राशिगणनं तथा ।
कुलाकुलादिनियमो न संस्कारोऽत्र विद्यते ॥
सर्वथा सिद्धमंत्रोऽयं नात्र कार्या विचारणा ।

देवी का उत्कर्ष

- ४ १० त्वं परा प्रकृतिः साक्षाद् ब्रह्मणः परमात्मनः ।
त्वत्तो जातं जगत्सर्वं त्वं जगज्जननी शिवे ॥
कौल-संस्कारों को प्रकट रूप से करने का विधान
,, ७६ गोपनाद्वियते सत्यं न गुस्तिरनृतं विना ।
तस्मात् प्रकाशनं कुर्यात् कौलिकः कुलसाधनम् ॥

कौल-संस्कारों में गणेश-पूजा

- ५ ७५ गणेशं क्षेत्रपालं च बटुकं योगिनां तथा ।
गङ्गां च यमुनां चैव लक्ष्मीं वाणीं ततो यजेत् ॥

मंदिरा को दिव्यपद देना

- ,, २०२ सुधादेवै वौषडन्तो मनुरस्याः प्रपूजने ।
,, २०६ मूलेन देवताबुद्ध्या दत्वा पुष्पांजलिं ततः ।
दर्शयेद् धूपदीपौ च घण्टावादनपूर्वकम् ॥

मांस की परिशुद्धि

- ,, २०६ मांसमानीय पुरतस्त्रिकोणमण्डलोपरि ।
फटाभुज्यवायुवह्नीजाभ्यां मंत्रयेत् त्रिधा ।

अपरिशुद्ध सुरापान से पाप

- ६ १३ शुद्धिं विना मध्यपानं केवलं विषभक्षणम् ।
मैथुनं केवल स्वभार्या से
,, १४ शेषतत्त्वं महेशानि निर्बोजे प्रबले कलौ ।
स्वकीया केवला गेया सर्वदोषविवर्जिता ॥

कौल-संस्कारों में मितपान

- ,, १६५ यावन्न चालयेद् दर्शिं यावन्न चालयेन्मनः ।
तावत् पानं प्रकुर्वीत पशुपानमतःपरम् ॥

अध्यात्र श्लोक

- कौल-संस्कारों में पंचतत्त्व का अर्थ
 ७ १०४ महौपर्वं यज्जीवानां दुःखविस्मारकं महत् ।
 आनन्दजनकं यच्च तदायातत्त्वलक्षणम् ॥
 „ १०५ ग्राम्यवायव्यवन्यानाम् उद्भूतं पुष्टिवर्धनम् ।
 बुद्धितेजो बलकरं द्वितीयं तत्त्वलक्षणम् ॥
 „ १०६ जलोद्भवं यत्कल्याणि कमनीयं सुखप्रदम् ।
 प्रजावृद्धिकरं चापि तृतीयं तत्त्वलक्षणम् ॥
 „ १०७ सुलभं भूमिजातं च जीविनां जीवनं च यत् ।
 आयुमूलं विजगतां चतुर्थं तत्त्वलक्षणम् ॥
 „ १०८ महानन्दकरं देवि प्राणिनां सृष्टिकारणम् ।
 अनायन्तजगन्मूलं शेषतत्त्वस्य लक्षणम् ॥

परिशुद्धिकृत भैरवीचक्र

- ८ १५४ भैरवीचक्रविषये न ताढ़् नियमः प्रिये ।
 यथासमयमासाद्य कुर्याच्चक्रमिदं शुभम् ॥
 „ १७२ स्वभावात् कलिजन्मानः कामविभ्रान्तचेतसः ।
 तद्रूपेण न जानन्ति शक्तिं सामान्यबुद्धयः ॥
 „ १७३ अतस्तेषां प्रतिनिधौ शेषतत्त्वस्य पार्वति ।
 ध्यानं देव्याः पदाभ्योजे स्वेष्टमंत्रजपस्तथा ॥

कौलसंस्कारों में गणेश-पूजा

- १० ११७ षड्गीर्वयुक्तमूलेन षडंगानि समाचरेत् ।
 प्राणायामं तथा कृत्वा ध्यायेद् गणपतिं शिवे ॥
-

परिशिष्ट : छठा अध्याय

१. यशोधर्मा और विष्णुवर्घन
का मन्दसौर-शिलालेख (छठी शती)

स जगतां पतिः पिनाकी स्मितरवगीतिषु यरय दन्तकान्ति ।
यु तिरिव तडितं निशि स्फुरन्ती तिरयति च स्फुटयत्यदश्च विश्वम् ॥
स्वयंभूमूर्तानां स्थितिलयसमुत्पत्तिविधिषु
प्रयुक्तो येनाज्ञां वहति भुवनानां विधृतये ॥
पितृत्वं चानीतो जगति गरिमान गमयता ।
स शंभुमूर्यांसि प्रतिदिशतु भद्राणि भवताम् ॥

[C. I. I. Pe. XXII, P. 150]

२. हरिवर्मा के सांगलोई-ताम्रपट्ट (५४५ ईस्वी)

जयति ब्रुववालेन्दुजटासुकुटमण्डलः
अनाद्यनिधनश्च शंभुविश्वेशं जगतां पतिः
विजयवैजयन्त्यां स्वामिहासेन मातृगणानुध्यानाभिषिक्तं
नमो हरिहरहरएयगभैर्भयो

[E. I. XIV, P. 166]

३. स्वामिभट का देवगढ़-शिलालेख (छठी शताब्दी ईस्वी)

.....स्थानं जगद्रक्षमौजसां मातृणां लोकमातृमण्डलं
भूतयेऽस्तु वः ।

[E. I. XVIII. P. 126]

४. आदित्यसेन का प्रस्तरलेख (सातवीं शताब्दी)

अजनयदेकं स नृपो हर इव शिखिवाहनं तनयम् ।

[C. I. I. Pe. XXVIII. P. 200]

५. अनन्तवर्मा का नागार्जुनी पर्वत का गुफालेख (सातवीं शती)

बिम्बं भूतपतेर्गुहाश्रितम् इदं देव्याश्च पायाजगत्,
उन्निद्रस्य सरोषहस्य सकलम् आक्रिप्य शोभां रुचा ।
सावज्ञं महिषासुरस्य शिरसि न्यस्तः क्वणन्नूपुरः

३१६

शैव मत

विन्यस्या द्वु तविन्ध्यभूधरगुहामा श्रित्य कात्यायनी……
ग्रामम् अनल्पभोगविभवं रम्यं भवान्यै ददौ ।

[C. I. I. Pe. XXXI, P. 223-26]

६.

छम्मक-ताम्रपट्ट (सातवीं शताब्दी)

असभ्मारसन्निवेशितशिवलिंगोद्घनशिवसुपरितुष्टसमुत्पादितराज-
वंशानां पराक्रमाधिगतभागीरथ्यमलजलमूर्धाभिषिक्तानां दशावमेधाव-
भृतस्नानानां भारशिवानां महाराज श्री भावनागदौहित्रस्य……

[C. I. I. XXXIV, P. 235]

७.

निर्माणड-ताम्रपट्ट (सातवीं शताब्दी)

.....भगवतस्त्रिपुरान्तकस्य लोकालोकेश्वरस्यं प्रणतानुकम्पिनः
सर्वदुःखद्वयकरस्य कपालेश्वरेकपालेश्वर-वलि-चह-सत्र
स्वग-धूपदीपदानाय

[C. I. I. XIV, P. 286]

८.

लखमगडल प्रशस्ति (लगभग ७०० ईस्वी)

सर्गस्थितिलयहेतोर्विश्वस्य (ब्रह्मा) विष्णुरुद्राणां ।
मूर्तित्रयं प्रदधते संसारभिदे नमो विभवे ॥

[E. I. I. P. 12]

९.

बैजनाथ-प्रशस्तियाँ (आठवीं शताब्दी)

- प्रशस्ति १. दुर्गे...द्वारहारिणि हरिब्रह्मादिदेवरतुते,
भक्तिद्वेमविधायिनि त्रिनयने.....
प्रशस्ति २. देवस्याहुतिलम्पतस्य परमा पुष्टिर्यतो जायते,
ताभिर्मूर्तिभिरष्टभिरवतु वो भूत्यै भवानीविसुः ।

[E. I. I. P. 104]

१०.

नकली तालेश्वर-ताम्रपट्ट (आठवीं शताब्दी)

.....राजदौवारिकामिस्वामिकरं किकवोटाधिकरणिकामात्य भद्रस्वामी पुरःसरेण.....

[E. I. XXI, P. 140]

११.

कर्कराज सुवर्णवर्ण के सूरत के ताम्रपट्ट (नवीं शताब्दी)

जिनेन्द्र-स्तुति के उपरान्त—

सा वोऽव्यादैवेषाधाम यन्नाभिकमलालंकृतम् ,
हरश्च यस्य कान्तेन्दुकलया कमलं कृतम् ।

[E. I. XXI, P. 142]

१२. गुजरात के दन्तिवर्मा का शिलालेख (नवीं शताब्दी)
बुद्धस्तुति के उपरान्त —

स वोऽव्यादवेघसा... इत्यादि यथा नं० २२ में
[E. I. VI. P. 287]

१३. खजुराह शिलालेख न० ५ (ग्यारहवीं शताब्दी)
अन्ये तत् शिवमेव बुद्धम् अमलं त्वन्ये जिनं वामनम् ।
तस्मै सर्वमयैक्यकारणपतेः शर्वाय निर्वयं नमः ॥
[E. I. I. P. 148]

१४. जाजल्लदेव का मलहर-प्रस्तरलेख (बारहवीं शताब्दी)
यश्चारवाकविशालमानम् अनलो दुर्वारबौद्धाम्बुद्धेः ।
पानानन्दितकुभसंभवमुनिर्दिग्नाससाम् अन्तकः ॥

१५. स्वप्नेश्वर का भुवनेश्वर मन्दिर में शिलालेख (बारहवीं शताब्दी)
नृत्यारम्भे वलयमणिभिर्निमिता रस्नदीपाः ।
तस्मै दत्तास्त्रिपुरजयिने तेन तात्ता मृगाद्यः ॥
[E. I. VI. P. 200]

१६. लखनपाल का बुदाऊँ शिलालेख (बारहवीं या तेरहवीं शताब्दी)
यो वालः किल दक्षिणापथगतो बौद्धप्रतिष्ठापितां,
सम्पश्यन् प्रतिमां जहार विधिना केनापि दूरं स्था ।
मंत्रोच्चारणवेलयैव पठहध्वानात् ततो विश्रुतो
विज्ञातो गुरुगौरवान् निजपदे निन्ये.....

१७. दामोई शिलालेख (तेरहवीं शताब्दी)
अष्टाभिस्तनुभिस्तनोत्वभिमतं श्री वैद्यनाथः स्वयम्.....

परिशिष्ट : आठवाँ अध्याय

१. चो-दिन्ह शिलालेख (लगभग ४०० ईस्वी)

नमो देवाय भद्रे श्रत्वामीप्रसादात् अग्रये त्वा जुष्टं करिष्यामि धर्म महाराज
श्री भद्रवर्मणो यावच्चन्द्रादित्यौ तावत्……
२. भद्रवर्मा का माइसोन-शिलालेख (पाँचवीं शताब्दी)

सिद्धं नमो महेश्वरम् उमां च प्र……
ब्रह्माणं विष्णुमेव च ।
३. शंभुवर्मा का माइसोन-शिलालेख (लगभग छठी शताब्दी)

स्थित्युत्पत्तिप्रलयवशिनः शूलिनः समराणां……
कृत्स्नं वेत्ति त्रिभुवनगुरुकारणं स्थाणुरेव
४. प्रकाशधर्मा का दुओंग-मोंग का पीठिका-लेख (छठी शताब्दी)

इदं भगवतः पुरुषोत्तमस्य विष्णोरनादिनिधनस्याशेषमुवनगुरोः पूजास्थानम्……
५. प्रकाशधर्मा का थाक्-विक्-शिलालेख (छठी शताब्दी)

श्री प्रकाशधर्मेति स्थापितवान् अमरेशमिह ।
६. प्रकाशधर्मा का माइसोन-शिलालेख (छठी शताब्दी)

स्वाः शक्तीः प्रतियोज्ञतामुपगतः क्षित्यादयो मूर्तयो,
लोकस्थित्युदयादिकार्यपरता ताभिर्विना नास्ति हि ।
यो ब्रह्मा विष्णुत्रिदशाधिपादिसुरब्रह्मनृपर्थिमान्यः ।
तथापि भूलौ जगताम् गृत्यच्छ्रूमशान भूमावतिचित्रमेतत् ॥
७. प्रकाशधर्मा का माइसोन-पीठिकालेख (छठी शताब्दी)

महेश्वरसखस्येदं कुवेरस्य धनाकरम् ।
प्रकाशधर्मा नृपतिः पूजास्थानमकल्पयत् ॥
एकादिपिंगलेत्येष देव्या दर्शनदूषितः ।
संवर्धयत्वीशधनं पायाच्चाहि ततः सदा ॥
८. विक्रान्तवर्मा का माइसोन-शिलालेख (६८७)

ईशानस्याष्टमूर्तिः क्षतमभिलषितं रूप्यकोषेन्दुनादो……
९. विक्रान्तवर्मा का माइसोन-शिलालेख न० २ (समय अनिश्चित)

लोकानां परमेश्वरत्वसमं यतो नदद्वाहनो……

मुक्ते इद्याप्युपमन्युरिन्दुवलं क्वीर्ण्यवं वान्धवैः ।……
अष्टार्धव्रह्मधुर्यं सकलसुरमयस्यनदनं विष्टपानां ।
शान्त्यर्थं येन दाहो युगपदपि पुरा त्रैपुराणां पुराणाम् ।……
स्वरूपेणाप्यविनवनपवनसखापवनवदपथदशशतकिरणदीक्षिततनुभिः—
रतनुप्रभावाभिः शर्वभवपशुपतीशनभामरुद्रमहादेवोग्राभिधानः
प्रवानसमुपर्वृहिताभिराभिर्मावितविश्वमूर्तिना ।……

१०. विक्रान्तवर्मा द्वितीय का माइसोन शिलालेख (७३१ ईस्वी)

श्री शंभुमुखलिंगमुज्ज्वलनिभं सर्वापभोगान्वितम् ।……
कोशं साननमादितुल्यविभवं सश्रीभनारीवपुः ।

इन्द्रवर्मा प्रथम का यांग-ति-कुह-शिलालेख (७४६ ईस्वी)

पातालप्रभवश्च वीर्यातपश्च सत्वेन वा योगिनो ।……
अन्तःपुरविलासिनी दासदासीगोमहिषक्षेत्रादि द्रव्यम् ।

१२. इन्द्रवर्मा प्रथम का ग्लाई-लामोव-शिलालेख (८०२ ईस्वी)

अथ कालेन महता शंभो भक्तिपरायनात् कीर्त्यो च धर्मेण सत
रुद्रलोकमगान्तृपः ।……
जयति महासुरपुरत्रयावमर्दनविविधविक्रमोऽपि सितभरमप्रभावयोगादि-
जपहुं कारनिर्मलातटशारीरप्रदेशश्च ।…… ज्वलितनेत्रत्रयज्योत्सनो ।……

१३. बकुल-शिलालेख (८२६ ईस्वी)

निहारौ देवकुलौ द्वौ द्वै जिन शंकरयोस्तयोः ।

१४. विक्रान्तवर्मा द्वितीय का पो-नगर-शिलालेख (नवीं शताब्दी)

तस्मै श्री भगवतीश्वराय ।…… कोष्ठागारं ।…… स्त्रीगणैः सह ।……

१५. इन्द्रवर्मा द्वितीय का दोंग-दुओंग-शिलालेख (नवीं शताब्दी)

इमं च परमं लोके शुद्धसन्तानजं वरम्
अहं लोकेश्वरं कर्तुं जगतां स्यां विमुक्तये ।
…… अपि च यश्च श्रीनंद्रवर्मा क्षेत्राणि सधान्यानि दासीदासान् ।……
लक्ष्मीन्द्राय लोकेश्वराय भिक्षुसंघपरिभोगाय ।…… दत्तवान् इति ।

१६. इन्द्रवर्मा तृतीय का बो-मन्द-शिलालेख (८८६ ईस्वी)

श्री महालिंगदेवोऽयं स्थापितस्तेन तत्पितुः ।

स्थापिता च महादेवी श्रीमती मातरिप्रिया ॥

१७. भद्रवर्मा द्वितीय का हो-क्वे-शिलालेख (६०६ ईस्वी)

ततश्च दक्षिणे ब्रह्मा संस्थितो वामतो हरिः ।

इत्येकत्वमिमौ येन लभते यदनुशया ॥

३२०

शैव मत

१८. इन्द्रवर्मा तृतीय का पो-नगर शिलालेख (६१६ ईस्वी)
आख्यान शैवोत्तरकल्पमीनः.....
१९. परमेश्वरवर्मा प्रथम का पो-नगर में मन्दिर का शिलालेख (१०५० ईस्वी)
भूताभूतेशभूता भुवि भवति भवोद्धावभावात्मभावा,
भावाभावस्वभावा भवभवकभवा भावभावैकभावा ।
भावाभावाग्रशक्तिः शशिमुकुटतनोरर्धकाया सुकाया
काये कायेशकाया भगवति नमतो नो जयेवाक्षसिद्ध्यै ॥
२०. पो-नगर मन्दिर का शिलालेख (१०५० ईस्वी के बाद का)
या देवी सा श्री मलदाकुठारा-
ख्या शं हर मम तस्य भार्या ।
व्याप्नोति यो निखिलवस्त्वशुभं शुभं वा,
नो लिप्यते रविरिवेद्धकला तदीया ।
देवो च चम्पुनगरप्रथिताभिधाना
या सा नताभिमतदा मम शं कुरु त्वम् ॥
२१. जय इन्द्रवर्मा चतुर्थ का माइसोन मन्दिर का शिलालेख (११६३ ईस्वी)
दृष्टैमहात्म्यैर्वहुवाक् स शर्वः
२२. वात-प्रे-वीष्टे-शिलालेख (६६७ ईस्वी)
विष्णवीशावेकमूर्ती कगलितयामिना स्थापितावत्रयुक्त्या ।
२३. प्रिअ-आइनकोसी-शिलालेख (८६८ ईस्वी)
उद्यद्वानुनिमा विभिद्य कमलं खं याति या संहृतौ
सृष्ट्यर्थं पुनरेति चन्द्रसुचिरा यन्मानसं मानिनी ।
सा शक्तिसुर्वनेश्वरोदयकरी वागीश्वरी पातु वः ॥
२४. फनोम-प्राह-शिलालेख (लगभग ८६३ ईस्वी)
शिवशक्तिः स चार्यः शिवशक्तिविभागवित् ।
शिवशक्त्यनुभावेन शिवशक्तिर्विवर्धते ॥
२५. प्रेअ-केव-शिलालेख (नवीं शताब्दी)
वसति यदचलाशं शंभुशक्तिः सुशुग्रा ॥

अनुक्रमणिका

- अकलंक—१५०
 अगत्यगोत्र—१८१
 अग्नि—१,४,५,७,६,१७,२०,२१,४४,६४,
 ६६,७५,७६,१०१,११३, १२५,
 १२६,१२८,१४४
 अग्निपुराण—११०,१२२,१२३,१२५
 अग्निसम्भवः—६२
 अग्निसूनुः—७७,८८
 अग्निस्विष्टिकृत—१०
 अघोरमूर्ति—१४६
 अघोषिन्यः—४४
 अथर्ववेद—८,६,१०,११,१२,१३,१४,१५,
 २१,४४,४५,४७,७३,८६
 अथर्वशिरस् उपनिषद्—५२,८५
 अदिति—६४
 अद्वैत—१६५
 अन्धक—१११
 अन्धक-वध—१३२
 अनंग—६१,१३२
 अनंग-त्रयोदशी—१०५
 अनन्त वर्मा—१४०
 अनुष्ठाता—११
 अप्पर—१४७,१४८,१६६
 अपसाद् शिलालेख—१४०
 अभिनवगुप्त—१७१,१७२
 अमर—५७
 अमरकंठक—१३०
 अमरकदेव—६३
 अमरावती की प्रकार-भित्ति—१६३
 अम्ब—१७
 अम्बक—१७,४३
 अभिका—१४,२२,३२,३३,५३,८२
 अर्यरपगई—१५२
 अर्जन—५५
 अरथशास्त्र—५६
 अर्धाच्चि—६३
 अर्धनारीश्वर—१०३,१०४,१४५
 अर्थमेद्—३१
 अलिलत्—६७
 अविद्या—१६८
 अव्यय—५७
 अशूरवनीपाल—३३
 अशेरह—२७
 अशीक—१७४
 अश्तोरेथ—२७
 अश्वघोष—८८,१३८
 अश्वत्थामा—७३
 अष्टगुण—६८
 अष्टमुजा—१८
 अष्टमूर्ति—१४३
 अष्टादशमुज—७०
 अष्टाध्यायी—५७
 अहिभानु—६
 अहिमन्यु—६
 अहिसुम्म—६
 अहुरमज्ञा—६
 अक्षर—५७
 आका—१६३
 आगम—६७,१६५,१६७,१६८
 आग्मिक सिद्धांत—१७१
 आदित्य—२१
 आनन्दगिरि—१५५,१५६,१६१,१६२

- आनन्दशक्ति—१७२
 आपवः—४६
 आम्बिक—८८
 आरण्यक—३६
 आराध्य—१५६
 आरेलस्टाइन—२८, २६
 आर्गेंथी—४४
 आर्वमन्न—२
 आर्यधर्म—४६
 आर्या—४६
 आलवर—१४६
 आशुतोष—५७
 आसिरिस—३१
 इच्छाशक्ति—१७२
 इन्द्र—४, ५, ६, ८, ९, २१, ७२, ७५, ७८, ८०, १२७,
 १३६, १३७
 इन्द्रवर्मा—१७७
 इन्द्रवर्मन द्वितीय—१७७
 इन्द्रवर्मा तृतीय—१७८, १७९
 इन्द्रवर्मा चतुर्थ—१८०
 इल—६५
 इला—६५
 इश्तर—२७, ३१, ३३, ३४, ८१, १२१
 ईश—३६, ४०, ८१, १२३
 ईशान—११, १२, २०, ३६, ६६, ८८
 ईशानी—४४
 ईश्वर—६६
 उखातु—३४
 उग्र—५१
 उच्चैःश्रवा—१३२
 उत्पल—१७१
 उदक—७
 उदयगिरिगुफा—१४५
 उपनिषद्—३६
 उपनिषद्-काल—८३, ८८, १६५
 उपनिषद्-ग्रन्थो—५३, ५६, १६७
 उपमन्यु—७१, ८०, ८४, १३६
 उपसदो—७७
 उपहन्तु—६
 उमा—४१, ५८, ६१, ७४, ७६, ८२, ८३, ९६,
 १०६, १७५
 उमापति—८४
 उमामहेश्वर ब्रत—१०६
 उमा हैमवती—४१, ५८
 उल्कानवमी—११७
 उल्कांत—१२५
 ऊर्ध्वमेढ़—१३३
 ऊर्ध्व-रेता—७६, १००
 ऊपा—१३७
 ऊषा-अनिश्चद—१३७
 ऋग्वेद—१, ४, ७, ८, १०, १६, २१, ३१, ३४, ४०
 ऋग्वेदीय आर्य—३, ७
 ऋग्वेदीयकेशी—८, ११
 ऋग्वेदीय सूक्त—२, ५, ३०, ४६
 ऋत—१०, ११
 एकदन्त—४५
 एकेश्वर—१४३
 एकेश्वरता—१४५
 एकेश्वरवाद—६८, ६४, १३४
 एफोडाइटे—३५
 एवानी—३४
 एरिपण्डनयनार—१४६
 एलिसगेट्टी—१६३
 एलीफेंटा-गुफा—१४५
 एलोरा—१४७
 एस्सेन—१८१
 ऐतरेय ब्राह्मण—१३, २०, ७७, १०२
 ऐश्वर्य—६८
 औडर—२
 कक्कराज सुवर्णावर्ष—१४३

कदिस्तु—३५
 कदेसु—३५
 कन्धा—१५१
 कनिष्ठ—६१
 कनेस्को—६२
 कपर्दिन्—३८, २२
 कपाला—१५३
 कपालिन्—१०८, ११०, ११५, १२०
 कपालिनी—१५७
 कपाली—१०७, १७६
 कपालेश्वर—१०७, १५४
 कमण्डल—६१
 कर्मकार—१६
 कराल—१०७
 कला—१७३
 कल्पलीकिन्—३
 कल्याणसुन्दर—१४५
 कल्लट—१७१
 कांजीवरम्—१४५
 काठकसंहिता—८
 कात्यायनी—११७, १४०
 कादम्बरी—१४२, १५४
 काना—१७६
 कापाल—१११
 कापालिक—७२, १०७, १०८, १०६, १३८, १५३,
 १५४, १५५, १५६, १५७, १६२
 काम—१०५, १६८
 कामदेव—६१, १२१, १३२
 कामारि—६१
 कामसूत्र—८८, ८०, ८५
 कार्तिकेय—६२, ७५, ८६, १२६, १४०, १४१
 कारुकसिद्धान्ती—१५७
 काल—१७३
 कालकूट—१३२
 कालमुख—१५७, १५८

कालरात्रि—८२
 कालश्वर—६६
 कालार्चिंग नयमार—१४६
 कालिदास—८४, १३८, १४२
 काली—११७
 कालीतंत्र—१२०
 किन्नर—१३७
 किरात—७४
 किवि—१३
 कीक—२
 कुंजरकोण—१८१
 कुबेर—५६, १७६
 कुमारगुप्त—६४, ६५
 कुमारसभ्मव—६४, १२८
 कुम्भकोणम्—१४५
 कुलुचानां पति—१६
 कुलाल—१६
 कुलार्णवतंत्र—१२१
 कृष्णाएडराजपुत्र—५०
 कृति—१०४
 कृतिकाओ—७७, १२७, १४१
 कृतिधारी—२२
 कृतिवासा—१४, १५, १६, २२, १४५
 कृष्ण—५५, १३५
 कृष्णमिश्र—१५६
 कृष्णवस्त्रधारी—१८
 कृष्णाष्टमी—१०५
 केन-उपनिषद्—४१, ५८
 केशियक—२
 केशी—७
 कैटम—८१, ११७
 कैलासपर्वत—१३०
 कैवल्य उपनिषद्—८४
 कौटिल्य—५५
 कौटिलीय अर्थशास्त्र—५६

कौल—११६, ११६, १३८
 कौस्तुभ—१३२
 कौशीतकी ब्राह्मण—२१
 क्रव्यादः—४४
 क्रूर—१०७
 क्रूरदृशाः—१२२
 खजुराओ शिलालेख नम्बर—५, १४३
 गंगा—१२४
 गंगावतरण—१३५
 गजेन्द्रकर्ण—१२३
 गढ़वा—६४
 गण—१६, ६५, ८३
 गणपति—१६, ८३
 गणाधिप—१०६
 गणेश—८३, ८५, ८८, १२२, १२३, १२४,
 १२५, १२६, १३५, १६१, १६३, १६४,
 १८१, १८२, १८४
 गणेशजन्म—१३५
 गणेशपुराण—१२५, १६१ १६२, १६३
 गणेशवर—८३
 गरुड—८५
 गवेधुक होम—१८
 गाणपत्य—१२५, १६२
 ग्रामदेवता—११८
 गिरिधर—१६
 गिरित्र—१६
 गिरिशय—१६
 गिरिशंत—३
 गिरीश—१६
 गिलगमेश—३४
 गुडीमल्लम्—८६
 गुहेश्वर—१७८
 गोडोफारेज—८६
 गोधन—३
 गोरेसियो—६२

गौरी—१२
 ग्नात्रो—३३
 गृहसूत्रो—३८, ४४, ४६, ४७, ४८, ४६, ५०
 चक्रपूजा—१२१
 चण्ड—१११
 चण्डिका—११७
 चण्डीकिदन—१८२
 चण्डीजागो—१८२
 चन्द्रगुप्त दितीय—६३
 चन्द्रमस्—२१
 चन्द्रमा—६४
 चन्द्रमौलि—६२
 चन्द्रुदङ्गो—७६
 चित्तशक्ति—१७२
 चिदम्बरम्—१४८
 चेमी-हलई—८७
 चाम (चमा की भाषा)—१७८
 चार्वाक—१३८, १४४, १७०
 चाहेदिनशिलालेख—१७५
 छमक—१४०
 जटाजूटधारी—३
 जटाधारी—१५४
 जरासंघ—७४
 जयइन्द्रेश्वरी—१८०
 जयंत—४६
 जयपरमेश्वर वर्मा—१८०
 जयरथ—१७२
 जयसिंहवर्मा—१७८
 जया—८१
 जंगम—१५५
 जाजल्लदेव—१४४
 जातक ग्रन्थो—५५
 जावाल उपनिषद्—८४
 जीनियाई—६
 ज्येष्ठा—५२, ५४

जैमिनीय ब्राह्मण—२०, २१
 डमरु—६१
 डस्मिति—५०
 डाक्टर मेकडौनल—१
 डाक्टर लक्ष्मण—२३
 डायोनीसस—२६
 डिम—६०
 तंत्र—११६, १२०, १६१
 तंत्रग्रंथ—१६०
 तंत्रराजतंत्र—१२१
 तजांगल—१८१
 तत्त्वमसि सिद्धांत—१६६
 तस्करारम्भंपति—१६
 तक्षक—१६
 ताम्बुज—३१
 तारा—१२०
 तालेश्वर ताम्रपत्रो—१४३
 तिपिटक—५५
 तिरमूलर—१४६, १६७
 तिरवाहर—१५१
 तिस्त्रासगम्—१४८
 तिलोत्तमा—७४, ६२
 तुकमस—१८१
 तैत्तिरीय आरण्यक—४५, ८४
 तैत्तिरीय ब्राह्मण—१२३
 त्रिनेत्र—१७, ८४, ६०, १६२, १८१
 त्रिपुर—७७
 त्रिपुरधन—७८
 त्रिपुरदाह—७१, ८०, ११३, १२८, १४०, १७७
 त्रिपुरध्वंस—६०
 त्रिपुरान्तक—१२३
 त्रिपुरा—१२१
 त्रिपुरारि—६२, १४५
 त्रिमूर्ति—५७, ६६, ८८, ६२, ६६, १०५, १११,
 १३४, १४२, १४५, १७८, १८३

तृत—६
 दधीचि—१३०
 दन्ति—४५, ८५
 दन्तिवर्म—१४३
 दण्डी—१४१
 दशकुमारचरित—१४१
 दशरथ—६
 दद्म—१३०
 दद्यज्ञ—७८, ७६, ८०, ८२, ८६, ११३, १२६,
 १३०, १३६
 दक्षिणमार्गी—१६१
 दक्षिणमूर्ति—१४४
 दैष्ट्रिन—१२३, १४५, १४६, १८२
 दालभ्य—८
 दिएंग उच्चसमस्थल—१८१
 दिगम्बर—१०८, १०६, १४५, १५२, १६३
 दिगम्बरी—१२०
 दिगम्बर जैन—१४४
 दिति—६४
 दिवोवराह—३
 द्विवर्हा—५
 दीघनिकाय—५५
 दुर्गा—४६, ५१, ५३, १४३, १८१
 देवकन्या—१०२
 देवदासी—६५, १४४
 देवयजन—५०
 देवसंकीर्ति—४६
 देवागार—४८
 देवाधिदेव—१२, ५३, ६४, ६६, १०१, १११
 देवाधिपति—२०
 देवी—१०२, १४५, १८३, १८४
 देवी भवानी—१७४
 द्वैत—४१
 द्वैतवादी संख्या—४१
 द्वौवर्त्य—१३

- धर्मसूत्र — ४६, ४८, ५०, ५१
नकुलिन् — १५३
नटराज — ७५, ६०, १४६
नन्द — १५१
नन्दी — ६५, ६०
नयनार — १४८
नयनार सुंदर — १५१
नवनीतसुवर्णसमतनगणपत्य — १६२
नहन-विश्व-शिलालेख — १७६
नागमंगत्वर — १५०
नागार्जुन — १४१
नाभिनन्दअफिगल — १५१
नाभानेदिष्ट — २०
नारायण उपनिषद् — ८४
नित्रशिवनेदुमर — १४८
निशाचर — १०७
निषाद — १६
नीलकंठ — ६०, ८४, ६०, १३१, १४६, १५६
नीलग्रीव — १६, २२, ६०
नीलमतपुराण — ११०, ११३
नीलशिखंडिन् — १६
नीलशिखंडी — २२
नृप्त — ३
पतंजलि — ८५
पर्जन्य — २
पदिगम — १४८
परब्रह्म — ४०, ४२, ४६, ५३, ५७, ६६, ६७, ६७
परमात्मा — ३८
परमभागवत — ६३, ६४
परमशक्ति — १०१
परमार्थसार — १७१, १७२
परमेश्वर — ६०, ६४, १६३
परा — १०१
पशुपति — ६, १४, १६, ३१, ४३, ६३
पशुहन्ता — १८
पाताल-प्रभव — १७७
पाणिनी — ५५
पारिजात — १३२
पार्वती — १२, ५८, ५९, ६१, ६५, ६६, ७०, ७६,
८३, ८४, ६४, १०१, १०२, १०३, १०५,
१०६, ११०, ११३, ११६, १२४, १२७
१२८, १३२, १४०, १४१, १४५, १५६
पार्षद — ४५, ५१
पार्षदी — ४५, ५१
पाशुपत — १५५, १५७
पाशुपत अस्त्र — ७१, ७४
पाशुपत व्रत — ६६
पाशुपत सिद्धांत — १५३
पिनाक — २२, ७१
पिनाकधृक् — ६८
पिंडार — ३५
पुजिष्ठ — १६
पुराण — ६७, ६८
पुराणकाल — १३८, १३९, १६०
पुराणग्रन्थ — ६६, ११२, ११४, ११६, १२४,
१३४, १३५, १३८, १४०
पुष्पमेघ-न्यज्ञ — १३
पुंश्ली — ११
पूषन् — ३, ११४
पूषा — ४
पृथ्वी — ३३, ६४
पृश्नी — ६
पृष्टतक — ४६
पैरियपुराण — १४८, १५१, १५२
पैयालवर — १४९
पो विहू — १८०
पो-नगर — १७६, १७८
प्रकृति — ४०, ४१
प्रकाशधर्म — १७६
प्रचंडाः — १२२

प्रतर्दन—१३६, १३७, १४०

प्रतिघोषिन्यः—४४

प्रत्यभिज्ञा—१७१, १७३

प्रबोध-चन्द्रोदय—१५६

प्रपञ्चसारतंत्र—१२०

प्रवरसेनद्वितीय—१४०

प्रवरायुधयोधी—७१

प्रश्नोपनिषद्—४२

प्रिअ-केव—१८०

फतेहगढ़ की प्रस्तरशिला—१६३

फौम प्राह—१७६

फार्नेल—३६

फाहियान—१८१

वधु—३, ४, ८१

वाहप्रल—२७

बांग-आन-शिलालेख—१७८

बाणमट्ट—१४१, १४२, १५५

बिलसाइ—८४

बृहदारण्यकोपनिषद्—३६, ४१

बेल—३३

बेलिट—३३

बैजनाथ प्रशस्ति—१४३

बोमांग—१७८

बोरोबुदुर—१८१

बौद्धग्रन्थ—५५

बौद्धायणगृहसूत्र—३८, ४८, ५०, ५१

बौद्धसाहित्य—५५

बौद्धायनधर्मसूत्र—४५, ५०

ब्रह्म—६४, ६७

ब्रह्मद्विट्-संहातिन्—७०

ब्रह्म पुराण—६८, ११२, १२३, १२८,
१३०, १३१

ब्रह्मवैवर्तपुराण—११८, ११९, १२०, १२३, १२४,
१२७, १३५, १३६, १६७

ब्रह्मा—६४, ६६, ७२, ७६, ७७, ८८, ८८, १६६, १००,

१०३, ११२, ११३, ११७, १२४, १२६, १२८,

१३१, १३२, १३६, १४०, १४१, १७८, १८३

ब्रह्माएडपुराण—१०८, १०९, १११, ११२, ११५

१२७, १३१, १४२

ब्राह्मण ग्रन्थ—३८, ३९, ४३, ६५, ७८, १२८, १४४

ब्राह्मणधर्म—८१, ८३, ९५, ९६, ११४, १२१, १२२,

१५६, १६०, १६७, १७४, १७७, १८०,

१८१

भग—११४

भगवान्—६६

भगवान् बुद्ध—१४२

भगवती—४४

भगवद्गीता—१७०

भगीरथ—५८

भर्ग—४२

भद्रकाली—१३०

भद्रवर्मा—१७५, १७८

भरत—६०

भव—१०, ५५, १२४

भवभूति—१५७

भवानी—४४, ५८, १०६, १२०, १४०

भस्मधारी—१५४

भस्मनाक—१०७

भाटगाँव—१७४

भारतीय नाट्यशास्त्र—८६, ६०

भारशिव—१४०, १५४, १५५

भास—१३८

भिषक्—१३, १४, १६, २१, १४३

भीम—५१

भीमराजानम्—६

भुवनेश्वर—१४३

भुवनेश्वरोदयकरी—१८०

भुवनपति—५१

भूतपति—४३, ५१

भूतानां पति—५१
 भूपति—५१
 भूमार—१६३
 भैरव—६५, १११, १५६, १५७
 भैषज्य—६५
 मंगकरसियर—१४६
 मंडासोर स्तम्भ—६६
 मजाफिट—१८२
 मत्स्यपुराण—६८, १०३, १०४, १०५, १०६, ११०,
 १११, ११२, १२२, १२४, १२७,
 १२८, १३१, १३५
 मदन-दहन—१२६, १३५, १७६
 मणिकावासगर—१४८, १६६
 मण्डल—१२५
 मनुस्मृति—८८
 मनोगमा—४६
 मयदानव—१२६
 मरदुक—१५
 मरुतो—१, ६, ७, ६
 मलदकुठारा—१७६
 मल्लदेव नन्दिवर्मा—१५०
 मल्लारि—१४६
 महाकाल—११, १४६
 महाकाली—४६
 महागाणपत्य—१६२
 महादेव—१०, ११, १२, २०, ४३, ५६, ६६, १०१
 महादेवी—११६
 महानवमी—११७
 महानिर्माणतंत्र—११२
 महाभारत—५६, ६३, ६६, ७०, ७३, ७६, ७७,
 ७८, ८३, ८४, ८६, १२८, १२९, १७५
 महाभारतकाल—६६
 महाभिषक्—३
 महायोगिनी—४६
 महायोगी—१००

महालक्ष्मी—१६१
 महावती—१५४
 महाविद्या—१२०
 महावैष्णवी—४८, १६१
 महासदाशिव—१४५
 महासेन—४६
 महाश्वेरी—११८, १३२
 महिषमर्दिनी—१८२
 महिषासुर—८१
 महीधर—१३
 महीश्वर—६१
 महेश—११७
 महेशमूर्ति—१४५
 महेश्वर—३८, ५५, ५६, ६६, १०१, १७५
 माइसोन शिलालेख—१७५, १७६, १८०
 मार्करेष्यपुराण—११६
 मागध—११
 मातृकाएँ—११८, ११६, १३२, १४१, १६३
 मानवगृहस्थूल—५०
 माया—४०, १०१, १६८
 मायिन्—१०१
 मायी—१२६
 मालती-माधव—१५५
 मालविकार्पिनिमित्र—६४
 माहेश्वर—१५२
 माहेश्वर योग—१००
 मित्रा—२७
 मुखलिंग—१०४, १७७, १७८, १८३
 मुंडी—६५, १५४
 मुदायन्नर—१५०
 मुनि—७, ८, १६, २२
 मुनिराय नयनार—१५२
 मुष्णापति—१६
 मूर्त्यष्टक—१४५
 मूलसर्वास्तिवादी—१८३

- मूषक—१२३
 मेघदूत—६४,६५
 मेघापति—५
 मेयकंददेकुर—१७०
 मेसोपोटेमिया—२८
 मैत्रायणी उपनिषद्—४२
 मैत्रायणी-संहिता—८
 मोहें जोदड़ी—२७,३०
 मौलिक सांख्य—१००
 म्यूरह—१
 मृगायु—१६
 मृच्छकटिक—६५,१४१
 यजुर्वेद—१२,१३,१४,१५,१६,१७,२०,२२,२३,
 १२३
 यम—६
 यशोधर्म—६६,१४०
 यक्षपति—१११
 यास्क—६
 यांग-तिकुह-शिलालेख—१७७
 योगराज—१७२
 योगेश्वर—६८
 यम्पु नगर—१७६
 रथकार—१६
 रामानुज—१५७
 रामायण—५५,५७,६५,६६,६६,७१,७८,८०,
 ८१,८३,८४
 रामायण-महाभारत—६६,६७,६८,७८,७५,७६,
 ८५,८६,८८,८९,९०,९३,
 ९६,९७,१००,१०१,१०२,
 १०३,१०७,१०८,११०,
 १११,११३,११४,११५,
 ११८,१२६,१२८,१३१,
 १३५,१६६
 रुद्र—१,२,३,४,५,६,८,९,१०,११,१२,१३,
 १५,१६,१७,१८,१९,२१,२२,२३,२४,
- २६,२८,३१,३२,३४,३७,३८,४०,४१,
 ४३,४४,४५,४६,४७,४८,४९,५०,५१,
 ५२,५३,५४,५५,५६,५८,५९,६३,६४,
 ६५,७०,७२,७३,७७,७८,७९,८२,८३,
 १०४,१११,११५,१२३,१२४
 रुद्रपत्नी—५८
 रुद्रपुत्र—७६
 रुद्रमूर्ति—६८
 रुद्रलोक—१०५
 रुद्रवर्मा तृतीय—१७६
 रुद्राणी—५८
 लकुलिन्—१५३,१५७,१५८
 लम्बोदर—१२३,१२४
 लक्ष्मीचंद्र—१७८
 लांगला—१४२
 लिंगोपासना—२६,२८,२९,३१,३२,३७,४६,
 ५३,६५,७२,८६,१३२
 लिंगधारणचंद्रिका—१६०
 लिंगपुराण—१०३,१०४,११०,१२४,१२६,
 १३०,१३३,१३५,१३६,१३७,
 १४०,१५३,१७८
 लिंगपूजा—२५,२७
 लिंगमूर्ति—२६,२७
 लिंगायत—१५६,१६०
 लोकेश्वर—१७७,१७८,१८०
 वंचक—१६
 वकुल शिलालेख—१७७
 वक्तुरुड—४५,५१,८५
 वरणिक—१६
 वनानांपति—१६
 वराह पुराण—८८,११३,११६,१२२,१२३,
 १२४,१२६,१३०
 वरुण—१०
 वल्कलेश्वर—१५८
 वसुगुत—१७०,१७१

- वर्षयिता—६५
 वाक्—३४, ४०, १६१
 वागीश्वरी—१८०
 वाड-इयान्ह—१७८
 वाणासुर—१२४, १३७
 वायु—६, ७
 वायु-पुराण—६८, ६६, १००, १०३, १११, ११२,
 ११४, ११६, १२३, १२७, १३३,
 १३६
 वासुकि सर्प—१०४
 वास्तव्य—१८
 वाह्नीक—१२
 विक्रांतवर्मा—१७६
 विकृन्तानांपति—१६
 विक्रमोर्वशी—६४
 विघ्नमर्दन—१२५
 विघ्नसूदन—१२५
 विद्यारथ—१५६, १६१
 विनायक—५२, ५३, ८३, १२२, १२३
 विनायकपति—१२२
 विन्ध्यानिलय—११६
 विमलचंद्र—१५०
 विरुपाक्षपंचाशिका—१७०
 विलसन—२
 विवर्त—१७२
 विशाख—४६
 विश्वकर्मा—७८
 विश्वामित्र—५८
 विष्णु—३८, ४२, ४८, ५२, ५४, ५६, ६०, ६३,
 ६४, ६६, ६७, ६८, ७२, ७८, ८१, ८३,
 ८८, ९७, ९९, १००, १०३, १०५, ११२,
 ११३, ११४, ११५, ११७, १२४, १२६,
 १२७, १२८, १३०, १३१, १३३, १३४,
 १३५, १३६, १३७, १४०, १४१, १४३,
 १६१, १६५, १७५, १७८, १८१, १८३
- विष्णुपुराण—६८
 विष्णुरूपिन्—६८
 वीरभद्र—७६, ८०, ८२, १३०, १४५, १४६
 वृष—४, ६५
 वृषभ—४, ५, ६५, ८५, ८०, १०६, ११२, १२३
 वृषभमूर्तियाँ—२८
 वृषध्वज—६४, ८८
 वेताल—११३
 वेदांत-सिद्धांत—१०१
 वेवर—१
 वेम कैडफासिस—६०
 वैकृत—६८
 वैदिक साहित्य—३८
 व्रात—१६
 व्रातपति—१६
 व्रात्य—१०, ११
 व्रात्यस्तोम—१०
 संघोषिन्यः—४४
 संहिताओ—३६, ४३
 सकल निष्कल—१४५
 सत्यकामी—८
 सत्यवर्मा—१७७
 सदाशिव—८४
 सनकुमार—६८
 सभा—१६
 सभापति—१६
 सम्बन्दर—१४८
 सर्वदर्शनसंग्रह—१५३, १५७, १७१
 सर्वेश—६४
 सरआरेलस्टाइन—२८, २९
 सर जान मार्शल—२९
 सल्ला—२७
 सहस्राक्ष—१०, २१, ७०
 सहस्रपात्—२१
 सांख्य—६७, १२१, १२२, १६६, १६७

- सांगलोई—१४१
 सारनाथ—१६४
 सायणाचार्य—५,६
 सिद्धांतदीपिका—१६७
 सिन्धुमातरः—६
 सिंगासुरी—१८२
 सिम्पिंग—१८३
 सिवानी—१४०
 सुन्दरमूर्ति—१५१
 सुन्दरसेन—१५५
 सुवाहाण—४६
 सुक्त—१४,१६
 सूत्रग्रंथ—४७,४२,४६,६१,७२,८३,१२२,१२४
 सूर्य—५,६,७
 सेरमनपेश्वल—१५१
 सोम—१,४,१०२,१३२
 सोमारुद्र—४,१४,२०
 सौन्दरनन्द—८८
 सौरपुराण—१००,१०१,११०,११५,११६,
 ११७,११८,१२३,१२८,१३०,
 १३५,१३६,१३७,१३८
 स्त्रा—३६
 स्कन्द—८२,७५,८२,८५,८६,८८,८९,९५,
 ९६,१२७,१२८
 स्कन्दजन्म—८६,१२६,१४१
 स्कन्दगुप्त—८५,८६,१४१
 ख्वैवी—३५
 स्तायूनांपति—१६
 स्तूपलिंग—१८३
 स्तेनानांपति—१६
 स्मृति—६७
 स्वभयद—१७७
 स्वस्ति—४४
 स्वाहा—७५,७६
 स्वप्नेश्वर का शिलालेख—१४३
 स्वयंभू—६७,१८०
 शंकर—१६,४६,५५,४६,८६,१५६;१७०,
 १७१
 शंकर-विजय—१५५,१६१
 शंकराचार्य—१६६,१६६
 शंखधारिणी—४६
 शंभु—४२,८६,८६
 शंभुवर्मा—१७५
 शतपथब्राह्मण—८,२१,२३
 शतशद्रियस्तोत्र—१५,१६,४७,८८
 शतशद्रियसूक्त—४४,८४
 शर्व—१०,१५,४३,४५,१२४
 शर्वानी—४४
 शांख्यायन श्रौतसूत्र—४४,४५
 शाक्त—३३,१६१
 शाक्तमत—३४,११६,१६२
 शालकटकट—५०
 शिवसृष्टि—१७१
 शिवपल्ली—११५,१६८
 शिवपार्वतीपरिणय—१२६
 शिवप्रिया—१०२
 शिवभागवत—८५,१५२
 शिवोपासना—८६,७२,८०,८३
 शिवसहस्रनाम—१५३
 शिवलिंग—८८,१२४,१५६,१६०,१७८
 शिवज्ञानवोधम्—१७०
 शिश्नदेवाः—३१,३२
 शुभनिशुभ—८८,११७
 शूद्रक—८८,१३८
 शूल—७१
 शैवसिद्धांत—१६५
 श्वान—६
 श्वेताश्वतर उपनिषद्—३६,४०,४१,४२,४३
 ४३,५६,८६,८७,११५,१४६,१६५,
 १६६,१६८

भीच्छयर—१५१	हर्यर्धमूर्ति—१४५
श्री एन० एन० घोष—११	हर्षचरित—१४१, १४२
श्री भंडारकर—१, १५६	हर्षवद्धन—१४२
श्री वी० वी० रमन—१६७	हरितमुख—४५, ५१, १२३, १६३
श्री लेवी—१८४	हस्तिशिरः—१२४
श्री सारावारे—१६०	दुविष्क—६१
श्री सी० एल० फैब्टी—३०	हेटेरा—३५
श्री हरप्रसाद शास्त्री—१२	हेरम्ब—१६२
श्रुति—१३८, १६०, १६७	हौएट—११, १२
श्रुति ग्रन्थो—१२०	हूयूनसाँग—१४२, १५४, १५५
श्रौत—४६	क्षयदवीर—३
श्रौतसूत्र—४३, ४५	क्षार—६८
हर—६४	ज्ञानमयी शक्ति—१०१
हरिदगणपत्य—१६२	ज्ञान-शक्ति—१७२
हरिचर्मा—१४१	— — — — —

सहायक ग्रन्थ-सूची

[संस्कृत-ग्रन्थ]

(क) वैदिक साहित्यङ्क

१. ऋग्वेद संहिता	मैक्समुलर संस्करण, लन्दन, १८४६
२. अथर्ववेद संहिता	रौथ और हिटनी का संस्करण, बर्लिन, १८२४
३. तैत्तिरीय संहिता	आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज
४. काठक संहिता	श्रोडर का संस्करण, लाइप्जिंग, १८००
५. वाजसनेयि संहिता	वेवर का संस्करण, लन्दन, १८४६
६. एतरेय ब्राह्मण	आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज
७. कौशीतकी ब्राह्मण	" " "
८. तैत्तिरीय ब्राह्मण	" " "
९. तैत्तिरीय आराण्यक	" " "
१०. ताण्ड्य महाब्राह्मण	विबिलयोथिका इंडिका
११. शतपथ ब्राह्मण	वेवर का संस्करण, लन्दन, १८४६
१२. तलवकार ब्राह्मण	रामदेव दयानन्द महाविद्यालय संस्कृत सीरीज

(ख) उपनिषद्-साहित्य

१. छान्दोग्य उपनिषद्	लक्ष्मण शास्त्री का संस्करण, बम्बई, १८२७
२. वृहदाराण्यक	" " "
३. श्वेताश्वतर	" " "
४. केन	" " "
५. प्रश्न	" " "
६. मैत्रायणीय	" " "
७. कैवल्य	" " "
८. जावाल	" " "
९. नारायण	" " "
१०. दृसिंह तापनीय	" " "
११. अथर्वशिरस्	" " "

* निम्नलिखित संस्करणों के अतिरिक्त श्रीसातवलेकर संस्करण (ओौथ, सतारा; वि० सं० १९६८) का भी सहाय्य लिया गया है।

(ग) सूत्र-ग्रन्थ

१. शांखायन श्रौत सूत्र विलियोथिका हंडिका
२. लाट्यायन „ „ „ „
३. आश्वलायन „ „ „ „
४. आश्वलायन गृह्ण „ „
५. वौधायन „ „ शामशास्त्री का संस्करण, मैसूर, १६२०
६. मानव „ „ गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज़
७. निश्चितः यास्क लक्ष्मण सरूप का संस्करण, लन्दन, १६२७
८. अष्टाध्यायी : पाणिनि

(घ) रामायण-महाभारत

१. रामायण बम्बई संस्करण : निर्णय सागर प्रेस
२. „ गोरेसियो का संस्करण
३. महाभारत दक्षिण संस्करण : पी. पी. एस. शास्त्री, मद्रास, १६३२
४. „ „ कृष्णमाचार्य और व्यासाचार्य, बम्बई १६०६
५. „ उत्तर संस्करण : प्रतापचन्द्र राय, कलकत्ता, १८८४
६. „ भंडारकर रिसर्च इन्स्टट्यूट और चित्रशाला प्रेस, पूना

(च) शास्त्र-साहित्य

१. अर्थशास्त्र : कौटिल्य शामशास्त्री का संस्करण, मैसूर १६०६
२. मानव धर्मशास्त्र बम्बई संस्करण, १६२०
३. नाट्यशास्त्र : भरत आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज़
४. कामसूत्र : वात्यायन बनारस संस्करण, १८८३
५. महाभाष्य : पतंजलि कीलहार्न का संस्करण १८६२

(छ) काव्य-साहित्य

१. बुद्ध चरित : अश्वघोष कौवेल का संस्करण, आक्सफोर्ड, १८६३
२. सौन्दरनन्द : „ जान्स्टन का संस्करण, लन्दन, १६२८
३. मृच्छकटिक : शूद्रक निर्णय सागर प्रेस, बंबई
४. मालविकामिनि मित्रम् : कालिदास „ „
५. विक्रमोर्वशीयम् : „ „ „
६. अभिज्ञानशाकुन्तलम् : „ „ „
७. कुमारसंभवम् : „ „ „

८.	मेघदूतम्	:	कालिदास	निर्णयसागर प्रेस, बंबई
९.	रघुवंशम्	:	"	" "
१०.	दशकुमारचरितम्	:	दण्डी	काले का संस्करण, बंबई
११.	हर्षचरितम्	:	बाण मट्ट	" " "
१२.	कादम्बरी	:	"	" " "
१३.	मालती-माधव	:	भवभूति	" " "
१४.	किरातार्जुनीयम्	:	भारवि	निर्णय सागर प्रेस, बंबई
१५.	मत्तविलास	:	महेन्द्रविक्रम	
१६.	प्रबोधचन्द्रोदय	:	कृष्णमिश्र	

(ज) धार्मिक-साहित्य

१.	मणिमेखलाई	:	आंग्रेजी अनुवाद	एस. के. आर्यगर, लन्दन, १६२८
२.	तिश्वासगम्	:	मणिकक्वासगर	पोप का संस्करण
३.	शंकरविजय	:	आनन्दगिरि	विभिलयोथिका इंडिका
४.	शिवज्ञानबोधम्	:	मेयकण्ठदेवर	जे. एम. एन. पिले मद्रास, १८६०
५.	लिंगधारण-चन्द्रिका			एम. आर. सरवरी, बंबई, १६२८

(झ) पुराण-साहित्य

१.	अग्नि-पुराण	:	आनन्द आश्रम संस्कृत सीरीज	
२.	ब्रह्म	"	" "	"
३.	ब्रह्मवैवर्त	"	" "	"
४.	गणेश	"	" "	"
५.	मत्स्य	"	" "	"
६.	सौर	"	" "	"
७.	वायु	"	" "	"
८.	ब्रह्माण्ड	"	बंबई संस्करण, १६०६	
९.	गरुड़	"	सेकड़ बुक्स आफ द ईस्ट : भाग ६	
१०.	लिंग	"	वैकटेश्वर प्रेस, बंबई, १६२४	
११.	मार्कण्डेय	"	विभिलयोथिका इंडिका	
१२.	नीलमत	,	के. डी. ब्रीज का संस्करण, लीडन, १६३६	
१३.	वराह	,	विभिलयोथिका इंडिका	
१४.	विष्णु	,	जीवानन्द विद्यासागर का संस्करण, कलकत्ता, १८८२	

(ट) तंत्र साहित्य

१.	काली-तंत्र	कन्हैया लाल मिश्र का संस्करण, मुरादाबाद, १८०७
२.	कौलोपनिषद्	तांत्रिक टेक्स्ट्स्. ए. एवलौन
३.	कुलचूड़ामणि तंत्र	" " "
४.	कुलार्णव	" " "
५.	महानिवारण	" " "
६.	प्रपञ्चसार	" " "
७.	तंत्रराज	" " "
८.	तंत्राभिधान	" " "

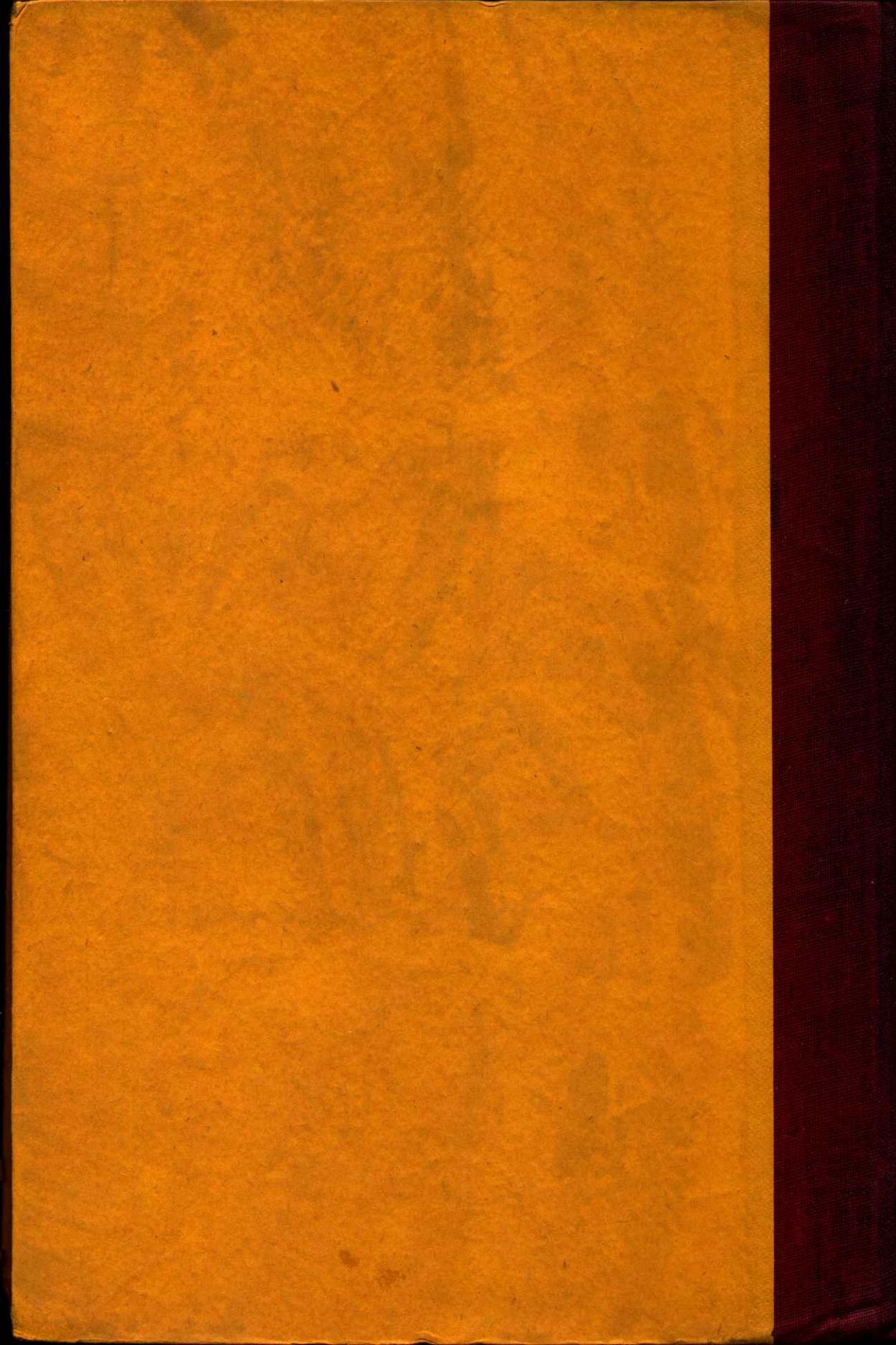
अंग्रेजी तथा अन्य सहायक ग्रन्थ

Arbamann.	Rudra
Avyar C. V. N.	Origin and Early History of Saivism in India.
Barnett L. D.	Heart of India.
Barnett. L. D.	Hindu Gods and Heroes.
Barth A.	Religions of India.
Bergaigne	Inscriptions Sanskrites du Campa et Cambodge.
Bhandarkar R. G. Sir	Vaisnavism, Sivism and Minor Religious System in India.
Bloomfield	Religion of the Veda.
Coedes	Inscriptions du Cambodge. Edites et Traduits.
Crooke	Religion and Folklore of North India.
Eliot C. Sir	Hinduism and Buddhism.
Elmore W. T.	Dravidian gods in modern Hinduism.
Farnell	Cults of the Greek States.
Gangooli	The Art of Java.
Getty, Alice	Ganesa.

Ghose, N. N.	Indo-Aryan Literature and Culture (Origins)
Hauer, J. W.	Der Vratya.
Herodotus	History. Translated into English by G. Rawlinson.
Hieun Tsang	Travels. Translated into English by S. Beal, Trubner's Oriental Series.
Hopkins J. W.	The Religions of India.
Howard C.	Sex Worship.
Jagdish Chandra Chattpadhyaya	Kashmir Saivism.
Jastrow M.	Religion of Babylonia and Assyria.
Jastrow M.....	Civilisation of Babylonia and Assyria
Kashinatha Sahaya.	Saktism.
Keith A. B.	Religion and Mythology of the Veda.
Kumaraswami	History of Indian and Indonesian Art.
Kumaraswami	Dance of Siva.
Levi. S.	Sanskrit Texts from Bali.
Lyall. A.	Natural Religion in India.
Macdonell A. A.	Vedic Mythology.
Mackay E.	Indus Civilisation
Marshall J. Sir	Mohenjodaro and the Indus Civilisation
Majumdar, R. C.	Suvarnadvipa
Max Muller, F.	Anthropological Religion.
Murdoch	The Religious Sects of the Hindus.
Muir	Original Sanskrit Texts.
Mallasvami Pillai	Studies in Saiva Siddhanta.
Payne E. A.	The Saktas.
Radhakrishnan S.	Indian Philosophy
Rao T.A G.	Hindu Iconography
Sivapada Sundaram	The Saiva School of Hinduism.
Pillai	
Slater G.	Dravidian Element in Indian Culture.
Stutterheim	Indian Influence on old Balinese Art.
Weber	Indische Studien
Whitehead	Village Gods of South India.

सहायक सामग्रिक पत्र

A. S. I.	Archaeological Survey of India.
C. I. I.	Corpus Inscriptionarum, Indicarum Vol. 111
Epig. Car	Epigraphica Carnatica.
E. I.	Epigraphica Indica.
E. R. E.	Encyclopaedia of Religion and Ethics.
Ind. Cul.	Indian Culture.
I. A.	Indian Antiquary.
J. R. A. S.	Journal of the Royal Asiatic Society. Memoirs of the Archaeological Survey of India.
O. B.	Oriental Bibliography.
S. D.	Siddhanta Dipika.





COLLECTION OF VARIOUS
→ HINDUISM SCRIPTURES
→ HINDU COMICS
→ AYURVEDA
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with
By
Avinash/Shashi

Icreator of
hinduism
server!



COLLECTION OF VARIOUS
→ HINDUISM SCRIPTURES
→ HINDU COMICS
→ AYURVEDA
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with
By

Avinash/Shashi

Icreator of
hinduism
server!

